हिन्दी - नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप

[१९०० – १९५० ई०]

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

●

निर्देशिका
डा० श्रीमती शशि अग्रवाल एम० ए०, डी० लिट्०
प्रवक्ता - हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

●

प्रस्तुतकर्त्री
श्रीमती उषा श्रीवास्तव

●

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

●

फरवरी, १९७५ ई०

आभार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध श्रद्धेया डा०(श्रीमती) शशि अग्रवाल के योग्य निर्देशन में लिखा गया है। शोध-कार्य प्रारम्भ करते समय ही आपने अत्यन्त सहृदयता एवं कुशलतापूर्वक शोध-प्रणाली के प्रत्येक चरण से अवगत कराया जिसके परिणामस्वरूप शोध-कार्य से नितान्त अपरिचित होते हुए भी मैं प्रस्तुत प्रबन्ध यथा समय पूर्ण करने में समर्थ हुई। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ तथा परिसमाप्ति पर आपने मूल्यवान निर्देश दिए तथा अध्याय पूर्ण होने पर उसको सतर्कतापूर्वक पढ़ा। आपके द्वारा प्रदत्त प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं सद्परामर्शों तथा मूल्यवान निर्देशों की मैं ऋणी हूं, अतः आपके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन पुस्तकालय तथा संग्रहालय और पब्लिक लाइब्रेरी द्वारा पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं देखने की जो सुविधाएं प्राप्त हुई, उसके लिए मैं उनके अध्यक्षों की ऋणी हूं तथा अपना आभार प्रदर्शित करती हूं।

अन्त में मैं उन समस्त नाटककारों तथा लेखकों के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करती हूं, जिनकी कृतियों से मुझे सहायता मिली है।

(उषा श्रीवास्तवा)

विषयानुक्रमणिका

-o-

हिन्दी नाटकों में भारतीय संस्कृति का

स्वरूप

(१९००ई० - १९५० ई०)

विषय	पृष्ठ संख्या
भूमिका	१ - १७

राजनैतिक परिस्थिति, सामाजिक परिस्थिति, धार्मिक परिस्थिति -- ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी, रामकृष्ण-मिशन, युगीन परिस्थितियां और नाटक ।

प्रथम अध्याय : संस्कृति	१८ -२०६

संस्कृति क्या है, संस्कृति जड़ है अथवा चेतन, संस्कृति और सभ्यता तथा समाज, संस्कृति और कल्चर, संस्कृति और कला, भारतीय संस्कृति, भारतीय संस्कृति का इतिहास -- प्रागैतिहासिक काल, पूर्व वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल, महाकाव्य काल, सूत्रों का काल, धार्मिक आन्दोलनों का काल, मौर्यकाल, सातवाहन काल, गुप्त काल, मध्यकाल(पूर्वार्द्ध), मध्यकाल (उत्तरार्द्ध), आधुनिक युग, भारतीय संस्कृति के निर्धारित तत्व -- प्राचीनता, मृत्युंजयता, लक्ष्ययुक्त जीवन, समन्वयवादिता, सर्वांगीणता, अनेकता में एकता की भावना, चिरस्थायित्व, आध्यात्मिकता, गतिशीलता, अमृतत्व या मोक्ष, धर्म की प्रधानता, देवपरायणता, आश्रम व्यवस्था, कर्मफल तथा पुनर्जन्म, वर्ण व्यवस्था, अनासक्त कर्मयोग, लोक - कल्याण, परलोक में विश्वास, तप, एकता की भावना, त्याग, उदारता, ग्रहणशीलता, सांस्कृतिक एकता, भारतीय संस्कृति और

विषय | पृष्ठसंख्या

धर्म--पूर्ववैदिक धर्म, वैदिक धर्म, उपनिषद् धर्म, महाभारतीय धर्म या भागवत धर्म, पौराणिक धर्म, वैष्णव धर्म, शैव धर्म, शाक्त धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, पुनर्जन्म और कर्मवाद, मोक्ष की कल्पना, भारतीय संस्कृति और दर्शन-- ऋग्वेद दर्शन, उपनिषद् दर्शन, गीता दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, सांख्यदर्शन, योग दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, मीमांसा दर्शन, पूर्व मीमांसा, वेदान्त दर्शन (उत्तर मीमांसा), अद्वैत वेदान्त, विशिष्टाद्वैत या ईश्वरवाद, आश्रम व्यवस्था-- ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम-- पंचमहायज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूत यज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ, संस्कार-- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह-- ब्राह्मविवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्राजापत्य विवाह, असुर विवाह, गान्धर्व विवाह, राक्षस - विवाह, पैशाच विवाह, गार्हपत्य संस्कार, वानप्रस्थाश्रम संस्कार, संन्यासाश्रम संस्कार, अन्त्येष्टि संस्कार, यमनियम, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, वानप्रस्थाश्रम, सन्यासाश्रम, वर्ण एवं जाति--वर्णानुसार जाति, कर्मानुसार जाति, जन्मानुसार जाति, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियों की दशा ।

द्वितीय अध्याय : नाटक | १०७-२२६

नाटक की उत्पत्ति, नाटक का महत्व, नाटकों का वर्गीकरण, रंगमंच, संस्कृत साहित्य में नाट्य-साहित्य की परम्परा, संस्कृत नाटक, हिन्दी नाट्य साहित्य का स्वरूप एवं विकास, हिन्दी-नाटक, पूर्व भारतेन्दु युग, भारतेन्दुयुग, भारतेन्दुयुग के अन्य नाटककार, सन्धियुग, प्रसाद युग, आधुनिक युग, संस्कृत नाट्यशास्त्र और हिन्दी नाटक, नाटकों के अभाव के कारण, हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव---स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद, स्वाभाविकतावाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, पूर्व प्रसाद नाटकों पर पाश्चात्य

विषय | पृष्ठसंख्या

प्रभाव, प्रसादयुगीन नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, प्रसादोत्तर नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, हिन्दी एकांकी, एकांकी का विकास, एकांकी की विशेषता, एकांकी का वर्गीकरण, रेडियोनाटक ।

तृतीय अध्याय : प्रसाद पूर्व नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप — २२७-२८६

आत्मा का स्वरूप, ब्रह्म तथा माया का स्वरूप, जीवन की नश्वरता, नियति, अनासक्त कर्मयोग, कर्मफल तथा पुनर्जन्म, स्वर्ग-नर्क की कल्पना, मोक्ष, मोहमाया का त्याग, धर्म पर विश्वास, धार्मिक सामंजस्य, अभेद की भावना, संसार ईश्वर-मय है, अहिंसा तथा जीवरक्षा, दया तथा परोपकार, सत्य के प्रति निष्ठा, क्षमा तथा नम्रता, अतिथि सत्कार तथा शरणागत रक्षा, ईश्वर पर विश्वास, पतिव्रत धर्म तथा स्त्री का आदर्श, स्वामिभक्ति, पितृ भक्ति तथा मातृभक्ति, कर्त्तव्य बोध, नीति, प्रजापालन, देशभक्ति तथा वीरता, आश्रम व्यवस्था तथा वर्णव्यवस्था ।

चतुर्थ अध्याय : प्रसादयुगीन नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप — २९०-३७०

मोहमाया का त्याग, ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या, आत्मा की अमरता, जीवन की नश्वरता, नियति, अनासक्त कर्मयोग, कर्मफल तथा पुनर्जन्म, स्वर्ग नर्क की कल्पना, मोक्ष, धर्म पर विश्वास, धार्मिक समन्वय, चित्तवृत्ति का निरोध, संसार दुःखमय है, अहिंसा तथा जीवरक्षा, संसार ईश्वरमय है, विश्वमैत्री तथा समता, अभेद की भावना, परोपकार तथा दया, उदारता त्याग और दान, धैर्य तथा सच्चरित्रता, सन्तोष, क्षमा, सत्य के प्रति निष्ठा, अतिथि सत्कार तथा शरणागत रक्षा, ईश्वर पर विश्वास, पतिव्रत धर्म,

विषय पृष्ठसंख्या

स्त्री का स्थान, पितृभक्ति, स्वामिभक्ति,कर्त्तव्यपराय-
णता, वर्ण व्यवस्था, संस्कार, कृतज्ञता, नीति और
आदर्श, प्रजापालन, देशभक्ति तथा वीरता ।

पंचम अध्याय : प्रसादोत्तर नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप ३७१-३९७

आत्मा का स्वरूप, जीवन की नश्वरता, नियति, अनासक्त
कर्मयोग, कर्मफल तथा पुनर्जन्म, स्वर्ग नर्क की कल्पना,
मोक्ष, धार्मिक सामंजस्य तथा समन्वय, संसार दु:खमय है,
सन्तोष, अहिंसा, क्षमा, धैर्य तथा सच्चरित्रता,नीति,
त्याग, शरणागत रक्षा, ईश्वर पर विश्वास,पतिव्रत धर्म,
नारी का महत्व, पितृभक्ति तथा मातृभक्ति,कर्त्तव्यपराय-
णता तथा स्वामिभक्ति, प्रजापालन, देशभक्ति ।

षष्ठ अध्याय : एकांकी नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप ३९८-४२३

ब्रह्म सत्य जगत्मिथ्या, आत्मा का स्वरूप, मोहमाया का
त्याग, जीवन की नश्वरता, नियति, कर्मफल तथा पुनर्जन्म,
संसार ईश्वरमय है, विश्वमैत्री तथा समता की भावना, अभेद
की भावना, दया तथा परोपकार, क्षमा, उदारता तथा
त्याग, ईश्वर पर विश्वास, स्वामिभक्ति, मातृभक्ति,
कर्त्तव्य परायणता, पतिव्रत धर्म, आदर्श तथा नीति,वर्ण-
व्यवस्था ।

परिशिष्ट ४२४-४४७

(१) नाट्य कृतियों की सूची
(२) आलोचनात्मक पुस्तकों की सूची
(३) संस्कृत ग्रन्थों की सूची
(४) अंग्रेजी पुस्तकों की सूची
(५) पत्र-पत्रिकाएं

भूमिका

आलोच्यकाल की युगीन परिस्थितियां

राजनैतिक परिस्थिति

हिन्दी-नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप ज्ञात करने के लिए तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति का ज्ञान अपेक्षित है । सभ्यता, कला, कौशल, शिक्षा, वैभव एवं सम्पत्ति प्रत्येक दृष्टि से विश्व में भारत का अत्यन्त गौरवपूर्ण और उच्च स्थान रहा है । भारत की इस समृद्धि से आकर्षित होकर समय-समय पर अनेक विदेशी जातियां इसकी आर्थिक स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न करती रहीं । अंग्रेजों से पूर्व पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी भारत आये और मुसलमानों की उदारता के कारण भारत में व्यापार की अनुमति प्राप्त करने में सफल हुए । अंग्रेज, जहांगीर के शासनकाल में भारत आये और उन्होंने बम्बई, मद्रास एवं कलकत्ता में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये । उन्होंने राजनीति में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया तथा अपनी कूट-नीति द्वारा भारतीय-नरेशों के बीच विग्रह उत्पन्न करके अपनी स्थिति को दृढ़ किया । सन् १७०७ में औरंगजेब की मृत्यु के कारण मुगल साम्राज्य की पतनोन्मुख अवस्था का लाभ उठा कर अंग्रेजों ने भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया । सन् १७५७ में हुए सिराजुद्दौला से युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों ने बंगाल पर पूर्णत: अधिकार कर लिया और भारतवासियों पर अमानुषिक अत्याचार करने लगे । सन् १७६१ में हैदरअली ने अपना राज्य स्थापित किया और सन् १७६४ में सिक्ख-शक्ति का उदय हुआ । अंग्रेजों ने मराठों, हैदरअली, टीपू सुल्तान, सिक्खों एवं गोरखों से युद्ध किया । सन् १७६४ में बक्सर-युद्ध के पश्चात् अवध भी अंग्रेजों के अधीन हो गया ।

इस राजनैतिक दुरावस्था का प्रभाव आर्थिक व्यवस्था पर भी पड़ा। राबर्ट क्लाइव ने अपनी कूटनीति द्वारा भारत का असीम धन बटोरा। विदेशी वस्तुओं के उत्तरोत्तर प्रचार के कारण धन विदेश जाने लगा। आर्थिक पतन के कारण नैतिक पतन होने लगा। इस प्रकार अंग्रेज शनैः शनैः भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुए। सन् १८४६ में द्वितीय सिक्ख-युद्ध के उपरान्त भारत पर अंग्रेजों का पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो गया। देशी राजाओं ने पूर्णतः अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली। देशी राज्यों की शासन प्रणाली इतनी अशक्त हो गई थी कि अंग्रेजों की सुदृढ़ सैन्य-शक्ति से मोर्चा लेने की शक्ति उनमें नहीं थी। जो राजा थे भी उनके राज्य छीने जा रहे थे,अतः सभी चिंतित थे। लार्ड डलहौजी की नीति से सर्वत्र असन्तोष व्याप्त हो गया था। प्रभुता के उन्माद में अंग्रेज, भारतवासियों को असभ्य और बर्बर समझ कर उन्हें हेय दृष्टि से देखने लगे थे। अंग्रेजों के साथ ही ईसाई मिशनरी भी भारत आई। कम्पनी सरकार ने इनका पूर्ण विरोध किया,परन्तु इनके उत्साह में कमी नहीं आई और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत में इस धर्म का अधिकाधिक प्रचार हो गया था। इनके द्वारा किये हिन्दू धर्म पर उचित-अनुचित आक्षेप तथा अत्याचार बढ़ने लगे थे। ईसाई पादरियों द्वारा किये गये अत्याचारों के कारण भारतीय उन्हें अपना धर्म-विरोधी समझने लगे थे। अंग्रेजों के सुधारवादी प्रयासों को भारतीय अपने धर्म तथा संस्कृति पर कुठाराघात समझ कर उसकी अवहेलना करने लगे। सेना में भी उच्छृंखलता का समावेश हो गया। परिणामतः भारत के राजनैतिक गगन-मण्डल को विद्रोह की कालिमा ने आच्छादित कर लिया। भारत में अंग्रेजों का भविष्य अन्धकारमय ज्ञात होने लगा। सन् १८८५ में उन्होंने इस विद्रोह को येन-केन-प्रकारेण शान्त किया। तदनन्तर भारतवर्ष एक राजनीतिक सत्ता के अन्तर्गत पूर्ण रूप से इंगलैण्ड द्वारा शासित होने लगा।

सौ वर्षों के अंग्रेजों के शासनकाल में भारतीयों को अन्याय,अत्याचार,क्रूरता और अमानवीय कृत्यों को सहन करना पड़ा। अंग्रेजों द्वारा पीड़ित जनता उनसे मुक्ति के लिए व्याकुल थी। राजनीतिक,

सामाजिक,धार्मिक सभी क्षेत्रों में भारतीय जनता का अहित हुआ था,अत: जनता में विद्रोह की अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही थी । इसका विस्फोट सन् १८५७ की क्रान्ति के रूप में हुआ । भारतीयों को तुच्छ तथा पतित समझने एवं उनसे कम वेतन में अधिक काम लेने के कारण अंग्रेजों के प्रति घृणा की भावना तथा असन्तोष की भावना का उदय हो रहा था । सैनिकों में भी घृणा एवं असन्तोष व्याप्त हो रहा था । चर्बी वाले कारतूसों ने घृणा की अग्नि को प्रज्ज्वलित करने में घृत का कार्य किया । परिणामत: जातिगत तथा धर्मगत भेद-भाव को विस्मृत कर भारतीय संयुक्त होकर अंग्रेजों के विरुद्ध मोर्चाबन्दी करने लगे । भारत को दासता की बेड़ियों से मुक्त करने के लिए दृढ़ संकल्प भारतीयों ने १०मई,१८५७ई० को मेरठ-सैनिकों के माध्यम से क्रान्ति का वास्तविक प्रारम्भ किया ।कला तथा साहित्य में जातीय जीवन की अभिव्यंजना होती है,अत: इस क्रान्ति से साहित्य भी प्रभावित हुए बिना न रह सका । विभिन्न साहित्यिक विधाओं ने भी इस क्रान्ति में सहयोग प्रदान किया ।

अंग्रेजों के अमानुषिक अत्याचारों के विरुद्ध जनमानस आक्रोश से परिपूर्ण था । ऐसे समय कुछ जागरूक नेताओं तथा स्वतंत्रताकांक्षी महापुरुषों ने इस पराधीनता के विरुद्ध क्रान्ति की । जनता जो प्रथम ही क्षुब्ध हो रही थी, वह समुचित दिशा-निर्देश प्राप्त कर विद्रोह कर उठी । तत्कालीन साहित्यकार साहित्य को विविध विधाओं द्वारा जन-मानस में परतन्त्रता के विरुद्ध जागृति उत्पन्न करने में प्रयत्नशील थे । अपने अतीत के स्मरण और उसकी वर्तमान से तुलना कर भारतीय जनता और अधिक क्षुब्ध तथा उत्तेजित हो रही थी । अंग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह की भावना क्रमश: उग्रतर रूप धारण करने लगी । बंग भंग आन्दोलन ने उनमें नवीन जागृति उत्पन्न की । इसी वर्ष मुस्लिम लीग की स्थापना हुई । सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध के समय अंग्रेजों को भारतीय शक्ति एवं धन की आवश्यकता का अनुभव हुआ, अत: उन्होंने भारत से सहायता की याचना की । परन्तु गांधी जी की कांग्रेस ने इसका विरोध किया । परिणामत: विजयोपरान्त अंग्रेजों ने जलियांवाला बाग क हत्याकाण्ड जैसा नृशंस कार्य किया,जिससे उत्तेजित हो

राजनीतिक आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया ।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् गान्धी जी के नेतृत्व में जनता को इस क्रान्ति को सांस्कृतिक आधार प्राप्त हुआ, क्योंकि गांधी जी का विचार था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पवित्र ध्येय को सत्य और अहिंसा के अवलम्ब द्वारा पूर्ण करना चाहिए न कि मिथ्या और क्रूरता से । असहयोग आन्दोलन द्वारा गान्धी जी ने अंग्रेजों के बहिष्कार की योजना बनाई । नमक-आन्दोलन ने अंग्रेजी शासक वर्ग को आतंकित कर दिया । समय का लाभ उठा कर अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता की विष ज्वाला प्रज्ज्वलित की । इस अग्नि ने हिन्दु-मुस्लिम साम्प्रदायिक उपद्रव को जन्म दिया तथा देश के बड़े-बड़े स्थानों -- दिल्ली, कलकत्ता, इलाहाबाद आदि को अपने चपेट में ले लिया । गान्धी जी ने इन साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान की चेष्टा की । इसके लिए आपने सांस्कृतिक विचारधारा का व्यापक प्रचार किया । आपका धार्मिक दृष्टिकोण केवल वेद-वेदान्त और गीता पर ही आधारित नहीं था, वरन् इसमें बाइबिल एवं कुरान के ग्राह्य तत्व भी सम्मिलित थे । सन् १९३२ में गान्धी जी ने हरिजन उद्धार का व्रत लिया । सन् १९३४ में समाजवादी दल ने विदेशी शासन से भारत की स्वतन्त्रता का ध्येय अपनाया ।

सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ और ८ अगस्त, १९४२ में `भारत छोड़ो` आन्दोलन का समारम्भ हुआ । १९४५ई० में युद्ध समाप्त हो गया । अंग्रेजों की कूट-नीति के परिणामस्वरूप मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान की मांग की गई और १४ अगस्त, १९४७ई० को भारत विभाजित हो गया । जिस भारतमाता को दासता के अभिशाप से मुक्त करने के लिए उनके सपूतों ने अपने प्राणों की आहुति दी, कालान्तर में आपसी द्वेष के कारण अपनी उसी माँ के शरीर को दो टुकड़ों में विभाजित कर डाला । इस प्रकार असीम त्याग और बलिदान के पश्चात् अन्तत: भारतवर्ष दासता के बन्धन से मुक्त हो गया ।

सामाजिक परिस्थिति

तत्कालीन युग में समाज दासता के अभिशाप से ग्रस्त था । समाज में सर्वत्र कुण्ठा, क्रान्ति, विद्रोह एवं सामाजिक वैषम्य व्याप्त था । समाज ईर्ष्या, द्वेष तथा वैमनस्य की अग्नि में जल रहा था । समाज का नृशंस शोषण हो रहा था । अंग्रेजों की इस शोषण नीति के कारण सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो रही थी । दीन, दु:खी जनता आर्थिक संघर्ष में लिप्त थी । आर्थिक दशा इतनी शोचनीय हो गई थी कि जीवनयापन भी कठिन हो रहा था । कुछ अल्पसंख्यक भारतीय जिन्हें सरकारी नौकरी तथा सुविधाएं प्राप्त थीं वे भी अंग्रेजों की शोषण नीति को सहन नहीं कर सके ।यन्त्रों के आविष्कार के कारण उद्योग-धन्धे बन्द हो गये । बेकार मजदूर खेती का कार्य करने लगे, परन्तु वहां भी उत्तरोत्तर किसानों की बढ़ती संख्या तथा लगातार उपज के कारण पृथ्वी की उर्वरा शक्ति नष्ट हो गई । इसके अतिरिक्त अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि ने भी अपना प्रकोप दिखाया। परिणामत: देश निर्धन हो गया और देशवासी भूखों मरने लगे । आर्थिक पतन ने समाज की नींव को खोखला कर दिया । परिणामत: समाज में अनेक कुप्रथाओं का प्रचलन हुआ । प्राचीन रूढ़ियों तथा कुप्रथाओं ने समाज की उन्नति को पंगु बना दिया । अशिक्षा भी इसके लिए अभिशाप सिद्ध हुआ । दहेज प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, जात-पांत, छुआ-छूत तथा अन्धविश्वासों से समाज आक्रान्त हो गया । समाज में नैतिकता का ह्रास हो गया था, फलत: ईर्ष्या-द्वेष, भोग-विलास आदि दुर्गुणों का प्रादुर्भाव हो रहा था । इस प्रकार समाज उत्तरोत्तर अध:पतन की दिशा में अग्रसर हो रहा था । समाज के इस पतन का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा । आधुनिक नाटककारों का हृदय समाज की इस दुरवस्था को देख द्रवित हो उठा । उन्होंने अपने नाटकों द्वारा इन अनर्थों, दुर्भावनाओं एवं समस्याओं से पूर्ण समाज में आमूल परिवर्तन लाने की चेष्टा की । शिक्षा की उन्नति ने भी इसमें पर्याप्त सहयोग प्रदान किया ।

प्राचीनकाल से भारत उच्च शिक्षा का केन्द्र था । मुगल काल में भी हिन्दुओं तथा मुसलमानों की शिक्षा पण्डितों तथा मौलवियों

द्वारा प्रदान की जाती थी, जो धार्मिक शिक्षा होती थी । स्त्री-शिक्षा का अन्त तो मुगलकाल में हो गया था, जो थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त भी होती थी, वह अंग्रेजों के आगमन से समाप्त हो गयी । अब अंग्रेजी - शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार प्रारम्भ हुआ । यद्यपि अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त शिक्षा नये-नये विचारों को जन्म देकर सामाजिक उन्नति में सहायक सिद्ध हो रही थी, तथापि धर्म विरुद्ध होने के कारण भारतीय धर्म तथा संस्कृति के लिए घातक थी । फिर भी भारतीयों ने इस शिक्षा के प्रचार में सहयोग दिया । इससे महत्वपूर्ण लाभ यह हुआ कि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क ने नवीन चेतना तथा स्फूर्ति जागृत की तथा सामाजिक सुधार का मार्ग प्रशस्त हुआ । शिक्षित जनता अपने धर्म तथा संस्कृति के सम्पर्क में आयी और पाश्चात्य संस्कृति से उसकी तुलना कर अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता पर गर्वित होने में सक्षम हुई । ऐसे समय साहित्यकारों ने विभिन्न साहित्यिक विधाओं द्वारा पाश्चात्य प्रभाव से दिग्भ्रमित जनता को हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के सम्पर्क में लाने की आवश्यकता अनुभव की । मनोरंजन का साधन होने के कारण नाटक इसमें विशेष सफल रहा ।

धार्मिक परिस्थिति

भारतवर्ष में नवीन जागृति सर्वप्रथम धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में ही उत्पन्न हुई । ऐसे समय राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द सदृश महापुरुषों ने देश के दुर्भाग्य की कालिमा को दूर कर नवीन चेतना का दिव्य प्रकाश प्रदान किया ।

चिरकाल से अंग्रेजों की दासता में रहने के कारण भारतीय अपनी संस्कृति को विस्मृत कर बैठे थे । धार्मिक जीवन अशक्त हो गया था । हिन्दू धर्म में अनेक बाह्याडम्बर, विभिन्न ढकोसले, जाति-पांत, भेद-भाव, तथा धार्मिक वैमनस्य की अधिकता हो गई थी, जो हिन्दू धर्म के लिए अभिशाप सिद्ध हो रही थी । ओग ईश्वर को, मन्दिरों, मस्जिदों तथा

गिरजाघरों में बन्द कर उन पर धार्मिकता की मुहर लगा कर उसे भिन्न-भिन्न मान कर आपस में युद्ध करने लगे थे । समाज में बहुदेववाद का प्रचलन था । सभी अपने-अपने इष्ट की विभिन्न रीतियों से आराधना करते थे । वर्ण व्यवस्था तथा ऊँच-नीच की भावना ने समाज को दूषित कर रखा था । उच्च वर्ण ने मन्दिरों पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया था और निम्न वर्ण के लोगों को मन्दिर में जाने का निषेध कर दिया था । धार्मिक तथा सामाजिक विषमता से पूर्ण भारत में धर्म तथा संस्कृति की स्थापना के लिए विभिन्न सामाजिक संस्थाओं तथा धार्मिक आन्दोलनों ने नवीन चेतना जागृत करने का स्तुत्य कार्य किया । इन विभिन्न सामाजिक संस्थाओं में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसायटी प्रमुख हैं ।

ब्रह्म समाज

राजा राममोहन राय ने सन् १८२८ में बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना की । उस समाज ने सम्पूर्ण जाति और वर्ण के लोगों को समस्त भेद-भाव विस्मृत कर ईश्वर-आराधना का मार्ग दिखाया । इसके आह्वान पर अनेक नर-नारी समस्त विषमताओं को तिलांजलि दे कर इसकी छत्र छाया में एकत्र हो गये । हिन्दू धर्म और संस्कृति के उत्थान का यह प्रथम सशक्त प्रयास सिद्ध हुआ । ब्रह्मसमाज तत्कालीन समाज में नवीन धार्मिक चेतना के प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित हुआ । इसके प्रमुख सिद्धान्त थे :--

(१) मूर्तिपूजा का विरोध ।
(२) समस्त धर्मों के सत्य तथा ग्राह्य को ग्रहण करने की प्रवृत्ति ।
(३) आत्मा की अमरता में विश्वास ।
(४) कर्मफल पर विश्वास ।
(५) एक ईश्वर में विश्वास ।
(६) अभेद की भावना ।

गिरजाघरों में बन्द कर उन पर धार्मिकता की मुहर लगा कर उसे भिन्न-भिन्न मान कर आपस में युद्ध करने लगे थे । समाज में बहुदेववाद का प्रचलन था । सभी अपने-अपने इष्ट की विभिन्न रीतियों से आराधना करते थे । वर्ण व्यवस्था तथा ऊँच-नीच की भावना ने समाज को दूषित कर रखा था । उच्च वर्ण ने मन्दिरों पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया था और निम्न वर्ण के लोगों को मन्दिर में जाने का निषेध कर दिया था । धार्मिक तथा सामाजिक विषमता से पूर्ण भारत में धर्म तथा संस्कृति की स्थापना के लिए विभिन्न सामाजिक संस्थाओं तथा धार्मिक आन्दोलनों ने नवीन चेतना जागृत करने का स्तुत्य कार्य किया । इन विभिन्न सामाजिक संस्थाओं में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसायटी प्रमुख हैं ।

ब्रह्म समाज

राजा राममोहन राय ने सन् १८२८ में बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना की । इस समाज ने सम्पूर्ण जाति और वर्ण के लोगों को समस्त भेद-भाव विस्मृत कर ईश्वर-आराधना का मार्ग दिखाया । इसके आह्वान पर अनेक नर-नारी समस्त विषमताओं को तिलांजलि दे कर इसकी छत्र छाया में एकत्र हो गये । हिन्दू धर्म और संस्कृति के उत्थान का यह प्रथम सशक्त प्रयास सिद्ध हुआ । ब्रह्मसमाज तत्कालीन समाज में नवीन धार्मिक चेतना के प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित हुआ । इसके प्रमुख सिद्धान्त थे :--

(१) मूर्तिपूजा का विरोध ।
(२) समस्त धर्मों के सत्य तथा ग्राह्य को ग्रहण करने की प्रवृत्ति ।
(३) आत्मा की अमरता में विश्वास ।
(४) कर्मफल पर विश्वास ।
(५) एक ईश्वर में विश्वास ।
(६) अभेद की भावना ।

मानव मात्र को ईश्वरांश मान कर उनके प्रति सहृदयता तथा प्रेमभाव रखना इसका प्रमुख सिद्धान्त था ।

आर्य समाज

आर्य समाज को स्थापना का श्रेय श्री दयानन्द सरस्वती को है । सन् १८७५ में आपने इसकी स्थापना की । जिस समय आर्य समाज की स्थापना हुई, उस समय तक भारत में धर्म की ज्योति क्षीण हो गयी थी और इस क्षीणप्राय संस्कृति को पाश्चात्य धार्मिक प्रवृत्ति पूर्णत: नष्ट करने में सचेष्ट थी । ऐसे समय आर्य संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए आर्य समाज की स्थापना हुई । इसमें पाश्चात्य धर्म का विरोध तथा आर्य-धर्म के प्रति आसक्ति और वेदों के प्रति आस्था व्यक्त की गई । इसके प्रमुख नियम थे --

(१) ईश्वर में आस्था । ईश्वर ही सत्य है तथा समस्त विधाओं का मूल है ।
(२) ईश्वर की भक्ति ।
(३) वेदों को आर्य धर्म का मूल मानना । इसमें वेदों के पठन-पाठन का निर्देश किया गया ।
(४) सत्य के प्रति निष्ठा ।
(५) अविद्या का नाश अर्थात् अविद्या द्वारा उत्पन्न मोह, माया, मत्सर आदि का नाश ।
(६) समता की भावना ।
(७) सामाजिक हित के लिए सचेष्ट रहना ।

इसके अतिरिक्त इस संस्था ने अछूतोद्धार , बाल विवाह निषेध, विधवा विवाह प्रचार आदि सुधारवादी कार्य भी किए । इसका आधार पूर्णत: भारतीय था, अत: इसका प्रचार एवं प्रसार अधिक हुआ । आर्य समाज ने वर्ण-भेद का पर्याप्त विरोध किया । स्वामी दयानन्द जी ने जन्म के स्थान पर कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । ~~जाति के आधार~~ ~~पर कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । जाति के आधार पर किये गये~~

निकृष्ट समझने की प्रवृत्ति तथा भेद-भाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया । मूर्ति-पूजा तथा अनेक ईश्वरवाद के स्थान पर एकेश्वरवाद की स्थापना का प्रयत्न किया गया । भारतवासियों ने बड़ी संख्या में इस धर्म को ग्रहण किया । आर्य समाज ने बहुत से हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई धर्म ग्रहण करने से रोका । जिन अल्पसंख्यक लोगों ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था, उन्होंने पुन: हिन्दु धर्म स्वीकार कर लिया । इस प्रकार आर्य समाज ने शुद्ध वैदिक धर्म का प्रचार किया ।

थियोसोफिकल सोसायटी

सन् १८७५ में ब्लैवट्स्की ने अमेरिका के नगर न्यूयार्क में सर्वप्रथम थियोसोफिकल सोसायटी की नींव डाली । भारत में इसका प्रचार सन् १८९३ में एनीबेसेण्ट ने किया । इस सोसायटी ने भारतीय गरिमा तथा प्राचीन धर्म का गुणगान किया । प्राचीन हिन्दु धर्म और संस्कृति के मुख्य तत्वों और विशेषताओं के गौरवमय स्वरूप को सामने रखकर इस संस्था ने विदेशी सभ्यता से प्रभावित लोगों को अपनी सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता की ओर देखने को बाध्य किया । परिणामत: जन-मानस में अपनी संस्कृति के प्रति अनुराग तथा गर्व का भाव उत्पन्न हुआ ।

रामकृष्ण मिशन

स्वामी विवेकानन्द ने गुरु रामकृष्ण परमहंस की शिक्षाओं के प्रसार एवं प्रचार के लिए सन् १९०१ई० में `रामकृष्ण मिशन` की स्थापना की । इसके माध्यम से देश की धार्मिक असहिष्णुता, विषमता, आदि को दूर करने का प्रयास किया गया । इस मिशन ने हिन्दु जनता में नवजागरण का सन्देश दिया तथा आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान का पथ प्रशस्त किया । स्वामी विवेकानन्द ने भारत में ही नहीं, प्रत्युत विदेश में भी वेदों तथा उपनिषदों में प्राप्त आत्मज्ञान का सन्देश दिया । इस मिशन की मुख्य शिक्षा है --

(१) अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानना ।

(२) आत्मा की अमरता में विश्वास करना ।

(३) ईश्वर को सर्वज्ञ,सर्वव्यापी तथा निराकार मानना ।

(४) हिन्दू संस्कृति की प्राचीनता पर विश्वास करना ।

(५) पाश्चात्य सभ्यता की अवहेलना तथा भारतीय-
संस्कृति का प्रतिपालन करना ।

इस प्रकार विभिन्न धार्मिक संस्थाओं द्वारा हिन्दू जाति तथा धर्म में नवीन जागृति उत्पन्न हुई ।

हिन्दू - धर्म के अनुसार चार पुरुषार्थों-- धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष में धर्म को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । विदेशी प्रभाव स्वरूप सर्वश्रेष्ठ धर्म,पतनोन्मुख होने लगा था,अत: समाज का नैतिक पतन होना स्वाभाविक ही था । ब्राह्मण अपने निर्धारित कर्तव्यों-- पठन-पाठन,दान देना, दान लेना, सब की भलाई में दत्तचित्त रहना आदि भूल कर केवल दान लेने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगे थे । प्राचीन भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ मानने के कारण तत्कालीन अज्ञानी जनता नेत्रहीनों की भांति ब्राह्मणों के निर्देशों पर चल कर अन्ध परंपराओं, तथा रूढ़ियों का अनुसरण कर रही थी । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कुप्रथाएं -- जैसे, सती प्रथा, नरबलि, पशुबलि, नशीली वस्तुओं का सेवन, खान-पान में प्रतिबन्ध, समुद्र यात्रा करने पर जाति से बहिष्कार, आदि धर्मसम्मत मानी जाती थी । इसके अतिरिक्त बहुविवाह, विधवा विवाह निषेध,स्त्रियों की हीन दशा, धार्मिक असहिष्णुता, साम्प्रदायिकता आदि दुर्गुण भी समाज में पनप रहे थे । धार्मिक कट्टरता से ग्रस्त तथा इन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में जकड़ी जनता अपने त्राण के लिए ईसाई धर्म अपना रही था । समाज द्वारा उपेक्षित तथा निष्कासित लोगों का ईसाई धर्म की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक भी था । ईसाई धर्म में दीक्षित होने के लिए उन्हें आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती थी ।

ऐसी परिस्थिति में उपनिषद् तथा गीता धर्म की स्थापना भारतीयों के लिए परम हितकर सिद्ध हुई,क्योंकि इस समय उन्हें गीता के कर्मयोग की अत्यन्त आवश्यकता थी । ईश्वर को सर्वव्यापी मानने के कारण उसका अस्तित्व मन्दिरों,मस्जिदों और गिरजाघरों में न ढूढ़ कर दु:खियों की भोपड़ी में ढूढ़ा जाने लगा । नवीन शिक्षा तथा आंदोलनों के परिणामस्वरूप भारतीय जनता ने पुन: अपने धर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया । धार्मिक चेतना के फलस्वरूप समाज में प्रचलित रूढ़ियों तथा कुप्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । नर-बलि द्वारा चण्डिका,चामुण्डा और काली देवी की उपासना का निषेध किया गया । इसके अतिरिक्त कन्या के जन्म के साथ ही उसकी हत्या करना, वंश-वृद्धि के लिए अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र को गंगा सागर में समर्पित करना, पति की मृत्यु के बाद पत्नी का जलती चिता में दाह करना आदि नृशंस कृत्यों का पर्याप्त विरोध किया गया । इस प्रकार धर्म के नाम पर किये जाने वाले पाप कर्मों का अन्त हो गया और हिन्दु धर्म अपने उज्ज्वल रूप में पुन: प्रतिष्ठित हुआ ।

नवीन जागृति के फलस्वरूप जातीय भावना से शून्य भारतीयों में अपने धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न हुई । धार्मिक चेतना ने असहिष्णुता तथा रूढ़िवादिता का विरोध किया । भारतीयों ने अपने धर्म की श्रेष्ठता से प्रभावित हो ईसाई धर्म को तिलांजलि दे दी । उनमें अपने धर्म, जाति एवं संस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई । दूसरे धर्मों केके ग्राह्य तत्व को ग्रहण करने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप धार्मिक सह सहिष्णुता तथा धार्मिक एकता की भावना का उद्रेक हुआ । इस नवीन जागृति तथा धार्मिक चेतना के फलस्वरूप हिन्दी नाटकों में भी जागृति उत्पन्न हुई । उन्होंने हिन्दु धर्म तथा संस्कृति की उन्नति में पूर्ण सहयोग दिया ।

समाज में नारी की हीनावस्था, समाज की तत्कालीन दुरवस्था की द्योतक है । समाज में प्रचलित अनेक कुप्रथाओं तथा रूढ़ियों से त्रस्त नारी की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ । नारी समाज की अर्धांग है और अर्धांग के पतित रहने से समाज की उन्नति सम्भव नहीं ।

फलत: नारी-शिक्षा तथा नारी जागरण का अभ्युदय हुआ । हिन्दी नाटककारों ने भी इससे प्रभावित होकर बाल विवाह, सती प्रथा, मद्यपान एवं अशिक्षा आदि के कुपरिणामों का अपने नाटकों द्वारा दिग्दर्शन कराया तथा उनके निषेध का प्रयत्न किया । वर्ण व्यवस्था में सुधार के कारण अस्पृश्यता तथा भेदभाव की भावना का निराकरण हुआ । सभी वर्णों तथा जाति के लोगों में एकता स्थापित करने का सराहनीय कार्य सम्पन्न हुआ ।

युगीन परिस्थितियां और नाटक

जहां विद्रोह होता है, वहां परिवर्तन भी अवश्य होता है । भारत में सदा से अनेक प्रकार के उथल-पुथल होते रहे हैं, अत: यहां सदैव परिवर्तन भी होता रहा है । विभिन्न सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा, क्योंकि साहित्यकार भी सामाजिक प्राणी होता है, अतएव इन परिवर्तनों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है । प्रत्येक युग के साहित्य में तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब विद्यमान रहता है । प्राचीन युग में मुगल साम्राज्य की दासता और शोषण से त्रस्त जनता के दु:ख का प्रतिबिम्ब उस युग के साहित्य में परिलक्षित होता है । दु:ख का वेग जितना ही तीव्र होता है, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होती है । अनेक वर्षों की दासता से कुंठित जन-मानस में तीव्र विद्रोह की भावना व्यक्त हुई । विदेशी शासन द्वारा शासित देश में अनेक रूढ़ियां, कुरीतियां, सामाजिक असमानता, अमानवीय कृत्य, अशिक्षा, हीनता की भावना का उदय होना स्वाभाविक है, परन्तु इससे भी अधिक स्वाभाविक है, उसकी प्रतिक्रिया । भारत में भी इस सामाजिक कुष्ट के प्रति तीव्र विद्रोह उत्पन्न हुआ, जिसकी प्रतिक्रिया तत्कालीन साहित्य में स्पष्टरूप से प्रतिध्वनित हुई । जन-मानस में सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना जागृत करने के लिए नाटक को अधिक उपयुक्त समझा गया, क्योंकि इसे सभी वर्ग, सभी जाति, शिक्षित-अशिक्षित, अबालवृद्ध सभी देख कर ग्रहण कर सकते हैं । मनोरंजन का साधन

होने के कारण इधर जनसाधारण को रुचि भो अधिक आकर्षित को जा सकती है और इनके द्वारा समाज -सुधार का पुनीत कार्य सम्पादित किया जा सकता है ।

सामाजिक-सुधार के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम सांस्कृतिक तथा धार्मिक सुधार को ओर ध्यान दिया जाय । इसीलिए सर्वप्रथम सांस्कृतिक तथा धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए,तदनन्तर सामाजिक एवं राजनैतिक । आधुनिक युग में सांस्कृतिक चेतना का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से होता है । सांस्कृतिक चेतना जागृत करने में नाटकों ने विशेष सहयोग प्रदान किया । भारतेन्दु जो ने अपने नाटकों द्वारा यह स्तुत्य कार्य सम्पन्न किया । इस युग के नाटककारों ने भारतीय समाज एवं संस्कृति को अपने नाटकों का विषय बनाया । इन नाटकों द्वारा भारत के विगत का स्मरण करा कर अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया । उस समय समाज में दो वर्ग के लोग थे -- एक तो वे,जो पाश्चात्य सभ्यता को हो सर्वस्व मान बैठे थे तथा दूसरे, वे जो भारतीय प्राचीन मान्यताओं के अतिरिक्त कुछ भो सोचने अथवा समझने में असमर्थ थे । भारतेन्दु जो ने इन दोनों का समन्वय किया । आपका विचार था कि पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण करना तथा उनके ग्राह्य तत्वों को स्वीकार करना श्रेयस्कर है,परन्तु अपनी संस्कृति को तिलांजलि देना उचित नहीं है । उन्होंने अपने नाटकों द्वारा अपने इस विचार को साकार किया । इस युग के अन्य नाटककारों ने भी भारतेन्दु द्वारा प्रतिपादित समन्वयवाद को अपनाया । उन्होंने आर्थिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में तो पाश्चात्य सभ्यता को अपनाया,परन्तु धार्मिक क्षेत्र में पूर्णत: अपनी संस्कृति को अपनाया और उसका स्वतन्त्र रूप से चित्रण किया । फलत: इस युग के नाटकों में भारतीय संस्कृति तथा धर्म का जागृत रूप सर्वत्र प्राप्त होता है ।

पूर्व प्रसाद-युग में भारतेन्दु द्वारा प्रतिष्ठित भारतीय संस्कृति के उत्थान तथा सामाजिक सुधार के कार्य को आगे बढ़ाया गया । इस युग के नाटकों में नारी के उत्थान को भावना मुख्यरूप से परिलक्षित होती है । नारी की दुरवस्था के चित्रण के साथ हो प्राचीन नारी के

गौरवमय स्वरूप का वर्णन कर नारी जागृति का प्रयत्न किया गया । चिरकाल से उपेक्षित नारी वर्ग के प्रति नाटककारों को विशेष सहानुभूति रही है,फलत: नारी-समस्याओं को नाटक में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ । नारी की इस शोचनीय अवस्था का उत्तरदायित्व तत्कालीन सामाजिक कुप्रथाओं पर भी था । इस कारण इनको नाटक द्वारा जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया गया तथा उनके सुधार की चेष्टा की गयी । बाल-विवाह कन्या-विक्रय, मद्यपान, वृद्ध-विवाह आदि विषय पर अनेक नाटक लिखे गये । जमनादास मेहरा का 'कन्या विक्रय' इसी प्रकार का नाटक है । देश-प्रेम तथा राष्ट्र-प्रेम से परिपूर्ण नाटक लिख कर राजनैतिक जागृति का महान कार्य भी सम्पादित किया गया ।

यद्यपि अनेक संस्थाओं तथा साहित्यिक प्रयत्नों द्वारा नवीन जागृति उत्पन्न हुई,तथापि अनेक कुप्रथायें अब भी विद्यमान थीं । उस समय तक धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी ।अपनी संस्कृति के प्रति अनन्य आस्था के कारण प्रसाद जी ~~उन्होंने~~ इसे पुन: प्रतिष्ठित करने का संकल्प किया । भारतेन्दु द्वारा पुनर्जीवित भारतीय संस्कृति को पूर्णत: प्रतिष्ठित होने का यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ । भारतवर्ष का स्वर्णिम अतीत उस युग की सांस्कृतिक चेतना के अभ्युदय का प्रेरणा स्रोत बना । वर्तमान सांस्कृतिक विपन्नावस्था से खिन्न होकर तत्कालीन नाटककार समुन्नत अतीत में गोता लगा कर तल में डूबी हुई सांस्कृतिक मुक्ता को पुन: ऊपर लाने का प्रयत्न करने लगे । वर्तमान की विभीषिका से संतप्त मानव हृदय में को अतीत की शीतलता शान्ति प्रदान करने में सफल हुई । सांस्कृतिक भावना से ओत-प्रोत नाटककारों ने जिन नाटकों का प्रणयन किया,उसमें धर्म ग्रन्थों, सन्त-चरित्रों और इतिहास के स्वर्णिम युग का चित्रण किया,जिसके द्वारा भारत के अतीतकालीन नैतिक,सामाजिक,सांस्कृतिक एवं शैक्षिक आदर्श को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया । यह अतीतकालीन गौरव भविष्य को समुन्नत करने की प्रेरणा प्रदान करता है । इस युग के नाटकों में अतीत से

प्रेरणा ग्रहण कर वर्तमान को सुधारने तथा भविष्य को समुज्ज्वल बनाने की भावना परिलक्षित होती है। अतीतकालीन भव्य सांस्कृतिक विशेषताओं ने वर्तमान अवस्था को सुदृढ़ तथा समुन्नत बनाने में पर्याप्त सहायता प्रदान की। फलत: हिन्दू जाति में अपनी संस्कृति के प्रति आसक्ति उत्पन्न हुई। इस युग में नाटककारों ने भारत की अतीतकालीन सांस्कृतिक समृद्धि, ऋषि-मुनियों द्वारा प्रसारित और प्रचारित धर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों को नाटक का विषय बनाया, जिसके माध्यम से आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा सांस्कृतिक उन्नति की प्रेरणा प्रदान की।

प्रसाद का नारी विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त उदार है। आधुनिककाल में 'कामायनी' जैसा महाकाव्य इसका प्रतीक है। प्रसाद के नाटकों की नारी त्याग, क्षमा, दया, ममता और महानता की प्रतीक है। देवसेना, कल्याणी, मालविका आदि के चरित्र इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्रसाद जी ने नारी को विश्वास का प्रतीक तथा श्रद्धा का पात्र माना। नारी को समाज में सम्मानित स्थान प्रदान कराने के लिए उसके त्याग, धैर्य, क्षमता, ममता आदि गुणों की प्रशंसा द्वारा उसे सब की दृष्टि में श्रद्धेय बनाने का प्रयत्न किया गया।

इस युग के नाटकों द्वारा धार्मिक सामंजस्य का स्तुत्य कार्य किया गया। इस युग के अधिकांश नाटकों में हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा बौद्ध धर्म के समन्वय की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। आर्य संस्कृति की स्थापना के लिए अन्य धर्मों पर इसकी श्रेष्ठता स्थापित की गई। लक्ष्मी-नारायण मिश्र के नाटकों में आर्य तथा अनार्य संस्कृति एवं हिन्दू और बौद्ध धर्मों के समन्वय का प्रयत्न किया गया। आपने सर्वत्र आर्य संस्कृति और हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए अनार्य संस्कृति पर आर्य संस्कृति की और बौद्ध धर्म पर हिन्दू धर्म की विजय दिखाई। आपके नाटक 'गरुडध्वज' 'नारद की वीणा', 'वत्सराज' आदि में धार्मिक समन्वय की भावना दृष्टिगत होती है।

इस प्रकार प्रसादयुगीन नाटकों के माध्यम से हिन्दू धर्म तथा संस्कृति का देदीप्यमान स्वरूप प्रस्तुत किया गया, जिससे पाश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध से अर्धमीलित जन-नेत्र को दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ । ब्राह्मण धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए ब्राह्मण धर्म की शाश्वत झांकी दिखायी गयी तथा क्षात्र धर्म का उन्नत रूप चित्रित किया गया । भारतीय संस्कृति के गौरवशाली रूप की अवतारणा हेतु मानवता का सहारा लिया गया, फलत: नाटकों में सत्य, अहिंसा, सच्चरित्रता, सत्यता, त्याग, दान, क्षमा, उदारता, परोपकार आदि गुणों का समावेश हुआ । हिन्दू धर्म तथा दर्शन द्वारा प्रतिपादित भारतीय नीति तथा आदर्शों के साथ दार्शनिकता का उल्लेख कर भारतीय संस्कृति के गौरव को पुन: प्रतिष्ठित किया गया । इस युग के अन्य नाटककारों ने भी इसमें पर्याप्त सहयोग प्रदान किया । इस प्रकार इस युग के नाटकों ने सामाजिक उन्नति के साथ ही भारतीय धर्म तथा नैतिकता का स्तर ऊंचा करने का सराहनीय कार्य किया ।

देशभक्ति तथा देश-प्रेम के नाटकों का भी प्रणयन हुआ। इस युग के अधिकांश नाटकों में देश-प्रेम की भावना का चित्रण हुआ, जिससे जनता में अपने देश के प्रति प्रेम-भाव जागृत हुआ । इस प्रकार विदेशी शासन के प्रति विद्रोह तथा अनास्था की भावना जागृत करने में सफलता प्राप्त हुई । इस युग में अधिकांशत: ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई, जिसमें देश-प्रेम और देशभक्ति का गौरवपूर्ण रूप प्रस्तुत किया गया, फलत: देशप्रेम की पुनीत भावना ने उन्हें विदेशी दासता से मुक्ति पाने का अदम्य साहस प्रदान किया । `चन्द्रगुप्त`, `स्कन्दगुप्त`, `प्रताप नाटक`, `अजित सिंह`, `रक्षाबंधन` `उद्धार` आदि नाटक इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

प्रसादोत्तर युगीन नाटकों में समाजसुधार वादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त भारतीय धर्म तथा संस्कृति की उन्नति का ध्येय सर्वदा प्रमुख रखा गया । इस युग में सामाजिक कुरीतियों तथा समस्याओं के उन्मूलन के साथ उनका मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया गया ।

सामाजिक संघर्ष, वर्ग संघर्ष तथा व्यक्तिगत संघर्ष की और ध्यान आकृष्ट हुआ, फलत: उनके मनोवैज्ञानिक समाधान द्वारा उनमें आमूल परिवर्तन का सराहनीय प्रयत्न किया गया । प्रसाद द्वारा प्रतिपादित भारतीय संस्कृति के उन्नयन का कार्य प्रसादोत्तर युग में भी उसी गति से गतिमान रहा । आधुनिक युग के नाटक धर्म, दर्शन और मानवता से आप्लावित हो जनमानस को भारतीय संस्कृति के दिव्य प्रकाश से आलोकित करने में समर्थ हुए ।

इससे यह ज्ञात होता है कि युगीन परिस्थितियाँ साहित्य को सदा प्रभावित करती रहती हैं । नाटक भी इन प्रभावों से अछूते न रह सके, अत: इन नाटकों द्वारा तत्कालीन समाज धर्म और संस्कृति का ज्ञान होता है । तत्कालीन समाज ने नाटकों पर गहरा प्रभाव डाला जो युगीन नाटकों में परिलक्षित होता है ।

-0-

प्रथम अध्याय

-0-

संस्कृति

संस्कृति क्या है ?

संस्कृति जीवन-शोधन की कला अथवा मानव जीवन का संशोधित ढंग है[1]। 'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है -- संस्कार करना, अर्थात् शुद्ध और परिमार्जित करना। इस प्रकार समाज तथा व्यक्ति की सुधरी हुई स्थिति को 'संस्कृति' के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य संस्कारहीन था, तत्पश्चात् वह अपने को अनेक प्रतिबन्धों में बद्ध कर और उचित - अनुचित का अन्तर जान कर, उचित का ग्रहण और अनुचित के त्याग द्वारा सुसंस्कृत बनने का प्रयास करने लगा। विभिन्न सामाजिक नियमों तथा आचारों के प्रतिपालन द्वारा वह सुन्दर से सुन्दरतम बनता गया, अर्थात् अपना संस्कार करता गया और अपने आचरण को शुद्ध करता गया। उसका यह संस्कार तथा शुद्ध किया गया आचरण संस्कृति कहलाया। किसी मनुष्य द्वारा उसके शरीर और मन को शुद्ध कर लेने तथा व्यवहार को परिमार्जित कर लेने पर ही उसे सुसंस्कृत कह सकते हैं। भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में -- 'व्यक्ति रूप में शरीर और मन को शुद्ध कर, एक ओर व्यक्तिगत विकास, दूसरी ओर उसका समूह में, शिष्ट आचरण, समाज के प्रति उचित व्यापार उसे संस्कृत बनाता है[2]।'

---

१ 'भारतीय संस्कृति' : डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, पृ०४

मनुष्य का केवल बाह्य आचरण ही संस्कृति के अंतर्गत नहीं आता, वरन् उसका सम्बन्ध आन्तरिक गुणों से भी होना आवश्यक है। मनुष्य की अन्तर्प्रवृत्तियों से संचालित गतिविधियाँ संस्कृत कही जा सकती हैं। 'मानव जीवन की सम्पूर्ण गतिविधियों का संचालन अन्तर्वृत्तियों की जिस समष्टि द्वारा होता है तथा जिसके अपनाने से वह सच्चे अर्थों में मनुष्य बनने की दिशा में अग्रसर होता है, उसे संस्कृति कहते हैं[1]।'

संस्कृति का मूलतत्व मानवता है। अतः सुसंस्कृत बनने के लिए मानवता के गुणों का विकास अनिवार्य है। मनुष्य में मानवता के गुणों के विकास के लिए जो पद्धति प्रयुक्त की जाती है, उसे संस्कृति कहते हैं। 'जिस प्रकार पेड़ पौधों को सुविकसित करके अच्छी खेती तैयार की जाती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्यों में भी मानवता को पल्लवित करने के लिए जो पद्धति काम में लायी जाती है, उसे संस्कृति कहा जा सकता है[2]।'

किसी भी देश अथवा काल में समाज एवं व्यक्ति में मानवता को प्रस्फुटित करने वाले विभिन्न तत्वों को अथवा जिन तत्वों से मानवता के विकास को प्रेरणा प्राप्त हो, उसे संस्कृति कहते हैं। मानवता-रहित तत्व संस्कृति के अन्तर्गत नहीं आते हैं।' .... किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए[3]।'

संस्कृति का प्रभाव मानव के व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं, वरन् सामाजिक जीवन में भी परिलक्षित होता है। व्यक्तिगत जीवन में किया गया आदर्श तथा नैतिक कार्य, जिसका समाज पर स्वस्थ तथा अमिट प्रभाव पड़ता

---

१ 'मध्यकालीन हिन्दी काव्यों में भारतीय संस्कृति' : मदनगोपाल गुप्त, पृ०१

२ वही, पृ०३

३ 'भारतीय संस्कृति का विकास' (वैदिक धारा) : डा० मंगलदेव शास्त्री, प्रथम संस्करण, १९५६ई०, पृ० ४

है, संस्कृति कहा जाता है । `मनुष्य के जिस कार्य से समस्त समाज पर कोई अमिट छाप पड़े वही स्थायी प्रभाव संस्कृति है न कि मानव का प्रत्येक कार्य या विचार[१] ।`

मानव का परिमार्जित, संशोधित,शुद्ध तथा शिष्ट आचरण, जो उसे पवित्रता की ओर अग्रसर करने वाला हो, संस्कृति के अन्तर्गत आता है । `संस्कृति शब्द में परिमार्जन या परिष्कार के अतिरिक्त शिष्टता और सौजन्य के भावों का भी अन्तर्भाव का समावेश हो जाता है[२] ।`

संस्कृति द्वारा अन्तर्मन का विकास होता है । संस्कृति हमारे विवेक को उचित दिशा-निर्देश कर उचित का ग्रहण तथा अनुचित का त्याग करना सिखाती है । `संस्कृति एक संश्लिष्ट तथा समाहारात्मक ( Synthetic )विशेषता है,जो कभी घटती ती है ही नहीं । सच बात यह है कि संस्कृति ही हमारे विवेक की संचालिका शक्ति है,जो अच्छाई-बुराई का हमें ज्ञान तथा निर्देश करती कराती है[3] ।`

कुछ विद्वानों ने संस्कृति का सम्बन्ध केवल इहलौकिक जीवन से माना है, जब कि अन्य ने संस्कृति के अन्तर्गत लौकिक,पारलौकिक, भौतिक,आधिभौतिक सभी प्रकार की उन्नति का अन्तर्भाव माना है ।संस्कृति को इहलौकिक जीवन से सम्बन्धित मानने वाले विद्वानों में रामजी उपाध्याय का नाम उल्लेखनीय है । आपके अनुसार संस्कृति का सम्बन्ध बुद्धि तथा अभिरुचि से है । `मानव ने जो प्रगति की है उसके मूल में बुद्धि और सौन्दर्य की अभिरुचि है । सुन्दर बनने, सुधारने या पूर्ण बनाने का प्रयत्न मनुष्य की बुद्धि और सौन्दर्य भावना के विकास का परिचय देता है । मानव का यही विकास संस्कृति है । संस्कृति का मौलिक अर्थ सुधारना, सुन्दर या पूर्ण बनाना है[४] ।` परन्तु करपात्री जी ने संस्कृति के अन्तर्गत लौकिक,पारलौकिक

---

१ `कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित भारतीय संस्कृति` : डा० गायत्री वर्मा पृ०२

२ `भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता` : प्रसन्नकुमार आचार्य,पूर्वाभास,पृ०१

३ `[illegible] संस्कृति` [illegible],पृ०२

४०३`भारतीय संस्कृति के मूल तत्व` : डा० सत्यनारायण पाण्डेय,डा०आर० बी०जोशी,पृ०३

आध्यात्मिक सभी प्रकार की क्रियाओं का अन्तर्भाव माना है । आपके अनुसार --`लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय मन,बुद्धि, अहंकारादि की भूषण-भूत सम्यक् चेष्टाएं एवं हलचलें ही संस्कृति हैं ।[1]`

भौतिक, आधिभौतिक, लौकिक अथवा पारलौकिक उन्नति के लिए प्रयुक्त सभी कर्म संस्कृति नहीं कहे जा सकते हैं,क्योंकि मानव की कृति भी दो प्रकार की होती है-- सुकृति तथा कुकृति ।संस्कृति के अन्तर्गत मानव की सुकृति का ही समावेश हो सकता है,कुकृति का नहीं, क्योंकि संस्कृति द्वारा मानव का उत्थान होता है पतन नहीं । सुकृति मानव के अभ्युदय की द्योतिका है,अत: `संस्कृति के अन्तर्गत वे सभी कर्म आते हैं,जिन कर्मों द्वारा मनुष्य जीवन में उन्नति करता है,जिनके द्वारा वह शान्ति प्राप्त करता है तथा जो उसके भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होता है । जिनके द्वारा लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय होता है ।[2]` डा० सत्यनारायण पाण्डेय और डा० आर०बी० जोशी ने भी मानव के कृतित्व के आदर्श रूप को ही संस्कृति के अन्तर्गत रखा है । आपके अनुसार --`संस्कृति शब्द मानवीय कृतित्व के आदर्श रूप की उपस्थापना है । संस्कृति के बाह्य प्रदर्शन तक ही इसकी सीमा नहीं है अभ्यान्तर विचार, प्रभाव, कल्पनाएं तथा भावनायें ये सब संस्कृति के अंग हैं ।[3]`

संस्कृति मानव जीवन को प्रक्षालित कर उसे सुन्दर बनाने में सहायक होती है । संस्कृति द्वारा मानवीय गुणों का विकास होता है, जो मानव के व्यवहार को सुन्दर से सुन्दरतम बनाता है और उसकी आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक उन्नति में सहायक होता है । जो

---

१ `कल्याण` : हिन्दू संस्कृति अंक,पृ०३५

२ `कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित भारतीय संस्कृति` : डा० गायत्री वर्मा, पृ०३

३ `भारतीय संस्कृति के मूल तत्व` : डा० सत्यनारायण पाण्डेय,डा०

कार्य मनुष्य को पतन की ओर उन्मुख करते हैं अथवा मानव के विकास में बाधक होते हैं अथवा मानवता का हनन करने वाले होते हैं, वे संस्कृति के अन्तर्गत नहीं आते हैं। इस प्रकार 'संस्कृति का तत्व वह तत्व हुआ जिससे मानव जीवन सज उठे। यदि कोई तत्व किसी समय उसको सजाने के बदले बिगाड़ रहा हो तो वह उस समय की संस्कृति का तत्व न कहा जायेगा भले ही अन्य समय वह भी संस्कृति का एक तत्व रहा हो या रह सके[१]।"

इस प्रकार संस्कृति का अर्थ हुआ मानव की वह सुकृतित्व जो आध्यात्मिक,भौतिक,लौकिक, पारलौकिक उन्नति में सहायक हो तथा जो बौद्धिक और मानसिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करे। मानव की वह कृति जो उसे अपवित्रता तथा अशुद्धि की ओर से हटा कर पवित्रता तथा शुद्धि की ओर ले जाती है, जो शिष्ट और शुद्ध हो तथा शान्तिदायिनी हो, संस्कृति कही जायेगी। मानव द्वारा किया गया शिष्ट एवं परिमार्जित कार्य जो अन्तर्वृत्तियों द्वारा संचालित होता है और जो मानवता के विकास को प्रेरणा प्रदान कर समाज पर अमिट चिह्न अंकित करता है, संस्कृति है। मानव की उन्नति में सहायक उसका परिमार्जित तथा परिष्कृत मानवतापूर्ण व्यवहार ही संस्कृति के अन्तर्गत आता है।

संस्कृति जड़ है अथवा चेतन

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है और परिवर्तन ही जीवन है। जड़ता का दूसरा नाम मृत्यु है। यदि परिवर्तन का नियम न होता तो संसार की प्रगति असम्भव थी। प्रगति का मूल स्रोत परिवर्तन है। नवीनता की उत्कट इच्छा ही सभ्यता एवं संस्कृति को उच्च शिखर पर पहुंचाने वाला सोपान है। परिवर्तन तथा परिवर्धन के गुण के कारण ही

---

१ 'भारतीय संस्कृति' : बलदेव प्रसाद मिश्र, पृ०३

संस्कृति में जड़ता नहीं आने पाती । संस्कृति जीवन की स्थायी व्यवस्था है, परन्तु इसका निरन्तर विकास होता रहता है । नयी पीढ़ी जो संस्कृति विरासत में पाती है,उसमें ही नयी संस्कृति सम्बद्ध होती चलती है और इस प्रकार उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है । कुछ समय के लिए भले ही वह क्षीण हो जाय अथवा नयी संस्कृति इतनी अधिक प्रभावशाली हो जाय कि पुरानी संस्कृति दब जाय, पर वह नि:शेष कभी नहीं होती,वरन् सदा विद्यमान रहती है । नयी संस्कृति के सम्पर्क में आने से पुरानी संस्कृति के अनुपयोगी तत्व धीरे-धीरे लुप्त होते जाते हैं और उपयोगी तत्व क्रमश: उसमें जुड़ते जाते हैं । यह क्रिया धीरे-धीरे सम्पन्न होती है,जिसका आभास भी नहीं मिलता और हम पाते हैं कि संस्कृति पहले से अधिक विकसित हो चुकी है ।

प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति होती है जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होती है । बाबू गुलाबराय के शब्दों में --' भिन्न भिन्न देशों के वातावरण के कारण भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृति भिन्न-भिन्न होती है । यद्यपि सभी संस्कृतियों का मूल आधार मानवता है । इसे मानते हुए भी कहना पड़ता है कि संस्कृति देश विशेष की उपज होती है, उसका संबंध देश के भौतिक वातावरण और उसमें पालित, पोषित एवं परिवर्द्धित विचारों से होता है[1] ।' एक ही जलवायु में रहने वाले तथा एक सी राजनीतिक और सामाजिक हलचलों को भोगने वाले लोगों का आचार-विचार तथा अनुभूति एक-सी होती है,अत: उनकी संस्कृति भी एक सी होती है । यही कारण है कि भिन्न-भिन्न स्थानों की संस्कृति भिन्न होती है । भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के समन्वय के फलस्वरूप संस्कृति में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव होता रहता है ।

संस्कृति लकड़ी पत्थर की तरह एक निश्चल पदार्थ नहीं है वरन् यह बहती हुई ऐसी अक्षुण्ण धारा है,जिसमें सदा कुछ-न-कुछ नवीन

---

१ 'भारतीय संस्कृति की रूपरेखा' : बाबू गुलाबराय,पृ०२

अंश जुड़ता रहता है और कुछ-न-कुछ लुप्त होता रहता है। अनेक लोगों के आचार, विचार और संस्कृति के सम्पर्क में आने से उनके संस्कार प्रथम संस्कार से सम्बद्ध होते रहते हैं और उनका रूप परिवर्तित होता रहता है तथा उसका संशोधन एवं संवर्धन भी होता रहता है। निरन्तर विकासशील होने के कारण ही संस्कृति में नवीनता प्राप्त होती है।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृति चेतन तत्व है जो निरन्तर विकसित होती रहती है। युग-परिवर्तन के साथ-साथ उस युग की मान्यताएं आदर्श तथा मापदण्ड भी परिवर्तित होते रहते हैं। यद्यपि संस्कृति का मूल आधार सुरक्षित रहता है परन्तु उनमें युगीन परिवर्तन सदैव होते रहते हैं। एक युग की मान्यता दूसरे युग में अमान्य हो जाती है। अत: पुरातन मान्यताओं का त्याग कर नवीन मान्यताएं ग्रहण कर ली जाती हैं। जब प्राचीन मानदण्ड नवीन समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ हो जाते हैं तब नवीन मानदण्ड स्थापित किये जाते हैं। प्राचीनता को तिरस्कृत करके ही नवीनता की स्थापना की जाती है। जो प्राचीन नवीन के मार्ग में बाधा बनती है वह त्याज्य है और जो प्राचीनता नवीन को प्रेरणा प्रदान करती है वह स्तुत्य है। इस प्रकार युग के साथ परिवर्तित होने तथा प्राचीन मान्यताओं के स्थान पर नवीन मान्यताओं को ग्रहण करने वाली संस्कृति चेतन कही जायेगी न कि जड़। अत: संस्कृति स्थायी जीवन-व्यवस्था होते हुए भी चेतनतत्व है।

संस्कृति और सभ्यता तथा समाज

बहुधा सभ्यता और संस्कृति को समानार्थक समझा जाता है और इनका प्रयोग भी इसी अर्थ में किया जाता है। बाह्य दृष्टि में दोनों में अन्तर नहीं समझा जाता, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से देखें तो दोनों में पर्याप्त अन्तर है। सभ्यता लौकिक तथा बौद्धिक उन्नति से और संस्कृति पारलौकिक तथा मानसिक उन्नति से सम्बन्ध रखती है। डाक्टर मदनगोपाल गुप्त ने इस सम्बन्ध में लिखा है --' दीर्घकाल तक दोनों शब्द

व्युत्पत्ति तथा अवधारणा दोनों ही दृष्टिकोणों से एक ही अर्थ के परिचायक बने रहे, जिसके कारण ~~बीसवीं~~ बीसवीं शती के आरम्भ तक उनके बीच कोई सीमा-रेखा न खींची जा सकी।[१] बाद में विद्वानों का ध्यान इस भेद की ओर गया और इनकी अलग-अलग व्याख्या की जाने लगी।

मानव-सभ्यता और संस्कृति का विकास शनैः शनैः हुआ। प्रारम्भ में मानव जंगली था, शिकार तथा वृक्षों के फलों से अपनी क्षुधा शांत करता था और वस्त्र के स्थान पर पेड़ की छाल का प्रयोग करता था, तदुपरांत धीरे-धीरे अन्न का उत्पादन और सूती तथा रेशमी वस्त्रों का निर्माण करना सीख गया। जंगलों और खोहों के स्थान पर वह फूस की झोपड़ियों में रहने लगा। सर्वप्रथम वह अकेले रहता था, परन्तु बाद में वह समूह में रहने लगा। इस प्रकार क्रमशः परिवार-प्रथा का प्रारम्भ हुआ और सामाजिकता की भावना उत्पन्न हुई। डा० मदनगोपाल गुप्त के अनुसार "वनचारी जीवन से समाज की ओर बढ़ने की विकास स्थिति सभ्यता है।[२]"

पहले वर्षा, सूर्य, वायु आदि की प्रचण्ड शक्ति से मानव भयभीत होता था, पर कालान्तर में वह उनका उपयोग करने लगा और उसे अपनी सुख-सुविधा और उन्नति का साधन बनाने लगा। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के शब्दों में --" प्रकृति द्वारा प्रदत्त पदार्थों तत्वों और शक्तियों का उपयोग कर मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की है, उसी को हम सभ्यता कहते हैं।[३]"

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर उसमें अनेक गुणों का प्रादुर्भाव होता है, जिसमें सभ्यता भी एक गुण है। प्रत्येक सभ्य मनुष्य को समाज द्वारा निर्धारित कुछ नियमों और शिष्टाचारों का पालन करना पड़ता है। इन्हीं नियमों और शिष्टाचारों को सभ्यता का नाम दिया जाता है

---

१ 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति' : डा०मदनगोपाल गुप्त, प्रथम संस्करण, पृ०३४

२ वही, पृ०३४

अर्थात् समाज में रहने और उचित व्यवहार द्वारा सामाजिक विधि निषेधों का पालन करने का नाम सभ्यता है । 'व्यक्ति के सभा या समाज के प्रति व्यवहार तथा समस्त समाज के भी एक-दूसरे के प्रति व्यवहार तथा आचरण सभ्यता की ओर संकेत करते हैं।[१]' भगवतशरण उपाध्याय ने भी इस बात की पुष्टि की है । आपके शब्दों में --' सभा में बैठने की समझ रखने वाला या उसमें बैठने वाला सभ्य कहलाता है और सभ्य का उचित व्यवहार,सभावालों समझ का व्यवहार 'सभ्यता' है।[२]'

मानव व्यवहार के दो पक्ष हैं-- एक उसके व्यक्तिगत जीवन से संबंधित है,दूसरा समाज से । समाज के प्रति किया गया व्यवहार सभ्यता से सम्बन्धित है । प्रसन्न कुमार आचार्य के अनुसार --'सभ्यता शब्द शिष्टाचार के नियमों के साथ ही सामाजिक उत्तरदायित्व,सामाजिक प्रतिबंध सामाजिक आचरण का भी निर्देश करता है।[३]'

सभ्यता द्वारा मनुष्य के बाह्य आचरण का ज्ञान होता है । उसके आन्तरिक गुण-अवगुण सभ्यता की परिधि से परे है । हृदय क में कलुष होते हुए भी कोई व्यक्ति यदि समाज में उठने-बैठने तथा व्यवहार करने में पटु है तो वह सभ्य कहा जायेगा । 'किसी समाज की सांस्कृतिक अवस्था और सभ्यता का ठीक निर्णय करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके पारि-वारिक ,सामाजिक, राजनीतिक,धार्मिक और कला विषयक कार्यों का परीक्षण किया जाय।[४]'

सभ्यता सामाजिक उत्कर्ष को कहते हैं । इससे उत्तरोत्तर मनुष्य तथा समाज की उन्नति होती है तथा सुख-समृद्धि भी प्राप्त होती है । आज मानव समाज की जो उन्नत अवस्था है वह सभ्यता का ही परिणाम है।

---

१ 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति' : डा०मदनगोपाल गुप्त, प्रथम संस्करण,पृ०३५ ।

२ 'सांस्कृतिक भारत' : भगवतशरण उपाध्याय,पृ०५

३ 'भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता ' : डा० प्रसन्नकुमार आचार्य,पृ०२-३

जिस समाज या देश ने जितनी अधिक भौतिक उन्नति की वह उतना ही अधिक सभ्य कहलाया । इस प्रकार "सभ्यता का अर्थ हो गया विशिष्ट बौद्धिक विकास, उच्च नैतिक विचार एवं भौतिक सुख समृद्धि । इसमें भौतिक उन्नति व्यापारिक और औद्योगिक विकास, सामाजिक स्वतन्त्रता,राजनैतिक प्रगति का भी समावेश होता है।"[१] गुलाबराय ने अच्छे व्यवहार और सुखमय जीवन व्यतीत करने के साधनों को सभ्यता माना है । आपके शब्दों में -- 'सभ्यता मूल अर्थ में तो व्यवहार की साधुता की द्योतक होती है,किन्तु अर्थ विस्तार से यह शब्द रहन सहन की उच्चता तथा सुखमय जीवन व्यतीत करने के साधनों,जैसे कला कौशल,स्थापत्य,ज्ञान-विज्ञान की उन्नति पर लागू होता है।'[२] रामजी उपाध्याय के शब्दों में --'किसी मनुष्य या समाज के उन गुणों का आश्रय लेकर सभ्यता का विकास होता है,जिनके द्वारा वे लोग समाज का संघटन करते हैं, परस्पर संवर्द्धित होते हैं और सौहार्द्र एवं सहिष्णुता का प्रदर्शन करते हैं।'[३]

संस्कृति और सभ्यता में पर्याप्त अन्तर है । सभ्यता संस्कृति नहीं है , वरन् उसका एक अंग मात्र है । सभ्यता प्रत्येक देश,काल यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होता है । सभी व्यक्ति एक से सभ्य नहीं होते । व्यक्ति भेद के साथ इसमें भी भिन्नता पायी जाती है । सभ्यता संस्कृति का बाह्य रूप है । हमारा रहन,सहन,उठना,बैठना, वेशभूषा तथा आत्म प्रदर्शन के विभिन्न प्रयत्न तथा उपादान हमारी सभ्यता के द्योतक है और संस्कृति आध्यात्मिक एवं मानसिक उन्नति की परिचायक है । डा० उमाकान्त के अनुसार --'संस्कृति तत्वत: मानसिक है, किन्तु सभ्यता भौतिक और बाह्य। .... इस प्रकार संस्कृति मानसिक विकास की सूचक है,जब कि सभ्यता शारीरिक व्यापारों एवं भौतिक प्रगति की।'[४] इसी बात की पुष्टि प्रसन्न कुमार

---

१ 'भारतीय संस्कृति और सभ्यता' : प्रसन्नकुमार आचार्य , पृ०३
२ 'भारतीय संस्कृति की रूप रेखा' : बाबू गुलाबराय, पृ०२
३ 'भारतीय संस्कृति का उत्थान' : रामजी उपाध्याय, पृ०१४
४ 'मैथिलीशरण गुप्त -- कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता' : डा०

आचार्य ने भी की है --`संस्कृति बौद्धिक विकास की आस्थाओं को सूचित करती है और सभ्यता के परिणामस्वरूप शारीरिक एवं भौतिक विकास होता है[1]।`

सभ्यता और संस्कृति मानव के विकास के दो पक्ष हैं-- सभ्यता बाह्य गुण है,इसका सम्बन्ध बुद्धि से है, जब कि संस्कृति आन्तरिक गुण है और इसका सम्बन्ध हृदय से है । संस्कृति के अन्तर्गत हृदय की उच्च भावनाओं,विचार,विश्वास,आदर्श,आनन्द और सौन्दर्यानुभूति का समावेश होता है और सभ्यता के अन्तर्गत भौतिक सुख,सुविधाओं और प्रगति का । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में --`सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है । सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का[2]।`

सभ्यता परिवर्तनशील है जब कि संस्कृति का केवल परिवर्धन ही सम्भव है । सभ्यता का अनुकरण किया जा सकता है,परन्तु संस्कृति का संबंध अन्तर्मन से है,अत: इसका अनुकरण सम्भव नहीं है । अनुकरण में देश,जाति या वर्ग का कोई भेद नहीं होता,किसी भी देश,जाति अथवा वर्ग के अनुकरण द्वारा उसकी सभ्यता को अपनाया जा सकता है । संस्कृति के विकास के साथ-साथ उसमें जो परिवर्तन आते हैं,वह अनुकरण द्वारा नहीं वरन् शनै: शनै: संस्कारों द्वारा आते हैं । इससे स्पष्ट है कि संस्कृति आन्तरिक और सभ्यता बाह्य गुण है । डा० भगवत शरण उपाध्याय ने लिखा है --`सभ्यता और संस्कृति मनुष्य की सामूहिक प्रेरणा और विजय के परिणाम हैं, जिनमें से प्रथम आदिम वनैली स्थिति से सामाजिक जीवन की ओर मनुष्य की प्रगति का नाम है और द्वितीय उसी प्रगति का सत्य,शिव और रुचिर परम्परा का[3]।`

---

१ `भारतीय संस्कृति और सभ्यता` : प्रसन्नकुमार आचार्य,पृ०४

२ `विचार और वितर्क (निबंध संग्रह)`: हजारीप्रसाद द्विवेदी,प्रथम संस्करण, पृ० १८१ ।

३ `सांस्कृतिक भारत` : भगवतशरण उपाध्याय,पृ०१२

संस्कृति स्थायी है और सभ्यता अस्थायी । संस्कृति कभी नष्ट नहीं होती,वरन् किसी न किसी रूप में अवशिष्ट रहती है और आने वाली पीढ़ी को विरासत रूप में प्राप्त होती है,परन्तु सभ्यता नाशवान है । संस्कृति के स्थायित्व के विषय में दिनकर जी ने लिखा है --

"........ और सभ्यता की अपेक्षा यह टिकाऊ भी अधिक है,क्योंकि सभ्यता की सामग्रियाँ टूट-फूटकर विनष्ट हो सकती हैं, लेकिन संस्कृति का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता[1]।"

"संस्कृति अनुभवजन्य ज्ञान के, और सभ्यता बुद्धिजन्य ज्ञान के आधार पर निर्भर है । अनुभवजन्य ज्ञान नित्य और बुद्धिजन्य ज्ञान परिवर्तनशील होने के कारण संस्कृति नित्य और सभ्यता परिवर्तनशील होती है[2]।"

सभ्यता में केवल बाह्य आचरण पर ध्यान दिया जाता है,आन्तरिक गुण पर नहीं । जो व्यक्ति सभ्य कहा जाता है,आवश्यक नहीं है कि उसमें आन्तरिक गुण भी विद्यमान हो अर्थात् उसका अन्तर भी उतना ही परिष्कृत हो,जितना उसका व्यवहार । कोई व्यक्ति कानून,दण्ड या समाज के भय से अपराध न करता हो पर आवश्यक नहीं कि उसके मन में उस अपराध को करने की इच्छा ही न जागृत हो । ऐसे व्यक्ति को सभ्य तो कह सकते हैं, पर सुसंस्कृत नहीं,क्योंकि उसका व्यवहार तो परिष्कृत है, पर मन नहीं । संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । उसमें मन के परिष्कार के साथ ही आध्यात्मिक उन्नति तथा मानवीय गुणों का समावेश भी होता है । मानवता इसका प्रमुख गुण है,जिसके अन्तर्गत समता की भावना,दया, परोपकार,त्याग,क्षमा, अहिंसा आदि दिव्य गुणों का समावेश होता है । संस्कृति से अन्तर्मन का परिष्कार होता है और हृदय में दिव्य गुणों का संचार होता है । सभ्यता मनुष्य को वैभवशाली,कुशल तथा चतुर तो बना सकती है पर सुसंस्कृत नहीं बना सकती । हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार --"सभ्यता

---

१ 'संस्कृति के चार अध्याय' : रामधारी सिंह दिनकर,प्रथम संस्करण,पृ०६५२
२ 'कल्याण', हिन्दू संस्कृति अंक,पृ०३६

मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सहजलभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत अन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति।[१]"

संस्कृति में सभ्यता का अन्तर्भाव हो जाता है। पर सभ्यता में संस्कृति का नहीं। संस्कार रूप में अवशिष्ट सभ्यता संस्कृति बन जाती है। संस्कृति की अभिव्यक्ति सभ्यता है।[२] संस्कृति जीवन का आंतरिक सौन्दर्य है। जीवन में आनन्द की प्राप्ति मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है। आनन्द प्राप्त करने की उत्कट कामना ही मनुष्य को उन्नति की ओर अग्रसर करती है। आनन्द प्राप्ति के लिए मानव ने अनेक सुख-सुविधाओं के साधनों को ढूंढा, परन्तु केवल भौतिक सुख-सुविधाओं से उसे पूर्ण आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह हृदय तथा आत्मा का सुख भी चाहता है। इसके लिए अन्तर्मन की उन्नति तथा आन्तरिक गुणों का विकास और उनका परिमार्जन आवश्यक है और मानव मन का यही परिष्कार संस्कृति है।

हमारी प्राचीन संस्कृति अत्यधिक सम्पन्न संस्कृति थी पर आज उसका वह रूप नहीं रह गया है, क्योंकि आज सभ्यता संस्कृति पर भारी हो रही है और उसे उंगलियों पर नचा रही है। "आजकल सभ्यता का मापदण्ड साबुन या सल्फ्यूरिक एसिड की खपत हो गया है।[३]" आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार --"किसी भी जाति या राष्ट्र की सभ्यता का मापदण्ड उसका आध्यात्मिक चिन्तन होता है। जिस जाति के आध्यात्मिक विचार तथा समीक्षण जितने ही अधिक तथा गहरे होते हैं, वह जाति संस्कृति तथा सभ्यता के इतिहास में उतना ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है।[४]" इससे यह ज्ञात होता है कि सभ्यता और संस्कृति भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे से अत्यधिक सम्बद्ध हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में --" जिस सभ्यता का आधार संस्कृति

---

१ 'अशोक के फूल' : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण, पृ०८३

२ 'कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति' : डा० गायत्री वर्मा, पृ०४।

३ 'भारतीय संस्कृति की रूप रेखा' : बाबू गुलाबराय, पृ०२।

४ 'आर्य संस्कृति' : आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ०४१८।

में नहीं वह सभ्यता, सभ्यता नहीं । संस्कृति की आत्मा के बिना सभ्यता का शरीर शव की भांति निष्प्राण रहता है[1]।' इस विषय में दिनकर जी ने कहा है कि '..... संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महान चीज है । यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है, जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगंध[2]।'

निष्कर्ष यह है कि संस्कृति और सभ्यता एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी मूल अर्थ में एक-दूसरे से भिन्न हैं । संस्कृति आन्तरिक गुण है और सभ्यता बाह्य । संस्कृति की नकल नहीं की जा सकती वह संस्कारगत वस्तु है । प्रत्येक देश की संस्कृति भिन्न होती है । एक-दूसरे के सम्पर्क में आने से,उनके पारस्परिक समन्वय से संस्कृति में अनेक नई बातें जुड़ती चलती हैं और इस प्रकार उसकी वृद्धि होती जाती है । सभ्यता मानव के बाह्य आचरण पर नियंत्रण करती है और संस्कृति उसके चरित्रगत दोषों का परिष्कार तथा परिमार्जन करती है । दोनों एक-दूसरे से पृथक् होते हुए भी जल में लहर के समान और अग्नि में ताप के समान सम्बद्ध हैं । एक के अभाव में दूसरी का अस्तित्वहीन है ।

संस्कृति और कल्चर

संस्कृति के लिए अंग्रेजी में 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है । साधारणत: दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में करते हैं ।कल्चर अथवा संस्कृति का अर्थ अत्यन्त व्यापक है । आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार --' कल्चर का लाक्षणिक अर्थ होता है मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियों को विकसित करना शिक्षा तथा शिक्षण के द्वारा मानसिक वृत्तियों को सुधारना । संस्कृति शब्द का भी अर्थ है मन को, हृदय को तथा उनकी वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना[3]।' वेब्बी ने कल्चर

---

१ 'भारतीय संस्कृति की रूप रेखा' : बाबू गुलाबराय,पृ०२

२ 'संस्कृति के चार अध्याय' : रामधारी सिंह दिनकर,प्रथम संस्करण,पृ०६५२

३ 'आर्य संस्कृति' : आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ०४१५

के अन्तर्गत मानवीय व्यवहार को महत्व दिया है[१]।

कल्चर और कल्टीवेशन शब्दों में काफी समानता है। कल्चर का अर्थ है परिष्कार करना और कल्टीवेशन का अर्थ है कृषि। जिस प्रकार कृषि के लिए भूमि को समतल बनाकर रोड़े आदि तोड़ कर खाद डाल कर उसका परिष्कार कर उसे खेती के योग्य बनाया जाता है,उसी प्रकार मानसिक परिष्कार द्वारा मनुष्य की सहज वृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी बनाया जाता है। प्रसन्न कुमार आचार्य के अनुसार --" भूमि की ही भाँति मनुष्य की मानसिक और सामाजिक अवस्था भी विकसित हुआ करती है। 'संस्कृति और कल्चर' मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों,नैसर्गिक शक्तियों तथा उसके परिष्कार का द्योतक है। जीवन का चरमोत्कर्ष प्राप्त करना इस विकास का परिणाम है। संस्कृति के प्रभाव से ही व्यक्ति विशेष या समाज ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होता है, जिनसे सामाजिक,साहित्यिक,कलात्मक,राजनीतिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में उन्नति हुई है[२]।"

बाह्य रूप में कल्चर और संस्कृति शब्द समानार्थक हैं और साधारणत: इसी रूप में इनका प्रयोग भी होता है। पर इन दोनों शब्दों के आन्तरिक रूप में भिन्नता है। संस्कृति का मूल धर्म है,अत: संस्कृति में आध्यात्मिकता की प्रधानता रहती है। इसका सम्बन्ध हृदय की उदात्त भावनाओं से

---

१ " Culture, then, is a particular class of regularities of behaviour. It includes both internal and external behaviour; it excludes the biologically- inherited aspects of behaviour. Cultural regularities may or may not recur in the behaviour of individuals, but, to be called 'culture', they should recur (or fail to occur) in a regular fashion in the behaviour of most of the members, and ideally in that of all the members, of a particular society."

- Culture and History- Philip Bag-by P. 88.

होता है, जब कि कल्चर में भौतिकता तथा बुद्धि की प्रधानता रहती है। संस्कृति में भावनाओं के परिष्कार पर विशेष बल दिया जाता है और कल्चर में बुद्धि के परिष्कार को प्रधानता दी जाती है।

संस्कृति और कला

भावनाओं की सजीव और सुन्दर अभिव्यक्ति कला है। आन्तरिक सौन्दर्य तथा आन्तरिक प्रेरणा, किसी भी माध्यम से व्यक्त हो, वह कला कही जाती है। किसी भी गुण अथवा कौशल के कारण जब किसी वस्तु में सौन्दर्य तथा उपयोगिता आ जाती है तब वह कलापूर्ण हो जाती है। हमारी आत्मा बाहर आकर मूर्त रूप धारण करना चाहती है। उस मूर्त रूप को ही कला कहते हैं। जिन-जिन वस्तुओं में आत्मा का ओज,उत्साह और उल्लास दर्शित होता है वे सब कलाकृति का रूप धारण कर लेती हैं[1]।

कला द्वारा मानव की भावनाओं तथा विचारों का प्रदर्शन होता है,अत: उसके द्वारा तत्कालीन संस्कृति का परिचय मिलता है। जहाँ की संस्कृति जितनी उदात्त होती है, वहाँ की कला भी उतनी ही उन्नत होती है। भारतवर्ष में ६४ कलाएं मानी गयी हैं।

भारतीय कला की विशेषता

भारतीय कला के अन्तर्गत कुछ ऐसी विशेषताएं हैं,जो उसे अन्य स्थानों की कलाओं से पृथक् करती हैं, जैसे भारतीय कला अभिव्यक्ति प्रधान है। इसमें बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया जाता है। रस की प्रधानता होने के कारण ही यहाँ की कला इतनी प्राणवान तथा सजीव है। इसके अतिरिक्त भारतीय कला धर्म प्रधान है और भारतीय जीवन धर्म से अनुप्राणित,अत: यहाँ

---

१ `संस्कृत साहित्य की रूपरेखा` : गुलाबराय,पृ०१०५

कला पर भी धर्म का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है। भारतीय कला में धार्मिकता के कारण उसमें प्रतीकात्मकता का समावेश हुआ है और विभिन्न वस्तुओं को प्रतीक मानकर उसकी अभिव्यक्ति की गई।

भारतीय कला का प्रारम्भिक रूप मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त होता है। उस समय प्राप्त नगरों की व्यवस्था, अस्त्र-शस्त्र,बर्तन,आभूषण और सिक्के इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय तक भारतीय कला की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी।

मौर्यकाल में भी कला की पर्याप्त उन्नति हुई।अशोक के बनवाये स्तम्भ आज भी उस युग की कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। बौद्ध भिक्षुओं के लिए बनवाये गये गुहा गृह को देखने मात्र से भारतीय चित्र तथा स्थापत्य कला का अनुमान लगाया जा सकता है।

शुंग काल में साँची,भरहुत तथा बुद्ध गया की कला का विकास हुआ। अशोक काल में पशुओं-पक्षियों तथा चक्र को कला के प्रतीक रूप में अपनाया गया। इस समय तक मूर्तियों का निर्माण कार्य प्रारम्भ हो गया था। बुद्ध का पूरा जीवन-वृत्त चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया गया,इसके अतिरिक्त उड़ीसा,उदयगिरि और खण्डगिरि पहाड़ियों की गुफाओं में प्राप्त शिल्प-कला,कला के अद्वितीय उदाहरण हैं।

कुषाणकाल में कला के चार केन्द्र बने-- सारनाथ, मथुरा, अमरावती और गंधार। इस युग में गंधार कला का विशेष प्रचलन हुआ। इसमें आकृति और भाव दोनों का समन्वय किया गया तथा आकृति की शुद्धता एवं सौन्दर्य पर ध्यान दिया गया,फलतः इसमें ~~आन्तरिक~~ आन्तरिक अभिव्यक्ति की अपेक्षा बाह्य अभिव्यक्ति को प्रधानता दी गई।

गुप्तकाल भारतीय कला का स्वर्ण युग है। इस युग के बाह्य अभिव्यक्ति की अपेक्षा आध्यात्मिकता को प्रधानता दी गई।मिट्टी की मूर्तियों का निर्माण होने लगा। जिनके पीछे प्रभा मण्डल बने होते थे,जो ईश्वरीय प्रकाश के द्योतक थे। इस युग में गुफा मन्दिरों का निर्माण भी हुआ। पहाड़ों की गुफाओं में पत्थर काट-काट कर दीवालों पर चित्रकारी

की गई । इन्हीं गुफाओं में रंगशाला का भी निर्माण होता था । इन गुफा चित्रों में अजन्ता के चित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं ।

भारतीय संस्कृति समन्वय प्रधान संस्कृति है,अत: इसमें सर्वत्र समन्वय दृष्टिगोचर होता है । भारतीय कला भी इससे अछूता न रही। मुगल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् मुस्लिम कला को भी उच्च स्थान प्रदान किया गया,फलत: कला के क्षेत्र में मेहराब,गुम्बद आदि का प्रचलन हुआ ।

मुसलमानों के पश्चात् भारत में अंग्रेजों का आगमन हुआ। जिनके प्रभावस्वरूप आन्तरिकता की अपेक्षा बाह्य अभिव्यक्ति पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा । अब कला में आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता को प्रधानता हो गई ।

भारत में चित्रकला का विशेष महत्व है । नाट्यशालाओं, राज भवनों तथा गृहस्थों के घर में चित्र बनाने का प्रचलन सदा से रहा है । शुभ अवसरों पर तो इनका बनाना आवश्यक है,क्योंकि ये मांगलिक माने जाते हैं । आज भी अनेक अवसरों पर गृहस्थों के घर में चित्र बनाकर पूजा करने की प्रथा प्रचलित है ।

संगीत का भी विशेष महत्व रहा है । नाद को ब्रह्म माना गया है । संगीत के तीन अंग है -- गीत,वाद्य और नृत्य । वाद्य में यहाँ वीणा का विशेष महत्व है,क्योंकि विद्या की देवी सरस्वती वीणा-पाणि कही जाती है और नारद जी सदा वीणा लिये रहते हैं । वाद्य तो भारत में अनेक प्रचलित रहे हैं पर वीणा का महत्व आध्यात्मिक है,अत: इसका महत्व अधिक है ।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । यह मानव के शुद्ध आचरण,आध्यात्मिक उन्नति तथा मानसिक विकास की द्योतिका है । इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत उन्नति ही नहीं,सामाजिक तथा धार्मिक

उन्नति का भी समावेश होता है। संस्कृति, सभ्यता के समान भौतिक न होकर आध्यात्मिक गुणों से ओत-प्रोत है, जिसमें मानवता का दिव्य गुण प्रमुख है। समन्वय का गुण प्रधान होने के कारण इसका परिवर्द्धन तथा संवर्धन होता रहता है।

भारतीय संस्कृति

किसी संस्कृति का ज्ञान वहां के साहित्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण है और समाज में प्रचलित रीति-रिवाज, रहन-सहन, शिक्षा, शिल्प कला, वस्तुकला, मूर्तिकला एवं सामाजिक व्यवस्था, धर्म पर विश्वास आदि संस्कृति के द्योतक होते हैं। भारतीय संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने हेतु भी आवश्यक है कि उसके साहित्य का पूर्णत: अवलोकन किया जाय, क्योंकि उसके द्वारा ही प्राचीनकाल में प्रचलित रीति - रिवाज, धर्म, राजनीति, आदर्श आदि का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदों तथा उपनिषदों का आश्रय लेना आवश्यक है, क्योंकि भारतीय संस्कृति का मूल वेद तथा उपनिषद् माने जाते हैं।

भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन एवं उन्नत संस्कृति है। प्राचीनकाल में जब अन्य संस्कृतियों का अस्तित्व भी नहीं था, उस समय यह अपने उन्नत रूप में विद्यमान थी तथा पर्याप्त भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति भी कर चुकी थी। भौतिक उन्नति का प्रमाण हड़प्पा और मोहन जोदड़ो की खुदाई में प्राप्त अवशेष हैं तथा आध्यात्मिक उन्नति के प्रत्यक्ष प्रमाण अनेक देवी - देवताओं की स्थापना और उनके प्रति आस्था है।

भारत पर समय-समय पर होने वाले आक्रमणों ने सांस्कृतिक उन्नति के मार्ग में अनेक व्यवधान उत्पन्न किये। अत्यधिक राजनैतिक तथा सामाजिक एवं धार्मिक उथल-पुथल के बीच भी यह संस्कृति अक्षुण्ण रही। विदेशी आक्रमणकारियों के साथ उनका धर्म, उनकी संस्कृति, रहन-सहन, रीति-रिवाज एवं कला आदि का भी भारत में आगमन हुआ। नवीन संस्कृति, धर्म तथा

शिक्षा ने पुरातन धर्म, संस्कृति और शिक्षा को प्रभावित किया तथा स्वयं भी प्रभावित हुई। मुगलों के आक्रमण तथा उनके स्थायित्व ने भारतीय संस्कृति को गहरी चोट पहुंचाई। भारतीय स्वधर्म को तिलांजलि दे,मुस्लिम धर्म की ओर आकृष्ट होने लगे तथा उनकी संस्कृति को अपनाने लगे। संस्कृति का यह व्रण अभी हरा ही था, तभी अंग्रेजों ने भारत पर अपना आधिपत्य कर लिया। इनके साथ ही ईसाई धर्म भारत आया और इसका प्रचार होने लगा। विदेशी सभ्यता से चमत्कृत जनता ने भारतीय संस्कृति को विस्मृत कर दिया और विदेशी भौतिकता की चकाचौंध से दिग्भ्रमित हो, विदेशी धर्म तथा संस्कृति की ओर आकर्षित होने लगी। अनेक वर्षों की दासता,अशिक्षा, हिन्दू धर्म की कट्टरता, जाति पांति और छुआछूत की दूषित भावना ने भी निकृष्ट तथा उपेक्षित वर्ग को विदेशी संस्कृति अपनाने के लिए बाध्य किया। आर्थिक विपन्नता भी इसका एक कारण सिद्ध हुआ। आर्थिक संघर्ष में संघर्षरत जनता की भूख की ज्वाला को धर्म तथा संस्कृति द्वारा शान्त करना असम्भव था, अत: अधिकांश लोगों ने विदेशी शिक्षा तथा सभ्यता को स्वीकार कर सरकारी नौकरी प्राप्त कर आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

भारत में अनेक धार्मिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ तथा अनेक धर्म और सम्प्रदाय उत्पन्न होते रहे। इन धर्मों तथा सम्प्रदायों का भी हिन्दू धर्म तथा संस्कृति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस वैषम्यपूर्ण वातावरण में भी भारतीय संस्कृति का अस्तित्व सुरक्षित रहा।

धार्मिक तथा सांस्कृतिक उन्नति एवं सुरक्षा के लिए देश और समाज का शान्त वातावरण अत्यावश्यक है। दुर्भाग्य से भारत का राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण सदैव अशान्त रहा। ऐसे समय संस्कृति की उन्नति असम्भव थी। इस विग्रहपूर्ण वातावरण में कुछ महान पुरुषों ने सुप्त भारतीय जनमानस में नवीन जागृति उत्पन्न करने एवं उसके प्रति आस्था और विश्वास उत्पन्न करने का स्तुत्य प्रयास ही नहीं किया,वरन् भारतीय धर्म में उत्पन्न दोषों का निराकरण कर पुन: भारतीय संस्कृति को प्रतिष्ठित करने का सराहनीय कार्य किया।

भारतीय संस्कृति का इतिहास

संस्कृति का इतिहास, मानव के विकास का इतिहास है। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान है,अत: अपनी प्रगति में सदा प्रयत्नशील रहता है।शारीरिक सुख के लिए वह अनेक नये साधनों तथा उपकरणों का निर्माण करता है तथा मानसिक सुख के लिए विभिन्न कला, कौशल,काव्य, दर्शन आदि का आश्रय लेता है। इस प्रकार दिन-प्रतिदिन मानव जो विकास करता है, उस विकास का इतिहास ही संस्कृति का इतिहास है।

प्रकृति मानव की सहचरी है, अत: उसकी प्रगति में सबसे अधिक प्रकृति का सहयोग रहता है। प्रकृति के प्रकोप से बचने के लिए मनुष्य जो प्रयत्न करता है, जो साधन अपनाता है, वे साधन भी प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं से ही निर्मित होते हैं, अत: मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने में प्रकृति का अधिक सहयोग रहता है। भारतीय संस्कृति के साथ तो प्रकृति का अटूट संबंध है, अत: यह मान लेना कि भारतीय संस्कृति प्रकृति के आधार पर निर्मित है, अत्युक्ति न होगी।

भारतवर्ष को प्रकृति ने अत्यन्त समृद्ध बनाया है,अत: यहां जीवनधारण के लिए कठिन संघर्ष नहीं करना पड़ता,फलत: विरोध, वैमनस्य आदि दुर्भावनाओं का अभाव स्वाभाविक है। प्राचीनकाल से यहां सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य था,अत परिणामस्वरूप अनेक कलाओं तथा साहित्य के सृजन के लिए उपयुक्त वातावरण मिला। यहां के लोगों में सच्चाई,साधुता,क्षमा-शीलता विनय तथा सहृदयता आदि गुण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त यहां अतिथि सत्कार का विशेष महत्त्व माना गया है।

प्रकृति की सहृदयता का प्रभाव भारतवासियों के हृदय पर ही नहीं, उनके रहन-सहन में भी परिलक्षित होता है। जैसे यहां के मकान खुले होते हैं, तथा वस्त्र भी ढीले-ढाले पहने जाते हैं, जो यहां के वातावरण के अनुकूल है। यहां कुछ सम्प्रदायों में दिगम्बर रहने तथा वल्कल धारण करने का भी प्रचलन है। इसी कारण यहां वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम में वनों में रहने तथा कम से कम वस्त्र धारण करने की प्रथा

थी । उन्हें आजीविका की भी चिन्ता नहीं थी, क्योंकि उस समय दान देना तथा दान लेना धर्म था । प्रकृति से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण ही यहां प्राचीन-काल से आज तक नाग, झाड़ पीपल आदि की पूजा का प्रचलन पाया जाता है ।

भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ, इस विषय में पर्याप्त मतभेद है । कुछ विद्वानों का विचार है कि यह संस्कृति पश्चिम की सुमेरी संस्कृति की देन है, कुछ अन्य विचारकों के अनुसार यह संस्कृति द्रविड़ों की संस्कृति है । कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि यह एक स्वतन्त्र संस्कृति है इस पर किसी अन्य संस्कृति का प्रभाव नहीं है । हड़प्पा और मोहन जोदड़ो की खुदाई में प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि यह संस्कृति सुमेरी संस्कृति से प्राचीन संस्कृति है । इन अवशेषों में प्राप्त नगर की व्यवस्था तथा मकान इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय भी यहां नगरों की पूर्ण व्यवस्था हो चुकी थी तथा पक्की ईंट के मकान बनने लगे थे । इसके अतिरिक्त यहां न तो सुमेरी सभ्यता के समान मन्दिरों के और न ईरानी सभ्यता के समान मकबरों के ही अवशेष मिले । अतएव इस संस्कृति का संबंध किसी अन्य संस्कृति से जोड़ना उचित नहीं जान पड़ता । जिस समय आज की सुसंस्कृत कही जाने वाली संस्कृतियों का अस्तित्व भी नहीं था, उस समय भी यह संस्कृति अत्यन्त समृद्ध संस्कृति थी ।

भारत में समय-समय पर अनेक संस्कृतियां आयीं और यहां की संस्कृति में विलीन हो गईं । यह क्रम आदिकाल से चला आ रहा है । जो जातियां यहां आईं उनकी अपनी विकसित अथवा अविकसित संस्कृति अवश्य रही होगी, उन्हीं के मिश्रण से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ । आज जो संस्कृति है, वह वैदिक संस्कृति नहीं है, वरन् यह भारतीय संस्कृति है, जिसमें आर्य और अनार्य दोनों संस्कृतियों का योग है ।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि जिस समय मनुष्य भोजन की खोज में खानाबदोशों की तरह घूमता था, उसी समय आर्य भी भोजन की खोज में भारत आये और यहां की प्राकृतिक सुविधा तथा समृद्धि देख कर यहीं बस गये । उस समय तक द्रविड़ों की संस्कृति जो यहां के मूल निवासी थे, समृद्ध हो चुकी थी । द्रविड़ श्यामवर्ण, छोटी नाक वाले तथा स्वभाव से शान्तिप्रिय थे, अत:

उन्होंने कला को उन्नति तो की, परन्तु शस्त्रों के निर्माण में विशेष प्रगति नहीं कर सके । बाहर से आये आर्य जो गौरवर्ण के थे, कला की अपेक्षा शस्त्र-निर्माण में अधिक प्रवीण थे । अत: शस्त्र-बल द्वारा उन्होंने द्रविड़ों पर विजय प्राप्त कर उन्हें दास बना लिया और उनकी समृद्ध संस्कृति से उन्होंने बहुत कुछ सीखा तथा उनकी संस्कृति को आत्मसात् कर लिया । आज भी पीपल, वटवृक्ष, नाग, सांड़ आदि की पूजा इस बात का प्रमाण है । इस प्रकार अनार्य संस्कृति आर्य संस्कृति में विलय होकर उसे पुष्ट कर गई । इसके अतिरिक्त समय-समय पर अन्य संस्कृतियों के मिश्रण द्वारा वह परिवर्द्धित तथा पुष्ट होती रही है ।

भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ वेद से माना जाता है, क्योंकि इनका प्राचीनतम ग्रन्थ वेद है । परन्तु आर्यों से पूर्व की अनार्य संस्कृति की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है । अनार्य संस्कृति का लोप कब हुआ और कब से आर्य संस्कृति का प्रारम्भ हुआ, निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी भी संस्कृति या सभ्यता का काल-विभाजन अथवा समय-निर्धारण अत्यन्त कठिन है । इसका कारण यह है कि किसी भी संस्कृति को नियमबद्ध नहीं किया जा सकता है, वह देश-काल के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती है । फिर भी सुविधा के लिए इसे निम्नप्रकार से विभक्त कर सकते हैं--

प्रागैतिहासिक काल

इस काल की संस्कृति द्रविड़ों की संस्कृति थी। जिसके अवशेष हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त हुए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि यह संस्कृति एक समृद्ध संस्कृति थी । उस संस्कृति के ने कला के साथ-साथ नगर-निर्माण की कला में भी विशेष उन्नति कर ली थी । परन्तु शस्त्रविद्या और घोड़ों का उपयोग इन लोगों ने आर्यों से सीखा ।

इस युग में धर्म का पर्याप्त विकास हो चुका था । अनेक देवी-देवताओं, वृक्ष, पशु आदि की पूजा होती थी । इनके अनेक देवी-देवता तथा धार्मिक मान्यताओं को आर्यों ने भी अपनाया, परन्तु कुछ मान्यताओं को जैसे लिंगपूजा आदि को उन्होंने अस्वीकार कर दिया । अनार्यों में शिव की

पूजा नटराज,पशुपति और योगी के रूप में प्रचलित थी । देवी की पूजा का प्रचलन था । नारी के तथा नारी की योनि के अनेक चित्र मुद्राओं पर मिले हैं । ये लोग पत्र-पुष्प आदि चढ़ा कर इनकी पूजा करते थे ।

उस समय समाज मातृसत्तात्मक होता था,क्योंकि उस समय तक विवाह के नियम नहीं बने थे । महाभारत के कर्ण पर्व के अनुसार उस समय स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी होती थीं । वे विवस्त्र होकर सार्वजनिक स्थानों पर नृत्य करती थीं । जन्म का ठिकाना न लेने के कारण ही उत्तराधिकार पुत्र के स्थान पर भांजे को प्राप्त होता था[१] ।

पूर्व वैदिक काल

भारतीय संस्कृति का इतिहास ऋग्वेदकाल से प्रारम्भ होता है,क्योंकि वेद को ही यहाँ का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है और इसके आधार पर ही इस संस्कृति का निर्माण हुआ है ।

इस युग में आर्यों का प्रधान व्यवसाय कृषि तथा पशु-पालन था । सिंचाई के लिए यह लोग वर्षा पर निर्भर करते थे,परन्तु कुओं से भी सिंचाई होती थी । गाय,भैंस,बकरी,सुअर, कुत्ता, गदहा और हरिण पालतू पशु थे । बैल के अतिरिक्त घोड़ा इनके लिए उपयोगी पशु था । घोड़ा दान-दक्षिणा में भी दिया जाता था । ग्राम्य जीवन सरल था । बढ़ई, सुनार,चर्मकार, लुहार आदि का व्यवसाय होने लगा था ।

पशु तथा भूमि को पारिवारिक सम्पत्ति माना जाता था । उस समय जंगल काट कर व खेती योग्य भूमि तैयार कर उस पर अधिकार कर लेते थे । क्रय-विक्रय गायों के विनिमय द्वारा होता था । उस समय निष्क नाम का सिक्का भी चलता था जो दान देने,अथवा कैदियों को छुड़ाने के लिए दण्डस्वरूप देने के लिए उपयुक्त किया जाता था । ऋण देने की प्रथा भी थी। जो ऋणमुक्त नहीं हो पाता, उसे दास बना लिया जाता था ।

---

१ तस्मात् तेषां भागहरा भागिनेया न सूनव:

--महाभारत कर्ण पर्व ४५.१३

इस समय लोग समूह में रहते थे, जिसे जन या विश: कहते थे । प्रत्येक समूह का नामकरण उसके मुखिया अथवा किसी पूर्वज के नाम के आधार पर होता था । प्रत्येक जन को कई टुकड़ियां होती थीं, जिन्हें ग्राम अथवा ग्राम कहते थे । एक ग्राम के लोग जहां रहने लगते थे वह स्थान ग्राम कहा जाता था । ग्राम का नेता ग्रामणी और जन का नेता राजा कहा जाता था । राजा का चुनाव जन करती थी, परन्तु कभी-कभी उत्तराधिकार से भी राजा चुना जाता था, परन्तु यदि राजा अपने कर्तव्य-पालन अथवा राज्याभिषेक के समय किये गये प्रतिज्ञा के पालन में असमर्थ होता था तो उसे पदच्युत भी किया जा सकता था ।

समाज में ऊंच-नीच की भावना नहीं थी न ही वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ था । रोटी बेटी के सम्बन्ध में भी किसी प्रकार का दुराव नहीं था । समाज पितृप्रधान था । परिवार का मुखिया पिता होता था, परन्तु माता का स्थान भी उच्च था । वह परिवार के सभी सदस्यों यहां तक कि परिवार के प्रधान श्वसुर पर भी शासन करती थी[१] । इस समय संयुक्त परिवार की व्यवस्था हो गई थी । सन्तानोत्पत्ति इसका मुख्य लक्ष्य था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि पुत्रप्राप्ति से ही पिता को अमृत्व प्राप्त होता है ।

इस समय कन्या परिवार के लिए भारस्वरूप नहीं थी। उसे भी पुत्रों की तरह पूरी स्वतन्त्रता तथा समान अधिकार प्राप्त थे । उनकी शिक्षा की व्यवस्था भी पुरुषों के समान ही की जाती थी । वे भी ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं तथा समाज में उनका सम्मान था । धार्मिक और सामाजिक सभाओं में उनका महत्वपूर्ण स्थान था । उन्हें सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे । वे गृहकार्य के अतिरिक्त पुरुषों के कार्यों में भी हाथ बंटाती थीं । इस समय तक विवाह की प्रथा का प्रचलन हो गया था ।

---

१ "साम्राज्ञी भव श्वसुरं भव साम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधि देवृषु ।।

ऋग्वेद १० ।७ ८५

विवाह पूर्ण वयस्क होने पर होता था । पति तथा पत्नी चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी । धार्मिक उत्सवों तथा विनोदपूर्ण स्थलों पर उन्हें परस्पर मिलने-जुलने की स्वतन्त्रता थी । उस समय विवाह की प्रथा कठोर नहीं थी । विधवा - विवाह का प्रचलन था । दहेज की प्रथा भी थी और शुल्क लेकर कन्या देने का भी प्रचलन था ।

वैदिक आर्यों के धर्म-कर्म सरल थे, परन्तु बाद में पुरोहितों की चेष्टाओं के फलस्वरूप इसमें जटिलता का समावेश हुआ । यज्ञों की प्रधानता हो गयी । यज्ञ हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों प्रकार के होते थे । इनका धर्म बहुदेववादी था इसमें देवताओं और पितरों की पूजा का मुख्य स्थान था । इस समय पृथ्वी, वरुण और इन्द्र को प्रमुख देवता माना जाता था । देवताओं की कल्पना मनुष्य रूप में की गई थी और उन्हें प्रसन्न करने के लिए मन्त्र पढ़े जाते थे, जिसका उद्देश्य था सुख, समृद्धि तथा कल्याण प्राप्त करना । भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए भिन्न भिन्न मंत्र थे । स्तुति की विधि अत्यन्त सरल थी । इनके अनुसार जगत, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश, तीन भागों में विभक्त था और प्रत्येक में अनेक देवताओं का निवास था । स्वर्ग और नर्क की कल्पना भी उस समय तक हो चुकी थी ।

उत्तर वैदिक काल

इस काल को ब्राह्मण काल भी कहते हैं । इस युग में सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेदकी रचना हुई । बाद में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् लिखे गये । ब्राह्मण गद्य में लिखे गये । इनका उद्देश्य वैदिक कर्म-काण्ड को स्पष्ट करना, वैदिक मंत्रों की व्याख्या करना और यज्ञ की विधियों को स्पष्ट करना था ।

अब आर्य लोग स्थायी ग्रामों में रहने लगे थे । ग्रामों में अनेक व्यवसायों का प्रचलन हो गया था । खेती के लिए अनेक उपकरणों का प्रयोग होने लगा था । कृषि के अतिरिक्त पशुपालन इनका मुख्य व्यवसाय था ।

विनिमय का माध्यम पशु होते थे । पशुओं की संख्या से किसी भी व्यक्ति की समृद्धि का अनुमान लगाया जाता था ।

वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ इसी युग से हुआ । ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ तथा शूद्र सबसे निम्न माने गये । शूद्रों को समाज में कोई अधिकार नहीं प्राप्त थे, उन्हें धार्मिक अधिकारों से भी वंचित रक्खा गया । ब्राह्मण तथा क्षत्रियों ने अपनी श्रेष्ठता को अक्षुण्ण रखने के लिए वैश्यों को भी शूद्रों की कोटि में रख दिया । धार्मिक कृत्यों पर ब्राह्मणों का आधिपत्य हो गया । राजा की ओर से भी इन्हें पर्याप्त छूट मिली थी । इन्हें कर नहीं देना पड़ता था साथ ही इन्हें दण्डित भी नहीं किया जाता था ।

पारिवारिक व्यवस्था वैदिक युग की ही भांति संयुक्त थी । पिता, पुत्र और पौत्र आदि एक साथ रहते थे । पत्नी का स्थान परिवार में उच्च था । वह आदरणीया तथा महत्वपूर्ण समझी जाती थी । पिता परिवार का श्रेष्ठ माना जाता था, पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार पुत्र को प्राप्त होता था । पुत्रप्राप्ति के बिना व्यक्ति अपूर्ण समझा जाता था । अविवाहित व्यक्ति को यज्ञ का अधिकार नहीं था । उस समय बहुपत्नीत्व की प्रथा थी, परन्तु स्त्री का एक ही पति होना आवश्यक था । सगोत्र तथा सपिंड विवाह वर्जित थे । अन्तर्जातीय विवाह होते थे, परन्तु शूद्र कन्या से विवाह वर्जित था । उससे उत्पन्न पुत्र को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था । विवाह पूर्ण वयस्क होने पर होता था ।

स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार था । वे धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों में भाग ले सकती थीं । यज्ञों में भी उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी । पत्नी के अभाव में यज्ञ सम्पूर्ण नहीं माना जाता था । परन्तु स्त्री की यह उच्च अवस्था अधिक दिनों तक न रह सकी । पुरुष उसपर शासन करने लगे थे । उन्हें अपवित्र समझ कर धार्मिक अधिकारों से भी वंचित किया जाने लगा ।

वैदिक युग की अपेक्षा इस युग में यज्ञ की महत्ता बढ़ गई । यज्ञ पाप मुक्ति का साधन माना जाने लगा । यज्ञ की विधि दिनों दिन जटिल होती जा रही थी तथा पशुबलि की प्रथा भी बढ़ रही थी । मन्त्रों का भी महत्व बढ़ गया । विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने के लिए विभिन्न मन्त्रों का पाठ किया जाने लगा । वैदिक युग के पृथ्वी, वरुण और इन्द्र का स्थान

प्रजापति, विष्णु और शिव ने ले लिया । निर्जीव पदार्थों तथा पशुओं की पूजा का भी प्रचलन था । इसके अतिरिक्त अम्बिका आदि देवियों की भी पूजा होती थी ।

देवों के अतिरिक्त पितरों को तर्पण, श्राद्ध आदि का भी प्रचलन था । इस समय तक धार्मिक अन्धविश्वासों का प्रारम्भ हो गया था, फलत: जादू, टोना, भूत प्रेतों में लोगों का विश्वास बढ़ने लगा था । इस युग में मोक्ष, कर्मवाद और पुनर्जन्म पर विशेष बल दिया गया और आत्मा, परमात्मा के तादात्म्य को जीवन का लक्ष्य माना गया ।

महाकाव्य काल

इस युग का मुख्य व्यवसाय कृषि, पशुपालन और वाणिज्य था । इसके अतिरिक्त अनेक शिल्पों का भी प्रचलन हो गया था ।

शिक्षा के क्षेत्र में दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीति, इतिहास, वेद, अर्थशास्त्र, उपनिषद्, व्याकरण आदि की शिक्षा दी जाती थी । आश्रम में गुरु के पास विद्याध्ययन के अतिरिक्त बड़े-बड़े परिवारों में आचार्यों को शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया जाता था । स्त्रियों को शिक्षा का भी प्रबन्ध था, परन्तु शूद्रों को शिक्षा से वंचित रखा गया था । द्रोणाचार्य ने इसी कारण एकलव्य को धनुर्विद्या की शिक्षा नहीं दी ।

समाज की व्यवस्था वर्णाश्रम के आधार पर होने लगी थी । वर्ण व्यवस्था का आधार गुण और कर्म था । शूद्र को समाज में निम्न स्थान दिया गया था ।

विवाह को अनिवार्यता प्रदान की गयी । अन्तर्जातीय विवाह तथा अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह की प्रथा प्रचलित थी । बहु विवाह होते थे, उच्च कुल के लोग कई-कई पत्नियां रखते थे । स्त्री हरण तथा नियोग की भी प्रथा थी । सती प्रथा के भी उदाहरण मिलते हैं । माद्री अपने पति पाण्डु के साथ सती हो गई थी । स्वयम्बर की प्रथा का भी प्रचलन था । द्रौपदी तथा दमयन्ती का विवाह उस समय की प्रचलित स्वयम्बर प्रथा का उदाहरण है । स्त्रियों की दशा गिरती जा रही थी । परदा प्रथा का प्रारम्भ हो गया था । इस युग में स्त्री की

धर्म में त्रिमूर्ति का विशेष महत्व था । ब्रह्मा सृष्टि, विष्णु पालन तथा शिव संहार करने वाले देवता माने गये । विष्णु की प्रधानता बढ़ रही थी । कृष्ण राम आदि को अवतार मान कर उनकी पूजा की जाती थी ।अवतारवाद का प्रारम्भ यहीं से हुआ । यज्ञ में पशुबलि का निषेध किया गया तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए भक्ति और कर्म की व्यवस्था दी गई । यह माना गया कि आत्मशुद्धि और आत्मसंयम द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है ।

सूत्रों का काल

इस समय तक वर्ण व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गया थी। एक वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ खान पान का पूर्ण निषेध हो गया । सत्य तो यह है कि छुआछूत का प्रारम्भ यहीं से हुआ । न्याय में भी वर्ण के अनुसार भेद किया गया । जिस अपराध के लिए अन्य वर्णों को शारीरिक दण्ड दिया जाता था, उसके लिए ब्राह्मण को केवल कुछ शुल्क देकर दण्ड मुक्त कर दिया जाता था,क्योंकि उनके लिए शारीरिक दण्ड का निषेध था । राजा सब का शासक होता था,परन्तु ब्राह्मण उन पर भी शासन करते थे ।

विवाह माता-पिता द्वारा निश्चित किये जाने लगे । विवाह के लिए लड़के और लड़की के कुलों की दूरी भी निश्चित कर दी गई । इसके अनुसार सगोत्र तथा माता की छः पीढ़ी तक से सम्बन्धित कुलों में विवाह वर्जित था । स्त्रियों की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई । उन्हें धार्मिक कृत्यों एवं सम्पत्ति के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया । परन्तु शिक्षा का अधिकार उन्हें अब भी प्राप्त था । विदुषी स्त्रियों का समाज में सम्मान था । वे अध्यापन का कार्य भी करती थीं । नियोग की प्रथा प्रचलित थी । पुत्र प्राप्ति के लिए विधवा स्त्रियां देवर से सम्बन्ध स्थापित कर सकती थीं । नियोग से उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज कहा जाता था । पुनर्विवाह भी होते थे,परन्तु अपवाद स्वरूप । विवाह विच्छेद का अधिकार भी उन्हें था ।

धार्मिक आन्दोलनों का काल

इस काल में ब्राह्मणों का पूर्णरूपेण आधिपत्य हो गया था तथा छुआछूत और वर्ण व्यवस्था का बन्धन अत्यन्त कठोर हो गया था। नियमों के इस कठोर बन्धन के प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक धार्मिक आन्दोलनों का जन्म हुआ, जिसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण धर्म, जिसमें केवल ब्राह्मणों का ही आधिपत्य था, की स्थिति डावांडोल हो उठी। इन धार्मिक आन्दोलनों में प्रमुख थे बौद्ध तथा जैन धर्म। ब्राह्मणों के प्रभुत्व से दु:खी जनता इन धर्मों की ओर आकृष्ट हुई, क्योंकि इनमें छुआछूत के बन्धन नहीं थे और सबको समान अधिकार प्राप्त थे। इन धर्मों ने यज्ञों में पशुबलि का विरोध किया तथा सबको समानरूप से धर्म का उपदेश दिया, अत: उपेक्षित वर्ग जैसे शूद्र आदि का इस ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म का प्रचार अधिक हुआ। भारतीय संस्कृति के निर्माण में इन धर्मों का विशेष योग रहा है।

भारतीय कला पर बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव पड़ा। चित्र कला, स्थापत्य कला, मूर्तिकला आदि की उन्नति में बौद्ध धर्म ने विशेष योग दिया। मूर्तिपूजा का प्रारम्भ भी इन्हीं के द्वारा हुआ। बौद्ध विहार शिक्षा के केन्द्र होते थे। वहाँ सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी।

मौर्य काल

समाज पूर्ववत् चार वर्णों में विभक्त था। इस समय तक वर्ण व्यवस्था का आधार कर्म न होकर जन्म हो गया।

विवाह शास्त्रों की विधि के अनुसार होते थे। एक ही जाति में विवाह होता था, परन्तु अन्तर्जातीय विवाह का भी प्रचलन था। सगोत्र विवाह नहीं होते थे। इस समय एक विवाह का प्रचलन था, परन्तु राजा और सरदार बहुविवाह भी करते थे। स्त्रियाँ पति के साथ धार्मिक कार्यों में भाग लेती थीं। पति की सम्पत्ति पर उनका अधिकार होता था। वे राजनीति में भी भाग लेती थीं तथा गुप्तचर का कार्य भी करती थीं। दास-प्रथा का भी प्रचलन था। दासों का क्रय-विक्रय होता था। स्त्री -

समाज में वैदिक धर्म,बौद्ध धर्म और जैन धर्म का प्रचलन था । अपनी इच्छानुसार धर्म ग्रहण करने की स्वतन्त्रता थी । वैदिक धर्म के अन्तर्गत अनेक देवी-देवताओं की पूजा होती थी । नदियों को पवित्र माना जाता था तथा तीर्थ स्थानों का विशेष महत्व था ।

इस युग में तक्षशिला शिक्षा का प्रधान केन्द्र था । शिक्षा का स्तर उच्च था । मठों तथा विहारों में भी शिक्षा दी जाती थी । ब्राह्मण आचार्यों द्वारा भी शिक्षा लेने की प्रथा थी । राज्य की ओर से इन्हें इसके लिए भूमि दी जाती थी ।

सातवाहन काल

यह काल विदेशी आक्रमणों का काल था ।शक,पार्थियन कुषाण,आदि अनेक विदेशी आक्रमणकारी आये,जिससे पुन: सामाजिक व्यवस्था की समस्या उठी,अत: समाज में चतुर्वर्ण व्यवस्था पुन: कठोर हो गई । इन चार वर्णों के अतिरिक्त कुछ अन्य वर्ण भी हुए,जिनका आधार व्यवसाय था । समाज में स्त्रियों की दशा पूर्ववत् थी । अन्तर्जातीय विवाह भी प्रचलित था ।

यह युग वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का युग था । सात-वाहनों के राजाश्रय में वैदिक धर्म पुन: पल्लवित हुआ,फलस्वरूप ब्राह्मण वर्ग सर्वोपरि माना गया । अनेक प्रकार के यज्ञादि का प्रचलन हुआ,जिसमें ब्राह्मणों को प्रचुर मात्रा में दान-दक्षिणा मिलता था । वैष्णव तथा शैव धर्म का प्रचार भी बढ़ा । वैष्णव धर्म को विदेशियों ने भी अपनाया । इस युग में कर्मकाण्ड की पुन: स्थापना हुई । नाग तथा नन्दी की पूजा का प्रचलन भी प्रारम्भ हुआ । तीर्थ स्थानों का विशेष महत्व था तथा पवित्र नदियों में स्नान और दान की प्रथा थी । इस युग में संस्कृत भाषा की पुन: उन्नति हुई ।

गुप्तकाल

इस काल में भी समाज, वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था और छुआछूत की भावना जड़ पकड़ने लगी थी । ब्राह्मण सर्वोपरि माने

जाते थे तथा ब्राह्मण धर्म का प्राबल्य हो गया था । सभी वर्ण अपने निर्दिष्ट कार्य करते थे,परन्तु वर्णों तथा व्यवसायों का परिवर्तन भी होता था ।चांडाल तथा श्वपच आदि जातियां गांव या नगर से बाहर रहता थीं । नगर या गांव में आते समय ये लोग लकड़ी बजाया करते थे ।इनका स्पर्श निषिद्ध था ।

नारी का स्थान समाज में सामान्य था । वह पति के साथ धार्मिक कार्यों में भाग लेती था ।परदा प्रथा का प्रचलन नहीं था,स्त्रियां राजनीति में भी भाग लेती थी । बहु विवाह की प्रथा प्रचलित थी ।अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे । अनमेल विवाह तथा अनुलोम और प्रतिलोम विवाह भी होते थे । विधवा विवाह तथा सती प्रथा का भी प्रचलन था ।

दास-प्रथा उस समय भी प्रचलित थी,परन्तु ब्राह्मण और स्त्री का क्रय-विक्रय दास रूप में नहीं किया जाता है । यदि कोई स्त्री दास से विवाह कर लेती थी तो वह दासी बन जाती थी । इसी प्रकार यदि कोई दासी अपने स्वामी से गर्भ धारण कर ले तो वह दासी के कर्म से मुक्त हो जाती थी ।

इस समय वैष्णव,शैव,शाक्त,सूर्य आदि धार्मिक संप्रदायों का विकास हुआ । विष्णु के अवतारों,लक्ष्मी,शक्ति,दुर्गा,चामुण्डा ,वाराही आदि देवियों तथा सूर्य और ब्रह्मा आदि देवताओं की पूजा का प्रचलन था । तीर्थ यात्रा, पूजा-पाठ तथा दान-पुण्य का विशेष महत्व था ।

इस समय तक बौद्ध धर्म का पर्याप्त विकास हो चुका था । तथा अनेक बौद्ध विहार और शिक्षा के केन्द्र थे । इस युग में कला की पर्याप्त उन्नति हुई,अजन्ता के भित्ति चित्र इसके प्रमाण हैं । साहित्य के क्षेत्र में भी महाभारत तथा पुराणों का संकलन हुआ ।

मध्यकाल(पूर्वार्द्ध)

इस युग में प्राचीन परम्परायें और दृढ़ हो गईं तथा समाज पर ब्राह्मणों का आधिपत्य हो गया । दान और श्रद्धा से ब्राह्मणों का आदर किया जाता था । वे धर्मप्रवण तथा तपोनिष्ठ होते थे । समाज में

संकीर्णता बढ़ रही थी,फलत: जाति व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गई। परिणामस्वरूप समाज में असहिष्णुता,अनुदारता तथा रूढ़िवादिता का प्रादुर्भाव हुआ।

विवाह माता-पिता द्वारा निश्चित किया जाता था। इस समय तक बाल विवाह का प्रचलन प्रारम्भ हो चुका था। जाति प्रथा के दृढ़ हो जाने के कारण विवाह भी सजातीय होने लगे। बहुविवाह का प्रचलन था,परन्तु विवाह विच्छेद का नहीं। स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं था,फिर भी निम्न जाति की स्त्रियाँ दूसरा विवाह करती थीं। सती प्रथा उस समय भी प्रचलित थी। कन्याओं का हरण भी होता था। समाज में स्त्रियों का स्थान सामान्य था।

नालन्दा और तक्षशिला शिक्षा के केन्द्र तो थे,परन्तु सर्वसाधारण में शिक्षा का ह्रास हो रहा था। उस समय कला की उन्नति भी न हो सकी। जो कुछ कलाकृतियाँ मिलती भी है,उनमें अश्लीलता तथा रूढ़िवादिता का ही प्रभाव मिलता है। तंत्र मंत्र आदि पर लोगों का विश्वास बढ़ रहा था।

उस समय हिन्दू धर्म,बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म विशेष रूप से प्रचलित थे। परन्तु बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव शनै: शनै: समाप्त हो रहा था। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के प्रयत्नों से हिन्दू धर्म का प्रचार बढ़ रहा था, जिसमें वैदिक कर्मकाण्डों की प्रधानता थी। इसी समय भक्ति-मार्ग का भी उदय हुआ,फलस्वरूप शंकराचार्य के अद्वैतवाद तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैत वाद का विशेष रूप से प्रचार हुआ। इस युग के प्रमुख देवता विष्णु और शिव माने गये। आधुनिक हिन्दू धर्म ने भी इसी समय अपना स्वरूप ग्रहण किया।

मध्यकाल(उत्तरार्द्ध)

इस समय तक मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। भारतीय तथा मुस्लिम धर्म और आदर्शों में बहुत अन्तर था अत: परस्पर संघर्ष का होना भी स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ कि समाज में

संकीर्णता तथा रूढ़िवादिता और भी दृढ़ हो गई। ब्राह्मणों की प्रभुता तथा समाज की कठोर व्यवस्था से दु:खी लोगों ने मुस्लिम धर्म अपनाना प्रारम्भ कर दिया, फलत: मुसलमानों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती गई। कुछ निर्दोष लोग भी जिन्हें हिन्दू समाज ने बहिष्कृत कर दिया था स्वेच्छा से मुसलमान बन गये। इस विषय में दिनकर जी ने लिखा है --"इस्लाम भारत में खड्ग बल से नहीं फैला। वास्तव में हिन्दुत्व के ज़ुल्म से घबराये हुए गरीब लोग ही अपना त्राण पाने को इस्लाम के भण्डे के नीचे चले गये।[१]

मुसलमानों के शासन-काल में हिन्दू संस्कृति और इस्लाम संस्कृति एक-दूसरे के निकट आयी तथा दोनों ने ही एक-दूसरे को प्रभावित किया। हिन्दुओं के प्रभावस्वरूप मुसलमानों में भी जाति प्रथा का प्रचलन हुआ। वे भी शरीफ और रज़ील का भेद मानने लगे तथा उनकी स्त्रियां भी विवाह के बाद मांग में सिन्दूर तथा नाक में नथ पहनने लगी। हिन्दुओं ने मुसलमानों के भोजन तथा पहनावे का अनुकरण किया। मुस्लिम प्रभाव के कारण ही यहां भी परदा प्रथा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

इस युग में इस्लाम धर्म भारत का प्रमुख धर्म बन गया। इस धर्म में परोपकार, संयम तथा भाई चारे और ईमानदारी पर विशेष बल दिया गया। इनके अनुसार सभी मनुष्य अल्लाह की सन्तान हैं। दिन में पांच बार नमाज पढ़ना तथा शुक्रवार को सामूहिक नमाज और रोज़ा इस धर्म की विशेषता है। इस्लाम धर्म में मूर्तिपूजा, ऊंचनीच की भावना तथा अवतारवाद का खण्डन और जाति प्रथा की कुरीतियों का विरोध कर मानव समानता पर बल दिया गया। इस्लाम के प्रभावस्वरूप हिन्दू धर्म में अनेक सम्प्रदायों की स्थापना हुई। इनमें सन्तमत तथा सूफी मत का विशेष प्रचलन हुआ। इस्लाम धर्म पर हिन्दू धर्म का तथा सूफी मत पर वेदान्त दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा। कबीर ने हिन्दू और मुस्लिम धर्म के बीच की दूरी को समाप्त करने का प्रयत्न किया। इन्होंने दोनों धर्मों के अन्धविश्वासों

---

१ संस्कृति के चार अध्याय : दिनकर, प्रथम संस्करण, पृ०२६४

और बाह्याडम्बरों की खिल्ली उड़ाई और धार्मिक सामंजस्य तथा धर्म की मौलिकता प्रतिपादित की। अल्लाह, खुदा, राम और रहीम को उसी एक ब्रह्म का विभिन्न रूप बताया।

कबीर की ही भांति सिख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक ने निर्गुण ईश्वर की उपासना का प्रारम्भ किया। आपने भी धार्मिक आडम्बरों, कर्मकांड तथा ऊंच नीच की भावना का खण्डन किया तथा सभी को अपने धर्म में दीक्षित किया।

स्त्रियों की दशा दिन-प्रति-दिन गिरती गई, यहां तक कि उन्हें शूद्र की कोटि में रख दिया गया। विवाह की स्वतन्त्रता तो समाप्त हो ही गई थी, अब चुनाव का कार्य भी माता-पिता करने लगे। इस समय बाल विवाह का प्रचलन अधिक हो गया, अत: स्त्रियों की शिक्षा समाप्त हो गई। सती प्रथा का प्रचलन था तथा पर्दे की प्रथा और भी दृढ़ हो गई।

इस युग में साहित्य तथा कला की विशेष उन्नति हुई। चित्र कला के अन्तर्गत मुगलशैली तथा पहाड़ी शैली का प्रचलन हुआ, साथ ही भवन निर्माण कला की भी उन्नति हुई। ताजमहल, हुमायूं का मकबरा, मोती मस्जिद, व जहांगीर महल आदि इसके प्रमाण हैं।

आधुनिक युग

१६ वीं शताब्दी से नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। इस समय तक अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था, फलत: इनकी संस्कृति तथा इनके विचारों का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ने लगा। अंग्रेजों के साथ उनका धर्म ईसाई धर्म भी भारत में आया। परिणामस्वरूप अनेक ईसाई मिशनरियों की स्थापना हुई। हिन्दू धर्म की कट्टरता के कारण अधिकांश लोग इस धर्म की ओर आकृष्ट होने लगे, फलस्वरूप अनेक धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ जिनका उद्देश्य, हिन्दू धर्म में आ गये विभिन्न दोषों का निराकरण करना था। इन आन्दोलनों के प्रभाव स्वरूप धार्मिक रूढ़िवादिता तथा

अन्धविश्वासों का खण्डन होने लगा। तर्क तथा बुद्धि का प्राबल्य हो गया। इसी समय राजाराम मोहनराय का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा पर जोर दिया तथा मूर्तिपूजा का खण्डन किया। इन्होंने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। इसमें भी कुछ लोगों ने तो हिन्दू धर्म के परम्परागत रूप को अपनाया जिसमें बालगंगाधर तिलक, रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द जी थे। कुछ अन्य लोगों ने हिन्दू धर्म के आडम्बर वाले पक्ष को छोड़ कर उसके संशोधित रूप को अपनाया, जिसमें प्रमुख हैं स्वामी दयानन्द सरस्वती।

वर्तमान काल में कुछ तो भारतीय संस्कृति के कारण और कुछ पाश्चात्य प्रभाव के कारण ऊँच-नीच की भावना तथा सामाजिक अनुदारता का अन्त हो गया। स्त्रियों को भी पुरुषों के समान सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकार प्राप्त होने लगे तथा उनकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो गया। स्त्री-शिक्षा का पुनः प्रचलन हुआ तथा बाल विवाह और सती-प्रथा का अन्त हो गया। अब स्त्रियां विवाह के लिए चुनाव करने में पूर्ण स्वतन्त्र हो गईं। विवाह भी पूर्ण वयस्क होने पर होने लगा। बहुविवाह की प्रथा समाप्त हो गई तथा स्त्रियों को पुनर्विवाह और सम्बन्धविच्छेद के अधिकार प्राप्त हो गये। विधवा विवाह को भी मान्यता दी गयी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद धर्म, सम्प्रदाय, छुआछूत आदि को अवैध घोषित कर दिया गया तथा अन्तर्जातीय विवाह को प्रश्रय मिला।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक काल तक अनेक धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तनों के बीच भी अक्षुण्ण रही और समय-समय पर आने वाली विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में आकर निरन्तर विकसित होती रही। विभिन्न संस्कृतियों के ग्राह्य तत्वों को ग्रहण कर भारतीय संस्कृति सदा परिवर्तित तथा परिवर्धित होती रही है।

भारतीय संस्कृति के निर्धारित तत्व

प्रत्येक देश की अपनी-अपनी संस्कृति होती है तथा प्रत्येक संस्कृति एक-दूसरे से भिन्न होती है और प्रत्येक संस्कृति की अपनी अलग-अलग विशेषता होती है जो उसे अन्य संस्कृतियों से पृथक् करती है। भारतीय

संस्कृति की भी कुछ अपनी विशेषताएं हैं, जो उसे अन्य संस्कृतियों से पृथक करती हैं तथा सबकी दृष्टि में आदरणीय तथा प्रशंसनीय बनाती हैं। भारतीय संस्कृति के विषय में बच्चन सिंह ने लिखा है--" संस्कृति का संबंध अन्त:करण की उदात्त वृत्तियों से होता है। सत्य, अहिंसा, क्षमा, तपश्चर्या आदि भारतीय संस्कृति के उपकरण रहे हैं। इनके आधार पर निर्मित आचार-विचार की परम्परा ही भारतीय संस्कृति है।"[१]

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भारतीय संस्कृति की भिन्न-भिन्न विशेषताएं बतायी हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार भारतीय संस्कृति की विशेषता है--- मृत्युंजयता, प्राचीनता, सामंजस्यता, सहिष्णुता तथा समन्वयात्मकता।[२] डा० लल्लन जी गोपाल तथा डा० बृजनाथ सिंह यादव के अनुसार भारतीय संस्कृति की विभिन्न विशेषताएं हैं-- प्राचीनता, चिरस्थायिता, सहिष्णुता, ग्रहणशीलता, सांस्कृतिक एकता, धर्म प्रधानता और सर्वांगीणता।[३] मदनगोपाल के गुप्त के अनुसार भारतीय संस्कृति की विशेषताएं इस प्रकार हैं --अमृतत्व, आध्यात्मिकता, लक्ष्ययुक्त जीवन, शाश्वत जीवन का चतुस्सूत्रीय जीवन क्रम, सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधारित समाज-व्यवस्था, कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त, समस्त जड़ व चेतन प्रकृति के प्रति एकात्मता की भावना, लोक मंगल अथवा लोक कल्याण की भावना, आदि।[४] डा० बलदेवप्रसाद मिश्र के अनुसार भारतीय संस्कृति के तत्व हैं-- सनातनता, अविनश्वरता, सहिष्णुता (सर्व सहता), समन्वयता(सर्वग्रहता), सर्वव्यापकता(सर्वांगीणता), इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति चिरन्तन जीवनवाली है, बुद्धिमूलक है, आध्यात्मिकता प्रधान है और सर्वांगीण पुरुषार्थ की कल्याण साधिका है।[५] डा० सत्यनारायण पाण्डेय और डा० आर०वी० जोशी ने भारतीय संस्कृति की निम्न विशेषताएं मानी हैं --

---

१ "हिन्दी नाटक" : बच्चन सिंह, पृ०१२४

२ "आर्य संस्कृति" : आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ०४२२-४२६

३ "भारतीय संस्कृति" : डा० लल्लन जी गोपाल तथा डा० बृजनाथ सिंह यादव, पृ०१-६

४ "मध्यकालीन काव्य में भारतीय संस्कृति" : मदनगोपाल गुप्त, पृ०५३-७४

५ "भारतीय संस्कृति" : डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, पृ०१०६

समन्वयवादिता, उदारता, एकात्मक अनेकता, संश्लिष्टता, अवसरानुकूलता तथा गतिशीलता, पारभौतिकता तथा सूक्ष्मता आदि[१]। डा० रामजी उपाध्याय के अनुसार भारतीय संस्कृति के तत्व निम्न हैं-- सार्वजनीनता, सर्वांगीणता, देव-परायणता, धर्म परायणता, आश्रम व्यवस्था, आध्यात्मिकता, कर्मफल आदि[२]। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को तीन शब्दों में व्यक्त किया है -- त्याग, तपस्या और तपोवन[३]। उपरोक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी विशेषतायें हैं, जिसे लगभग सभी विद्वानों ने माना है। इस दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय संस्कृति की कुछ विशेषतायें इस प्रकार हैं --

प्राचीनता

भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है। इसका विकास ईसा से कई शताब्दियों पूर्व हो चुका था। जब अन्य देशों में बर्बरता का साम्राज्य था, उस समय भी भारत में अत्यन्त विकसित संस्कृति थी। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से यह बात प्रमाणित हो चुकी है।

मृत्युंजयता

भारतीय संस्कृति अमर है। वह अत्यन्त प्राचीन होकर भी नवीन है। करुणा, मैत्री, उदारता, एकता की भावना, आदि भारतीय संस्कृति के शाश्वत तत्व हैं। अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक उथल पुथल के बीच भी वह अक्षुण्ण बनी रही, उसका कभी लोप नहीं हुआ, भले ही वह अपना कलेवर बदलती रही। उसका स्थायित्व आज भी उसी प्रकार है।

लक्ष्ययुक्त जीवन

भारतीय संस्कृति में जीवन के लक्ष्य के रूप में चार पुरुषार्थ बताये गये हैं-- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म के बिना अर्थ और काम का कोई

---

१ `भारतीय संस्कृति के मूल तत्व` : डा० सत्यनारायण पाण्डेय, डा०आर०बी० जोशी, पृ० ५-१० ।
२ `भारतीय संस्कृति का उत्थान` : राम जी उपाध्याय, पृ०११-१३
३ `आर्य संस्कृति` : आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ०४१५-१६

मूल्य नहीं है, परन्तु अर्थ और काम की उपेक्षा नहीं की गई है। इसके लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की गई है, जिसके सम्यक् पालन से चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्मचर्याश्रम द्वारा धर्म की, गृहस्थाश्रम द्वारा अर्थ और काम की तथा वानप्रस्थ एवं सन्यासाश्रम द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का विधान किया गया है।

समन्वयवादिता

भारतीय संस्कृति समन्वयप्रधान संस्कृति है। भारत में समय-समय पर अनेक विचारधाराओं, धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और परम्पराओं का अभ्युदय हुआ, परन्तु समन्वय के गुण के कारण उनमें कभी संघर्ष नहीं हुआ, वरन् सभी को इसने आत्मसात् कर लिया। भारतीय संस्कृति वास्तव में अनेक संस्कृतियों का समन्वित रूप है।

सर्वांगीणता

भारतीय संस्कृति द्वारा सर्वांगीण विकास का अवसर प्राप्त होता है। यद्यपि यह संस्कृति धर्मप्रधान है, तथापि इसमें केवल आध्यात्मिकता की ही प्रधानता नहीं है, वरन् लौकिक जीवन की भी उतनी ही महत्ता है। ईश्वरभक्ति के साथ ही लौकिक जीवन में अनेक आश्रमों तथा नियमों द्वारा कर्तव्य-पालन की समुचित व्यवस्था की गई है। जैसे गृहस्थाश्रम में घर की समुचित व्यवस्था के लिए धनोपार्जन का तथा पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए पुत्रप्राप्ति की अनिवार्यता बतायी गयी है। इसके अतिरिक्त अनेक संस्कारों का जो जन्म से मृत्युपर्यन्त करने होते हैं, का समुचित पालन आवश्यक बताया गया है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति द्वारा लौकिक पारलौकिक तथा शारीरिक एवं मानसिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया गया है।

अनेकता में एकता की भावना

अनेक उथल-पुथल तथा राजनैतिक हलचलों के बाद भी भारतीय संस्कृति सदा अक्षुण्ण रही, क्योंकि इसके अन्दर ऐसी जीवनी-शक्ति

है जो सबको आत्मसात् कर लेती है,जिसके परिणामस्वरूप इस संस्कृति के बाह्य रूप में विविधता पाई जाती है । आज भारत में अनेक धर्म तथा सम्प्रदाय हैं,जो एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं पर उन सभी के मूल में भारतीयता विद्यमान है । जितने अधिक धर्म तथा सम्प्रदाय भारत में पाये जाते हैं,उतने अन्य कहीं नहीं पाये जाते हैं । इन सभी विभिन्नताओं के अन्दर भी एकता है जो सब को एक सूत्र में बांध रखती है ।

चिरस्थायित्व

भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण धारा अब तक निरन्तर प्रवाहित होती रही है । इसमें समय-समय पर अनेक परिवर्तन होते रहे हैं तथा उनमें अनेक तथ्यों का समावेश भी होता रहा है । परन्तु इसका मूल आन्तरिक रूप वैसा ही रहा जैसा सदियों पूर्व था । भारतीय संस्कृति का अतीत आज भी अपने वर्तमान रूप में विद्यमान है । वैदिक युग की अनेक परम्परायें आज भी किसी-न-किसी रूप में परिलक्षित होती हैं ।

आध्यात्मिकता

भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता उसकी आध्यात्म की भावना है । इस स्थूल से परे भी एक सत्ता है,जिसके संकेत पर सृष्टि का सम्पूर्ण कार्य संचालित होता है । वह विश्वात्मा ही सृष्टि का कर्ता,पालक और संहारक है । जीवन का ध्येय विश्वात्मा में लीन हो जाना है,अत: जीवन में किये जाने वाले सम्पूर्ण कार्य-व्यापार में आध्यात्मिकता किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है । भारतीय संस्कृति में भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को श्रेष्ठ माना गया है, परन्तु भौतिकता की उपेक्षा भी नहीं की गई है ।

गतिशीलता

गति ही जीवन है,स्थिरता मृत्यु है । भारतीय संस्कृति मृत्युंजय है अर्थात् यह गतिशील है । अनेक जातियों तथा संस्कृतियों के सम्पर्क

में आने से भारतीय संस्कृति में अनेक परिवर्तन हुए । अन्य संस्कृतियों के ग्राह्य तत्वों को ग्रहण कर और अपने अग्राह्य तत्वों को त्याग कर यह संस्कृति सदैव गतिशील रहा। भारतीय संस्कृति ऐसी सुरसरि है, जिसमें अनेक नदियों का जल मिल कर उसकी गतिशीलता में वृद्धि करता रहता है ।

अमृतत्व या मोक्ष

भारतीय जीवन का अन्तिम लक्ष्य अमृतत्व प्राप्त करना है । जब तक इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती, मनुष्य बारम्बार जन्म लेता हुआ इसी लक्ष्य की तरफ निरन्तर अग्रसर होता रहता है । भारतीय जीवन-दर्शन के चार पुरुषार्थों में अर्थ तथा काम को धर्म द्वारा नियंत्रित कर मोक्ष को जीवन का चरम साध्य, अन्तिम लक्ष्य माना गया है । अर्थ के लिए दूसरे का अहित करना अथवा काम में असंयमी होना उचित नहीं है। अनुचित उपायों द्वारा अनियंत्रित कर्म करने से नैतिक पतन के साथ-साथ शारीरिक क्षय और सामाजिक अशान्ति तथा संघर्ष उत्पन्न होता है । संयम तथा सच्चरित्रता के साथ जीवन के उत्तरदायित्वों को पूरा करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करना भारतीय जीवन का चरम साध्य है ।

धर्म की प्रधानता

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान संस्कृति है । अतः यहाँ जीवन के समस्त कार्य-व्यापार धर्म पर आधारित होते हैं तथा जीवन का लक्ष्य भी धर्म का संचय करना है । धर्मविहीन भौतिक सुख अग्राह्य समझा जाता है । भारतीय संस्कृति के सभी अंगों, तत्वों तथा स्वरूपों में धर्म की प्रधानता रहती है । भारतीय संस्कृति के अनुसार जन्म से मृत्यु तक मनुष्य के सारे कर्म-धर्म से अनुप्राणित होने चाहिए । इस मान्यता के कारण बहुधा कहा जाता है कि भारतीय संस्कृति सन्यास और वैराग्य से पूर्ण होने के कारण निष्क्रियता तथा उदासीनता की भावना से पूर्ण संस्कृति है । परन्तु यह सत्य नहीं है । गृहस्थाश्रम का विशेष महत्व इसकी लौकिक उन्नति को

भावना तथा क्रियाशीलता का प्रमाण है । धर्म की प्रधानता के कारण इस संस्कृति को निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गीता का कर्म योग जिसमें धर्म की भावना से अनुप्राणित हो ईश्वर को अर्पित करके प्रत्येक कार्य को करने का उपदेश दिया गया है, निष्क्रियता का नहीं, वरन् कर्मण्यता का सन्देश देता है । भारतीय संस्कृति कर्म-प्रधान संस्कृति है, परन्तु कर्म का धर्म से अनुप्राणित होना आवश्यक है ।

देव परायणता

धार्मिक प्रधानता के कारण ही भारतीय संस्कृति में अनेक देवी-देवताओं की आराधना का प्रचलन है और इसी भावना के फलस्वरूप ईश्वर पर अटूट विश्वास परिलक्षित होता है ।

आश्रम

भारतीय संस्कृति में सम्पूर्ण जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है-- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास । ब्रह्मचर्य का उद्देश्य है कि सच्चरित्रता, नैतिकता, संयम आदि पवित्र संस्कारों की शिक्षा देना । गृहस्थाश्रम में का उद्देश्य है, जीवन के उत्तरदायित्वों का धर्म के साथ पालन करना । वानप्रस्थाश्रम में गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वों से मुक्त होकर ईश्वर-भजन करने का निर्देश किया गया है और सन्यासाश्रम में मोक्ष प्राप्ति का विधान है । इस प्रकार आश्रम व्यवस्था द्वारा जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सन्तुलन किया गया है ।

कर्मफल तथा पुनर्जन्म

भारतीय संस्कृति में कर्मफल तथा पुनर्जन्म पर विश्वास किया जाता है । इसके अनुसार मनुष्य के कर्म ही उसके भविष्य के निर्माता हैं, अत: 'कर्म ही इच्छाओं तथा स्वयं जागतिक कार्य-कलापों का मूल है और इसीलिए अपनी प्रत्येक परिस्थिति के हमीं उत्तरदायी अथवा कारण तथा परिणाम दोनों ही हैं।[1]' इस विश्वास के कारण यहाँ सत्कर्म पर विशेष

१ 'कर्मयोग' : स्वामी विवेकानन्द, तृतीय संस्करण, पृ०८ 'कर्म का चरित्र पर प्रभाव' ।

बल दिया जाता है,फलस्वरूप दया,उदारता,प्रेम, सहिष्णुता आदि सद्गुणों का विकास होता है । मृत्यु के पश्चात् कर्म के अनुसार ही दूसरा जीवन प्राप्त होता है तथा इस जन्म के परस्पर सम्बन्ध भी अगले जन्म में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहते हैं ।

वर्ण व्यवस्था

भारतीय समाज को व्यवस्थित रखने के लिए चार वर्णों में विभक्त किया गया तथा उनके पृथक्-पृथक् कर्तव्यों का निर्देश भी किया गया है । कोई भी मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण नहीं कर सकता है । इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर चतुर्वर्ण का विभाजन हुआ । इस व्यवस्था के अनुसार सभी वर्ण के लोग अपने निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन करते हैं । ब्राह्मण का कार्य अध्ययन-अध्यापन तथा आध्यात्मिक उन्नति करना और कराना,क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना, वैश्य का पोषण करना और शूद्र का सेवा करना है । इस प्रकार चारों वर्ण अपने कर्तव्य-पालन द्वारा समाज की उन्नति में संलग्न रहते हैं ।

अनासक्त कर्मयोग

गीता में प्रतिपादित अनासक्त कर्मयोग भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है । इसके अनुसार कर्म के प्रति आसक्ति या मोह नहीं होना चाहिए । अज्ञान वश मोह उत्पन्न होता है और मोह ही बन्धन है । मोह के बन्धन से छूट कर ही ज्ञान प्राप्त होता है । अर्थ और काम की प्राप्ति अनिवार्य है,परन्तु फल की इच्छा से रहित होकर ही इसकी प्राप्ति का विधान किया गया है । ईश्वर को अर्पित कर किया गया कर्म जीव को बन्धन में नहीं बांधता है । आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है ।

लोक-कल्याण

सभी जड़-चेतन प्रकृति को आत्मवत् समझने के कारण लोक-कल्याण की भावना का उदय होता है । दूसरों के हित की रक्षा

करना तथा उनके लिए मंगलकामना करना इस संस्कृति का विशेष गुण है। भारतीय संस्कृति में परोपकार को ईश्वरप्राप्ति का साधन माना गया है, क्योंकि इससे अहं का नाश होता है और विश्वमैत्री की भावना का उदय होता है।

परलोक में विश्वास

भारतीय संस्कृति में ऐसे लोक की कल्पना की गयी है, जिसे स्वर्ग और नर्क कहते हैं। मृत्यु के पश्चात् जीव अपने कर्मानुसार स्वर्ग या नर्क की प्राप्ति करता है। जीवन में किए गए मानवतापूर्ण अच्छे कर्म द्वारा स्वर्ग की तथा हिंसा और क्रूरता से युक्त अमानवीय कर्मों से नर्क की प्राप्ति होती है। स्वर्ग में जीव अनेक सुखों का उपभोग करता है तथा नर्क में अनेक यातनाएं सहन करनी पड़ती हैं। स्वर्ग की लालसा तथा नर्क का भय मनुष्य को सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त करने में सहायक होता है।

तप

तप की अग्नि में तप कर ही मानव जीवन निर्मल होता है और हृदय के निर्मल हो जाने पर ही ईश्वर का साक्षात्कार होता है, जो भारतीय जीवन का परम लक्ष्य है।

एकता की भावना

समस्त जड़-चेतन प्रकृति के प्रति एकता की भावना भारतीय संस्कृति की विशेषता है। भारतीय दर्शन के अनुसार अनन्त ब्रह्म सभी जड़ चेतन पदार्थों में विद्यमान रहता है। अन्तर केवल बाह्य कलेवर का है, आत्मा सबकी एक ही है। इसी भावना के फलस्वरूप विश्वास किया जाता है कि मनुष्य के समान ही समस्त जड़-चेतन पदार्थ भी सुख-दु:ख का अनुभव करते हैं। इसी कारण यहां हरे-भरे पेड़ को काटना तथा पशु-पक्षियों का वध करना अधर्म समझा जाता है। इसी आत्मवत भावना के कारण कहा गया है कि किसी

को भी, किसी के प्रति ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए, जिसका अपने प्रति किया जाना स्वयं को कष्टदायक लगे[1]। पद्मपुराण में कहा गया है --'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'।

स्याग

भारतीय जीवन त्यागमय है। दूसरों के सुख तथा कल्याण के लिए अपने सुखों का त्याग करना धर्म माना जाता है। भारतीय जीवन में परमार्थ की भावना का प्राधान्य है।

उदारता

भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार है। भारतवर्ष सदा से अनेक धर्मों, मतों, वर्णों और वर्गों का केन्द्र रहा है, सभी को यहां समान स्थान मिला तथा सब की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया गया। इसी विशेषता के कारण भारतीय संस्कृति आज तक सजीव और सक्रिय बनी हुई है। भारतीय संस्कृति में प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता और उदारता की भावना दृष्टिगोचर होती है। इसका कारण सम्पूर्ण संसार को ईश्वरमय समझने की प्रवृत्ति है। राम, अल्लाह, रहीम आदि उस ईश्वर के विभिन्न नाम हैं और विभिन्न उपासना-पद्धतियां ईश्वर तक पहुंचने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। इसी कारण भारत में वैष्णव, शैव, शाक्त तथा बौद्ध और जैन धर्म एक साथ ही विद्यमान रहे। जो धार्मिक विद्वेष इतिहास में मिलते हैं, वे अपवाद-स्वरूप हैं।

ग्रहण शीलता

अपने को विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल बना लेना भारतीय संस्कृति की विशेषता है। भारत पर अनेक ब आक्रमण हुए, परन्तु हर बार आक्रमणकारियों के साथ आयी हुई संस्कृति को इसने आत्मसात् कर लिया और विभिन्न विदेशी प्रभावों के ग्राह्य तत्वों को ग्रहण कर सदा नवीन बनी रही। यही कारण है कि इसका सदा विकास होता रहा है। भारतीय संस्कृति अपनी वैदिक मान्यताओं तथा अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए भी समय-समय पर परिस्थितियों के अनुकूल सदा परिवर्तित होती रही है।

---

१ 'पद्म पुराण' - सृष्टि खण्ड-- १६, ३५८

सांस्कृतिक एकता

भारत की धार्मिक विभिन्नता को देखकर कहा जाता है कि भारत में सांस्कृतिक एकता का अभाव है । यह सत्य है कि राजनीतिक दृष्टि से भारत बहुत कम समय के लिए एकता के सूत्र में बंध सका, परन्तु अन्य दृष्टियों से यहां सदा एकता रही है । राजनीतिक एकता के लिए भी समय-समय पर अश्वमेघ यज्ञ तथा राजसूय यज्ञ करने के उदाहरण मिलते हैं । इसके अतिरिक्त यहां की सात पवित्र नदियां एक स्थान पर न होकर देश के कोने-कोने में स्थित हैं । इसी प्रकार धार्मिक स्थल भी देश के कोने-कोने में स्थित हैं, जिन्हें समान आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है । यहां प्रचलित भाषाएं भी मूलरूप में संस्कृत भाषा से प्रभावित हैं । विभिन्न जातियां जो भारत में आयीं, वे भी, कुछ तो एक-दूसरे के सम्पर्क में आने से और कुछ भौगोलिक एकता के कारण एक समान हो गयीं । इसके अतिरिक्त पुराण, रामायण, महाभारत और गीता समानरूप से श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं । इन सब उदाहरणों से भारतीय संस्कृति की एकता स्पष्ट हो जाती है ।

उपरोक्त गुणों के कारण ही भारतीय संस्कृति अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन होने पर भी नित नूतन तथा चिरस्थायी बनी है और दिन-प्रतिदिन इसका संवर्धन तथा परिवर्द्धन हो रहा है ।

भारतीय संस्कृति और धर्म

धर्म 'धृ' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है धारण करना । हर वस्तु का अपना-अपना धर्म होता है, जैसे अग्नि का धर्म है उष्णता । यदि अग्नि से उसका धर्म हटा दिया जाय तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। यही नियम मनुष्य पर भी लागू होता है । यदि मनुष्य की मनुष्यता नष्ट हो जाय तो मनुष्य का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, क्योंकि मनुष्यता ही मनुष्य का प्राकृतिक धर्म है । इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि धर्म के बिना किसी चीज़ का अस्तित्व नहीं रह जाता । धर्म के अन्तर्गत कुल-धर्म, देश-धर्म, जाति-धर्म के अतिरिक्त नियम, संयम, अक्रोध आदि सभी गुण आ जाते हैं । अर्थात् जिस

किसी नियम द्वारा मानवता का विकास हो वही धर्म कहा जाता है। इस प्रकार साधारण नियम और संयम भी धर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि धर्म द्वारा लौकिक उन्नति के साथ-साथ पारलौकिक आनन्द भी प्राप्त होता है।

'धर्म' शब्द अंग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द के समानार्थक प्रयोग किया जाता है, परन्तु दोनों शब्द समानार्थक नहीं हो सकते, क्योंकि रिलीजन शब्द केवल मानव के बाह्याचारों का जिससे उनमें एकता उत्पन्न होती है, द्योतक है, जब कि धर्म शब्द बाह्याचारों के अतिरिक्त आत्मा के विकास, तथा परमात्मा के चिन्तन का भी द्योतक है। धर्म से अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ईश्वर और परलोक की कल्पना द्वारा जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ, वही धर्म कहलाया। जैसे बुद्ध द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त बौद्ध धर्म तथा ईसा मसीह द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ईसाई धर्म के नाम से जाना गया।

बहुधा धर्म और संस्कृति को एक ही मानते हैं, परन्तु यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। धर्म और संस्कृति का एक-दूसरे से अटूट संबंध अवश्य है परन्तु दोनों एक ही नहीं हैं। संस्कृति और धर्म का अन्तर बाबू गुलाबराय ने इस प्रकार बताया है --'धर्म में श्रुति, स्मृतियों और पुराण ग्रन्थों का आधार रहता है, किन्तु संस्कृति में परम्परा का आधार रहता है[१]।' प्रसिद्ध धर्मोपदेशक श्री करपात्री जी ने भी लिखा है कि 'धर्म और संस्कृति में इतना ही भेद है, कि धर्म केवल शास्त्रैकसमाधिगम्य है और संस्कृति में शास्त्र से अविरुद्ध लौकिक कर्म भी परिगणित हो सकता है[२]।' संस्कृति का मूल धर्म है। धर्म से मनुष्य में सदाचार, संयम, सहनशीलता, दया, साहस आदि गुण उत्पन्न होते हैं। धर्म

---

१ 'भारतीय संस्कृति की रूपरेखा' : बाबू गुलाबराय, संस्करण १९५६, पृ०१

२ 'कल्याण' - हिन्दू संस्कृति अंक, पृ०३६

के ये गुण संस्कृति के अन्तर्गत आते अवश्य हैं,पर केवल यही संस्कृति नहीं है । किसी भी एक देश में धर्म की विभिन्नता हो सकती है, परन्तु संस्कृति की नहीं,अर्थात् एक देश में रहने वाले विभिन्न धर्मानुयायियों की संस्कृति एक होती है । संस्कृति का आधार बुद्धि और विवेक है ,इसलिए वह रूढ़ि-ग्रस्त नहीं है ,अत: निरन्तर विकासशील है , परन्तु धर्म रूढ़िग्रस्त है । धर्म में अपने-अपने धार्मिक ग्रन्थों,परमात्मा, परलोक और परमपद का विशेष महत्व है ,परन्तु संस्कृति में आत्मा-परमात्मा के अतिरिक्त लौकिक विकास और सुविधाओं को भी महत्वपूर्ण माना जाता है ।

धर्म और संस्कृति में एक अन्तर यह भी है कि धर्म किसी देश विशेष से बंधा नहीं है । किसी देश का धर्म अन्य देशों में भी प्रचलित हो सकता है,परन्तु संस्कृति का संबंध देश विशेष से ही होता है ।

मनु ने वेद, स्मृति,सदाचार और अपना संतोष ये चार धर्म के लक्षण बताये हैं[1] । धर्म,वेद और स्मृति के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। धर्म की महत्ता बताते हुए मनु ने पुन: कहा है कि उस अर्थ और काम का त्याग कर देना चाहिए जो धर्म वर्जित हो । जिस धर्म का परिणाम दु:खदायी हो अथवा जिससे लोक-निन्दा होती हो, वह धर्म भी छोड़ देना चाहिए[2] । क्योंकि ऐसा विश्वास है कि मरने के बाद केवल व्यक्ति का धर्म ही उसके साथ जाता है, अत: उस धर्म को जो इहलोक और परलोक दोनों में एकमात्र सहायक है, अपनाना चाहिए ।

भारतवासियों ने प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से अपना सम्बन्ध स्थापित किया, उन्हें प्रकृति सभी प्रकार से उपयोगी तथा कल्याणमयी लगी । उसकी उदारता तथा कल्याण से प्रभावित होकर उन लोगों ने अनेक प्रकार से उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना आरम्भ किया और यहीं से धर्म का

---

१ वेद: स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन: ।
एतच्चतुर्विधं प्राहु: साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।
मनुस्मृति २,१२

२ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।

भी आरम्भ हुआ । सूर्य,चन्द्र,ऊषा,अग्नि,नदी,वृक्ष आदि में देवता की कल्पना कर उन्हें प्रसन्न करने के लिए अनेक साधन अपनाये गये तथा अनेक प्रकार से स्तुतियां की गयीं । ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए अपनाये गये साधनों की भिन्नता तथा उनके सिद्धान्तों की भिन्नता के कारण अनेक धर्मों तथा संप्रदायों का प्रचलन हुआ ।

प्रारम्भ में भारत में वैदिक धर्म प्रमुख था । इस धर्म में कर्मकाण्ड,उपासना काण्ड तथा ज्ञानकाण्ड तीनों समन्वित थे । परन्तु कर्मकांड को ही प्रधानता थी । इसमें यज्ञों का विशेष महत्व था । हिन्दू धर्म में वेद प्रमुख थे । तदनन्तर स्मृतियों तथा पुराणों का स्थान था । इस धर्म के फल-स्वरूप अवतारवाद, त्रिदेवों की उपासना तथा मूर्ति पूजा का प्रचलन हुआ । शनै: शनै: वैदिक कर्मकाण्ड बलि की प्रधानता के कारण हिंसा प्रधान हो गयी,अत: उसके प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्ध तथा जैन धर्मों का उदय हुआ । वैदिक धर्म की उपासना-पद्धति के आधार पर वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ । वैष्णव धर्म के अतिरिक्त शैव तथा शाक्त धर्म का भी प्रचलन हुआ ।

आठवीं शती से भारत में मुसलमानों का आगमन प्रारम्भ हो गया । फलस्वरूप इस्लाम धर्म का प्रचलन हुआ । ईसाई धर्म का प्रचार भी अंग्रेजों के भारत आने के पश्चात् हुआ । इन लोगों ने अपने धर्म का प्रचार शिक्षा के माध्यम से किया । यवनों के आगमन से छुआछूत की भावना प्रबल हो उठी,जिसके प्रतिक्रियास्वरूप सिक्ख धर्म का उदय हुआ । इसके बाद स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की । बीसवीं शती में बुद्धिवाद का प्रचार हुआ । इस युग में जाति-पांति के बन्धन शिथिल पड़ गये । सभी अपनी -अपनी इच्छानुसार धर्म का पालन करने लगे । धार्मिक उदारता बढ़ गई ।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में समय-समय पर अनेक धर्मों का प्रचलन हुआ । इन धर्मों को क्रमबद्ध रूप में इस प्रकार रख सकते हैं --

पूर्व वैदिक धर्म

पूर्व वैदिक धर्म उपासना प्रधान तथा सरल था । आरम्भ में प्रकृति की शक्तियों से भयभीत होकर तथा उसको कल्याणमय जानकर उसकी अनेक प्रकार से स्तुति की गई । फलस्वरूप सूर्य,ऊषा,अग्नि,नदी,पीपल,सांड़ तथा नाग आदि की पूजा का प्रचलन हुआ । विभिन्न देवताओं की स्तुति के लिए भिन्न-भिन्न ऋचाएं थीं । इस समय यज्ञों की प्रधानता थी । ये यज्ञ हिंसात्मक तथा अहिंसात्मक दोनों प्रकार के होते थे । देव-पूजा के साथ पितरों की पूजा का भी प्रचलन था । शिव की पूजा का प्रारम्भ भी इसी वैदिक धर्म समय से मिलता है । ये लोग शक्ति की भी पूजा करते थे । आज भी देवी की पूजा का प्रचलन है ।

वैदिक धर्म

ऋग्वैदिक काल में देवताओं और प्रकृति के शक्तिशाली तत्वों की पूजा यज्ञों तथा स्तुतियों द्वारा की जाती थी । उस समय तक स्वर्ग और नर्क की कल्पना हो चुकी थी । स्वर्ग लोक ही विष्णु लोक है । यहां केवल पुण्यात्माओं का ही प्रवेश हो सकता है । दुष्टात्माओं के अतिरिक्त योद्धा तथा उदार हृदय व्यक्ति का भी देवता स्वर्ग लोक में स्वागत करते हैं । नर्क में कुकर्म करने वाले राक्षस,पिशाच और हत्यारे जाते हैं । यहां सदैव अंधकार रहता है तथा अनेक यातनाएं सहन करनी पड़ती हैं । इस समय तक पुनर्जन्म के अस्तित्व को भी स्वीकार कर लिया गया था । ऐसा विश्वास किया जाता था कि जो व्यक्ति बुरे कर्म के कारण स्वर्ग नहीं प्राप्त कर पाता वह नर्क में जाता है और बारम्बार शरीर धारण करता है । इस प्रकार मानव के पुनर्जन्म का कारण उसका कर्म माना गया ।

उपनिषद् धर्म

वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता के फलस्वरूप उपनिषद् धर्म का प्रचलन हुआ । भारत में दार्शनिक चिन्तन पहले-पहल उपनिषदों से ही प्रारम्भ हुआ । इनके अनुसार सृष्टि में कोई चेतन शक्ति है,जिसे ब्रह्म कहते हैं ।

इसके लिए यज्ञ आदि कर्मकाण्डों के स्थान पर शुद्ध आचरण का उपदेश दिया गया । सच्चरित्रता, इन्द्रिय दमन, शुचिता, मन तथा वाणी पर नियंत्रण, तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और शान्ति के साथ आत्मा या ब्रह्म में लीन होने से और उसकी भक्ति द्वारा उपासना करने से मनुष्य परम पद को प्राप्त कर सकता है ।

ब्रह्म को जानने के लिए ज्ञान आवश्यक है । यज्ञ द्वारा मनुष्य देवलोक में तो पहुंच सकता है, परन्तु वहां रुक नहीं सकता, उसे देवलोक से गिरना पड़ता है, परन्तु ज्ञान द्वारा ब्रह्म को जान लेने पर मनुष्य उसमें लीन हो जाता है और परमपद प्राप्त कर लेता है जहां से पुन: च्युत नहीं होता । इस प्रकार ब्रह्म में लीन हो जाने से आत्म साक्षात्कार हो जाता है और अविद्या के कारण उत्पन्न जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा मिल जाता है । उपनिषदों के अनुसार मरने के बाद मनुष्य की वाणी अग्नि में, प्राण, वायु में, नेत्र सूर्य में, मन चन्द्र में श्रवण दिशाओं में और शरीर पृथ्वी में विलीन हो जाता है और पुन: अपने कर्मों के अनुरूप नया शरीर धारण करता है[1] ।

महाभारतीय धर्म या भागवत धर्म

भागवत धर्म का प्रतिपादन वासुदेव कृष्ण ने किया । यह धर्म कर्म प्रधान धर्म है । इसके अनुसार मोक्षप्राप्ति ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों के द्वारा हो सकता है । ज्ञान मार्ग कठिन मार्ग है, वह सर्व साधारण के लिए सुलभ नहीं है । कर्म मार्ग ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सरल मार्ग है, परन्तु भक्ति मार्ग सबसे सुगम मार्ग है । इसका अनुकरण सभी कर सकते हैं । भागवत धर्म में तप और यज्ञ के स्थान पर भक्ति को प्रधानता दी गई है और यज्ञ में पशुबलि का निषेध किया गया है । मोक्षप्राप्ति के लिए कर्म के बन्धन से

---

१ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वाग्प्येति वातं प्राणाश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिश: श्रोत्रं पृथ्वीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्चनिधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागावामेवैतस्य वेदिष्यावो नावेतत्सजन इति तौ होत्क्रम्य मंत्रयांचक्राते तौ ह यदूचतु: कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशंसतु: कर्म हैव तत्प्रशशंसतु: पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्त भाग उपरराम ।।

मुक्त होना आवश्यक है । कर्मों के फल से मुक्ति ईश्वर की कृपा से ही संभव है और ईश्वर की कृपा पाने के लिए ईश्वर की भक्ति आवश्यक है । इसप्रकार भागवत धर्म में भक्ति को विशेष महत्व दिया गया ।

पौराणिक धर्म

पौराणिक धर्म समन्वयप्रधान धर्म है । इसमें वैदिक धर्म के प्रभावस्वरूप ब्रह्मा,विष्णु,शिव आदि देवताओं तथा अवैदिक प्रभाव के कारण अनेक देवियों जैसे दुर्गा,काली,चामुण्डा आदि की उपासना का विधान किया गया है । इसके अतिरिक्त अन्य नवीन देवताओं जैसे वाराह,मत्स्य आदि की पूजा का प्रचलन हुआ । ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता,विष्णु को पालक और शिव को संहार का देवता माना गया तथा तीनों में समन्वय किया गया । यज्ञों के स्थान पर धूप,दीप,पुष्प आदि से इनकी पूजा की व्यवस्था की गई ।

इस धर्म के प्रधान अंग,धार्मिक उत्सव, दान, तीर्थ यात्रा, व्रत,उपवास,मूर्तिपूजा आदि हैं । इस धर्म में जप को विशेष महत्व दिया गया, क्योंकि मंत्रों के जप द्वारा पापरहित होकर उत्तम गति प्राप्त की जा सकती है। वृक्षों की पूजा का भी विशेष महत्व है । नित्य स्नान करके पीपल के वृक्ष का स्पर्श तथा पूजन करने से मनुष्य पापमुक्त हो जाता है । तुलसी की विशेष महिमा मानी गई है, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि स्वयं विष्णु भगवान ने उसे लगाया था । आज भी इनकी पूजा का प्रचलन है ।

इस धर्म में कर्मफल पर विशेष बल दिया गया है । इसके अनुसार कर्म कभी नष्ट नहीं होते, वे फल अवश्य देते हैं । बिना फल दिये कर्म का नाश असम्भव है । अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य को अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है । विष्णु पुराण में लिखा है कि आत्मा देवता,मनुष्य पशु और वृक्ष आदि कुछ भी नहीं है,वरन् कर्मफल के कारण उत्पन्न हुई शरीर की विभिन्न आकृतियां हैं[1] ।

---

१ पुमान्न देवो न नरो न पशुर्न च पादप: ।
शरीराकृतिभेदास्तु भूपैते कर्मयोनय: ॥
--विष्णुपुराण २ १३ ९८

प्राणी का जन्म, मरण, सुख- दुःख, मोक्ष आदि का स्वरूप उस प्राणी के कर्मों द्वारा नियंत्रित होता है । ऐसा विश्वास है कि मृत्यु के समय जैसे विचार होते हैं, जैसी बुद्धि होती है, मरणोपरान्त वैसी ही गति मिलती है । मरते समय शुद्ध बुद्धि और निर्मल विचार से सद्गति मिलती है और मरते समय सुबुद्धि पूर्व पुण्य कर्मों के फल स्वरूप ही होती है ।

पौराणिक धर्म अत्यन्त उदार धर्म है । इस धर्म का पालन सभी वर्ण के लोग कर सकते हैं । समन्वयात्मक प्रवृत्ति के होते हुए भी इसधर्म के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय जैसे वैष्णव, शैव, शाक्त आदि हुए ।

वैष्णव धर्म

इस धर्म में ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का समन्वय है, परन्तु भक्ति पर विशेष बल दिया गया । आगे चल कर इसमें अवतारवाद को प्रधानता दी गई । ऐसा विश्वास है कि जब-जब पृथ्वी पर पाप की अधिकता हो जाती है, तब-तब ईश्वर संसार के कष्ट-निवारण हेतु तथा संसार के कल्याण हेतु अनेक रूपों में अवतार लेते हैं । विष्णु के दस अवतार माने गये हैं-- मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम , कृष्ण, बुद्ध और कल्कि । कहीं-कहीं चौबीस अवतार भी माने जाते हैं ।

वैष्णव धर्म में भक्ति की प्रधानता होती है अतः भक्ति तथा शरणागति को अधिक महत्व दिया गया है । इस धर्म में वेद को तो मान्यता दी गई है, परन्तु हिंसा प्रधान यज्ञ को नहीं । वैष्णव धर्म के अनुसार ईश्वरभक्ति का आदर्शरूप निष्काम कर्म है । ईश्वर को अर्पण करके कर्म करने से उस कर्म के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती है । सभी सुखों और दुःखों का अनुभव करते हुए सुख में हर्ष और दुःख में विषाद नहीं करना चाहिए । इस धर्म में अहं भाव तथा भेद भाव का स्थान नहीं है । वैष्णव धर्म में भक्ति के दो रूप माने गये हैं-- निराकार तथा साकार । निराकार भक्ति ज्ञान द्वारा प्राप्त होती है । निराकार ईश्वर अवयव हीन होते हुए भी सर्वज्ञ और अरूप होते हुए भी सबमें विद्यमान है । वेद उसकी वाणी है । इस निराकार रूप का ध्यान करने

वाला परमपद प्राप्त करता है । साकार भक्ति में विष्णु की मानवरूप में कल्पना की गई है । वह सौन्दर्य तथा शील से पूर्ण है । उसका वर्ण कृष्ण है, वह सूर्य के समान तेजस्वी है । वह समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला है । साकार भक्ति के कारण ही विष्णु के विभिन्न अवतारों की आराधना होती है ।

शैव धर्म

शैव धर्म का प्रारम्भ सिन्धु सभ्यता के समय से ही हो गया था । वैदिक युग में शिव का रुद्र रूप स्वीकार किया गया था । इसके अतिरिक्त शिव का कल्याणकारी रूप भी माना गया था । उन्हें शिव, भागवत, माहेश्वर और पाशुपत नाम से पूजा जाता था । शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय हुए ,जैसे लकुलीश या नकुलीश, पाशुपत, लिंगायत, कापालिक आदि । कापालिक शिव के रुद्र रूप की पूजा करते हैं । शैव केवल धतूरा के फूल तथा विल्व पत्र से पूजा करते हैं । ये लोग त्रिपुंड धारण करते हैं और रुद्राक्ष की माला पहनते हैं । इसमें भक्ति के साथ-साथ ध्यान, मंत्र, जप तथा तांत्रिक साधनों का विधान है । शैव धर्म मानने वाले वैदिक यज्ञों के स्थान पर आराधना द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करते हैं । इन लोगों ने मन्दिर बनवाये तथा उसमें शिव की मूर्ति अथवा शिव लिंग स्थापित किये और व्यक्तिगत रूप से पूजा करने का विधान किया । इन लोगों का प्रधान धर्म-ग्रन्थ पुराण है ।

शाक्त धर्म

इस धर्म का प्रारम्भ भी सिंधु घाटी की सभ्यता से होता है । उस समय भी देवी की उपासना प्रचलित थी। जो आगे चल कर शाक्त धर्म बन गया । शाक्त लोग भगवान की शक्ति को इष्ट देवी मानते हैं तथा तंत्र मंत्र द्वारा उनकी उपासना करते हैं । इनमें कुछ देवी के सौम्य रूप जैसे ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, नारसिंही और ऐन्द्री की पूजा करते हैं । देवी के इस रूप को मातृका कहते हैं । काली, कराली, कपाली, चामुण्डा और चण्डी देवी के उग्र रूप हैं । इनकी उपासना कापालिक लोग करते हैं जिन्हें कौल कहा जाता

इस पद्धति में ज्ञान,कर्म तथा भक्ति तीनों का समन्वित रूप मिलता है ।

जैन धर्म

जैन धर्मानुयायी वैदिक यज्ञ की क्रियाओं में विश्वास न करके आचार की शुद्धता तथा अहिंसा में विश्वास करते हैं । इस धर्म में जाति पाँति का विरोध किया गया तथा शरीर को कष्ट देने और कठोर जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया गया । जैन धर्म के उपदेश -- अहिंसा,सत्य, अस्तेय(चोरी न करना) और परित्याग हैं । इस धर्म में ईश्वर पर विश्वास नहीं करते,परन्तु पुनर्जन्म तथा कर्मवाद पर विश्वास करते हैं । ऐसा माना जाता है कि कर्मों के अनुरूप ही अगला जन्म मिलता है । इनके अनुसार मोक्ष पाने का अर्थ है आत्मा का सदानन्द में विलीन हो जाना । इसके लिए संसार त्यागी होकर तप करने का विधान किया गया है । जैन धर्म के अनुसार जीव कर्म का कर्ता तथा फल का भोक्ता है । कर्म फल को भोगने के लिए मनुष्य को बारम्बार शरीर ग्रहण करना पड़ता है । इस आवागमन से मुक्ति पाने के लिए मोक्ष पाना आवश्यक है और मोक्ष पाने के लिए सम्यक् दर्शन,सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का होना आवश्यक है । अहिंसा के अतिरिक्त व्रत,उपवास और तपस्या का विशेष महत्व माना जाता है । जैन धर्मावलम्बी कई देवी-देवताओं को भी मानते हैं ।

जैन धर्म में दो शाखाएं हुई -- श्वेताम्बर तथा दिगम्बर । जैसा कि नाम से ही ज्ञात है श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र धारण करते हैं तथा दिगंबर बिना वस्त्र के रहते हैं । श्वेताम्बर स्त्री को भी मोक्ष का अधिकारिणी मानते हैं,परन्तु दिगम्बर स्त्री को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं मानते हैं । ये लोग तीर्थंकरों की प्रतिमा पूजते हैं पर श्वेताम्बरों की तरह धूप,पुष्प आदि नहीं चढ़ाते हैं ।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म में ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व को नहीं माना जाता है । बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्य का व्यक्तित्व संस्कारों का योग है ।

विभिन्न तत्वों के अलग होते ही आत्मा या शरीर का अस्तित्व समाप्त हो जाता है । इनके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु क्षणिक है । परन्तु अज्ञानवश मनुष्य इसे स्थायी मान लेता है ।

बौद्ध धर्म में यज्ञ, बलि और घोर तपस्या का विरोध किया गया है । इन लोगों ने मध्यम मार्ग को अपनाया । इनके अनुसार शरीर को न तो अधिक कष्ट देना चाहिए और न ही विलासिता में रखना चाहिए। अहिंसा,अस्तेय,ब्रह्मचर्य,आदि को आवश्यक बताया गया है तथा अहिंसा पर अधिक बल दिया गया है । इन लोगों ने जाति या वर्ण भेद को नहीं माना। इनके अनुसार सभी जाति और वर्ण के लोग धर्म के अधिकारी हैं । बौद्ध मत के अनुसार संसार दु:खमय है। सुख की लालसा ही दु:ख का कारण है । यह लालसा अविद्या के कारण उत्पन्न होती है । अविद्या के दूर होते ही मनुष्य दु:खों से छुटकारा पा जाता है और निर्वाण प्राप्त कर लेता है । जब तक निर्वाण प्राप्त नहीं होता,मनुष्य बार-बार जन्म लेता है । यह जन्म उसे उसके पूर्व कर्मों के अनुसार प्राप्त होता है । अनेक जन्मों में मनुष्य अपने अहंकार तथा तृष्णा को क्रमश: दूर करता हुआ निर्वाण प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है । आत्म निरोध से अहंकार और तृष्णा का नाश होता है और अहंकार तथा तृष्णा के नाश होने पर ही निर्वाण प्राप्त होता है । निर्वाण प्राप्ति के लिए वैदिक कर्मकाण्ड के स्थान पर बौद्ध धर्म में 'अष्टांगिक मार्ग' का उपदेश दिया गया है । बौद्ध धर्म में वेदों को मान्यता नहीं दी गई है । इस धर्म में यज्ञवाद तथा बहुदेववाद और जातिवाद का तीव्र विरोध किया गया इसमें निवृत्ति मार्ग अर्थात् संसार त्याग पर अधिक बल दिया गया है ।

बौद्ध धर्म की दो प्रमुख शाखाएं हुईं -- हीनयान और महायान । इसका कारण यह था कि बौद्ध धर्म अत्यधिक कठोर था और नीरस ज्ञान की बातों को समझना सर्वसाधारण के लिए कठिन था । इसके अतिरिक्त गृहस्थी छोड़कर सन्यास लेना भी सबके लिए सम्भव नहीं था । अत: कुछ लोगों ने बौद्ध धर्म में हिन्दू धर्म का समन्वय किया और उसे अपनाया । ये लोग महायान कहलाये । इस मत का प्रचार अधिक हुआ । इसमें बुद्ध की उपास्य देव मानकर उनकी पूजा की जाती है ।

इन धर्मों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय भी थे । मुसलमानी शक्तियों से लोहा लेने के लिए सिक्ख धर्म का प्रचार हुआ । इस धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक थे । इसमें छुआछूत तथा जाति-पाँति का भेद नहीं था । कड़ा, केश, कृपाण, कंघा, तथा कच्छ धारण करना आवश्यक था तथा नशीली वस्तुओं के सेवन को निषिद्ध माना जाता था । इनके अन्तिम गुरु गुरु गोविन्दसिंह हुए ।

स्वामी दयानन्द के प्रयास के फलस्वरूप पुन: आर्यसमाज द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ । इन लोगों ने ईसाई तथा मुस्लिम धर्म के प्रचार को रोकने तथा वैदिक धर्म को पुन: प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया । छुआछूत, बालविवाह, सती प्रथा आदि सामाजिक बुराइयों को आर्य समाज ने दूर किया । ये लोग मूर्तिपूजा, श्राद्ध आदि में विश्वास नहीं करते थे । तथा बाह्याडम्बरों से दूर रहते थे ।

इस प्रकार देखते हैं कि प्रारम्भ से ही भारत में अनेक धर्मों का प्रचार -प्रसार तथा समन्वय होता आया है । सभी धर्मों पर वैदिक प्रभाव थोड़ी-बहुत मात्रा में अवश्य है । क्योंकि सभी धर्म कर्मवाद तथा पुनर्जन्म को मानते हैं तथा सभी मोक्ष में विश्वास करते हैं ।

पुनर्जन्म और कर्मवाद

कर्मवाद तथा पुनर्जन्म भारतीय संस्कृति के प्रमुख सिद्धांत हैं । कर्म के अन्तर्गत केवल भौतिक क्रिया ही नहीं, वरन् आध्यात्मिक कर्म तथा मानसिक क्रियायें भी आती हैं । अच्छे अथवा बुरे कर्म का विचार मन में आने से भी अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है । अच्छे या बुरे कर्म व्यक्ति के साथ सदा के लिए जुड़ जाते हैं । और उनका परिणाम अवश्य सामने आता है, उसके लिए उसी प्रकार की परिस्थितियाँ स्वयं उत्पन्न हो जाती हैं । कर्म कभी नष्ट नहीं होते, वे वातावरण में घूमते रहते हैं और अवसर मिलते ही अपना फल देते हैं । कर्मों के फल भोगने के बाद ही कर्म नष्ट होते हैं । इस जन्म में किये कर्मानुसार ही स्वर्ग या नर्क की प्राप्ति होती है और उसी के

अनुसार अगला जन्म भी मिलता है । यदि कर्मफल एक जन्म में पूर्ण नहीं होते तो उसके लिए बारम्बार जन्म लेना पड़ता है । मनुष्य का कर्म उसकी इच्छाओं तथा वासनाओं द्वारा प्रेरित होता है । अत: इच्छाओं और वासनाओं पर नियंत्रण भारतीय संस्कृति में आवश्यक बताया गया है ।

कर्मवाद का सबसे बड़ा गुण यह है कि इससे वैयक्तिक अन्तर तथा ईश्वर के न्याय में विश्वास हो जाता है । सदाचारी के कष्ट और दुराचारी के सुख का कारण उसके पूर्व जन्म के कर्म माने जाते हैं । इस प्रकार वैयक्तिक असमानता का समाधान हो जाता है ।

मोक्ष की कल्पना

सभी धर्मों ने जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति माना है, परन्तु मोक्षप्राप्ति के साधन भिन्न-भिन्न माने हैं । किसी ने ज्ञान द्वारा, किसी ने कर्म द्वारा तथा किसी ने उपासना द्वारा मोक्ष की प्राप्ति बताई है । संसार के दु:खों से निवृत्त होकर आवागमन के बन्धन से छूट जाना ही मोक्ष है ।

जगत का सार तत्व ईश्वर है । वह अनन्त,सर्वव्यापी, सर्वज्ञ,शुद्ध तथा चेतन है, वही सबकी आत्मा है । जड़ चेतन सभी उसी ब्रह्म के स्वरूप हैं । आत्मा-परमात्मा का भेद अविद्या के कारण उत्पन्न होता है । जीव का अहंकार उसका बन्धन है जिसके फलस्वरूप माया,मोह स्वार्थ और वासना आदि उत्पन्न होते हैं । इससे मुक्ति पाने के लिए अविद्या का नाश होना आवश्यक है । अविद्या के नाश होते ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है जो जीवन का परमलक्ष्य है ।

भारतीय संस्कृति और दर्शन

पूर्व वैदिककाल में मनुष्य अपनी समस्याओं का समाधान प्रकृति के माध्यम से करता था, परन्तु कालान्तर में उसकी जिज्ञासायें बढ़ने लगीं । अनेक प्रश्नों जैसे वह कौन है ? उसके जीवन का लक्ष्य क्या है? वह

मृत्यु के पश्चात् कहाँ जाता है ? सृष्टि क्या है ? सृष्टि करने वाला कौन है ? आदि के उत्तर उसे प्रकृति द्वारा नहीं प्राप्त हो सकते थे, अत: उसने मनन और चिन्तन करना प्रारम्भ किया । उस चिन्तन द्वारा वे जिस परिणाम पर पहुँचे, उस परिणाम तथा उस चिन्तन प्रणाली को दर्शन का नाम दिया गया । चिन्तन तो कई प्रकार के हो सकते हैं, परन्तु जब कोई चिन्तन तर्क तथा युक्ति द्वारा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है तब वही दर्शन कहा जाता है ।

दर्शन का अर्थ है देखना । देखना भी दो प्रकार का होता है-- एक तो इन्द्रियों द्वारा, जैसे आँखों से देख कर, हाथ से छूकर जानना और दूसरा बुद्धि द्वारा जानना । इन्द्रियों द्वारा सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है, परन्तु सृष्टि का रहस्य बुद्धि द्वारा ही ज्ञात हो सकता है । ब्रह्म को जानने में जीव असमर्थ है, क्योंकि उस पर सांसारिक भ्रम का परदा पड़ा है। अत: इस भ्रम को दूर कर निर्मल बुद्धि द्वारा चिन्तन और मनन करके ही ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । ब्रह्म को जानने या देखने की इस प्रक्रिया को दर्शन कहते हैं ।

भारतीय दर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है । इसके अनुसार ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, वही सृष्टि के उत्पन्न और विनाश का कारण है । अन्त में जीव को उसी में लय हो जाना है । इस प्रकार यह दर्शन मनुष्य के अन्दर अहंभाव तथा अकेलेपन की भावना नहीं जागृत होने देता है । मनुष्य यह समझता है कि वह कुछ नहीं है, जो है सब ब्रह्म है, सब ब्रह्म की माया है । वह जानता है कि वह एकाकी नहीं है, उसके साथ परमात्मा है, जो सबके लिए समान है और जिससे उसका अविच्छिन्न संबंध है । वह परमात्मा सर्वव्यापी है और उसका अंश समान रूप से सबमें विद्यमान है । इसी मान्यता के कारण भारतीय जीवन में सद्व्यवहार, सहिष्णुता प्रेम तथा शिष्टाचार की भावना दृष्टिगोचर होती है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य के जीवन का लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है । जब तक मुक्ति नहीं मिलती मनुष्य को कर्मफल

भोगने के लिए बारम्बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है । इस प्रकार भारतीय दर्शन में केवल लौकिक उन्नति में विश्वास न करके ज्ञान और कर्म द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का विधान किया गया है । भारतीय दर्शन में आत्मा को अजर अमर और नित्य माना गया है । श्रीमद्भागवत्गीता में इसका विशद् वर्णन विवेचन मिलता है[१] ।

भारतीय दर्शन का क्रमबद्ध इतिहास ऋग्वेद से प्रारम्भ होकर उपनिषदों में विकसित होता हुआ आज भी प्रत्येक धर्म में अंशत: विद्यमान है ।

ऋग्वेद दर्शन

इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म एक है । वही समस्त जीवों का सृष्टा, पालक तथा संहारक है । सृष्टि करने की अवस्था में ब्रह्म को हिरण्यगर्भ कहा जाता है तथा सृष्टि का कर्ता होने के कारण उसे पुरुष माना गया है ।

वैदिक दर्शन के अनुसार सारे संसार में ब्रह्म व्याप्त है । सृष्टि के कण-कण में उसका अंश विद्यमान है । अत: अनेक प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण कर उन्हें देवता मान कर पूजा की व्यवस्था की गयी है । यथा-- सूर्य,जल,अग्नि,ऊषा,मरुत आदि ।

उपनिषद् दर्शन

इस दर्शन में ब्रह्म को सृष्टा, सत,चित् तथा आनन्दमय माना गया है । वह सर्वव्यापी ,निर्गुण और निर्विकल्पक है । आत्मा व परमात्मा की ही ज्योति है । आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाना ही मुक्ति है ।

---

१ श्रीमद्भगवत्गीता २.२०

उपनिषद् दर्शन के अनुसार ब्रह्म सब में रहता हुआ भी संसार से निर्लिप्त रहता है, जैसे सूर्य सम्पूर्ण संसार का नेत्र है, परन्तु सांसारिक नेत्र-दोष उसे प्रभावित नहीं करते[१]।

गीता दर्शन

गीता दर्शन का आधार उपनिषद् है। उपनिषदों में शरीरधारी ईश्वर का उल्लेख नहीं है, परन्तु अवतारवाद और ईश्वर के विराट रूप की कल्पना गीता दर्शन की देन है। अवतारवाद सम्भवत: उपनिषदों के सगुण उपासना का विकसित रूप है। इसमें सगुण ईश्वर को ही ब्रह्म माना गया है। इस दर्शन की मुख्य विशेषता है निष्काम कर्म। फल की आशा छोड़कर किया गया कर्म ही वास्तविक सन्यास है। मोक्ष प्राप्ति के चार साधनों--कर्ममार्ग, ज्ञान मार्ग, ध्यान मार्ग और भक्ति मार्ग, का गीता में भगवान कृष्ण ने समन्वय किया है। इसमें भगवान की उपासना के लिए किसी एक निर्दिष्ट मार्ग का उल्लेख नहीं, अपितु समन्वित मार्ग का उल्लेख है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे जो जिस रूप में भजता है मैं उसे उसी रूप में फल देता हूँ[२]। मनुष्य किसी भी मार्ग का अनुसरण करे सभी मार्गों का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति ही है।

गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का समन्वय किया गया है, परन्तु निष्काम कर्म को प्रधान माना गया है। निष्काम कर्म में ज्ञान और भक्ति दोनों का समावेश है, क्योंकि बिना ज्ञान और भक्ति के निष्काम कर्म हो ही नहीं सकता।

---

१ सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चक्षुषैर्बाह्यदोषै: ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दु:खेन बाह्य: ।।
--कठोपनिषद् २.११

२ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश: ।।
-- श्रीमद्भगवद्गीता ४.११

जैन दर्शन

इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म है ही नहीं । इस दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है और वही जीवन मुक्त होकर ईश्वर हो जाता है । इसके अनुसार ब्रह्म सर्वशक्तिमान् होकर सृष्टि की उत्पत्ति और उसका पालन नहीं करता, वरन् सृष्टि अनादिकाल से अपने ही आदितत्वों के आधार पर चल रही है । ये आदि तत्व छ: हैं ।जीव (आत्मा) पुद्गल(भूत पदार्थ) धर्म,अधर्म,आकाश और काल । जीव चेतन है, वह कर्म करता है तथा कर्मों का फल भोगता है । जीव का मुख्य उद्देश्य है अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख पाना । जब जीव अपने कर्मों के फल के भोग द्वारा कर्मों के आवरण को हटा देता है तब उसे मोक्ष प्राप्त होता है । ऐसा मोक्ष प्राप्त जीवन `जिन` कहलाता है ।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन में ब्रह्म को नहीं माना गया है । उनके अनुसार अहिंसा,तप और ब्रह्मचर्य द्वारा ही मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर सकता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकता है । बौद्ध दर्शन में भी जीव को कर्मों के बन्धन में बंधा बताया गया है । बौद्ध दर्शन के अनुसार जीवन दु:खमय है और इस दु:ख का कारण अविद्या है । मनुष्य सत्कर्मों द्वारा ज्ञान प्राप्त करके ही अविद्या को नष्ट कर सकता है । इसमें निर्वाण प्राप्ति के लिए शरीर का अन्त होना आवश्यक नहीं माना गया है । ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सुख-दु:ख और मोह-माया के बन्धन से मन के उपराम हो जाने पर जीवित अवस्था में ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है ।

इन दर्शनों के अतिरिक्त मुख्य छ: दर्शन माने गये हैं-- न्याय, वैशेषिक, सांख्य,योग,मीमांसा और वेदान्त ।

सांख्य दर्शन

इस दर्शन के जन्मदाता महर्षि कपिल हैं । इसका प्रामाणिक ग्रन्थ ईश्वर कृष्ण की `सांख्यकारिका` है । सांख्य दर्शन में

प्रकृति और पुरुष को भिन्न-भिन्न बताया गया है । इन दोनों के समन्वय से ही सृष्टि उत्पन्न होती है । पुरुष, शुद्ध, उदासीन, विवेकी, सर्वव्यापी, स्वतंत्र , नित्य तथा अवयवहीन है । प्रकृति तीनों गुणों--सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त है । पुरुष के संयोग से जब किसी एक गुण की अधिकता होती है, तब उसी प्रकार की सृष्टि होती है । प्रकृति जड़ होने के कारण अकेले सृष्टि करने में असमर्थ है । उसे अपनी ही तरह नित्य और अनादि पुरुष की आवश्यकता होती है । प्रकृति के संयोग के कारण पुरुष में अहंकार की भावना उत्पन्न हो जाती है, परन्तु उसे जब ज्ञात होता है कि सृष्टि करने वाली वस्तु प्रकृति है तब वह अहंकार मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

इस दर्शन में ईश्वर को नहीं मानते हैं केवल अनन्त आत्मा में विश्वास करते हैं । पुरुष और प्रकृति के अलग-अलग सत्ता के कारण इस सिद्धान्त का नाम द्वैत पड़ा ।

योग दर्शन

इस दर्शन का मुख्य आधार सांख्य दर्शन है । पतंजलि ने सर्वप्रथम इसे सूत्र रूप में प्रस्तुत किया । यह दर्शन भी प्रकृति को ही सृष्टि का कारण मानता है । सांख्य दर्शन और योग दर्शन में अन्तर केवल इतना है कि सांख्य दर्शन केवल पुरुष और प्रकृति को ही मानता है जब कि योगदर्शन प्रकृति और पुरुष के साथ-साथ ईश्वर को भी मानता है ।

इस दर्शन के अनुसार अहंकार युक्त पुरुष ईश्वर की भक्ति द्वारा अहंकार मुक्त होता है । ईश्वर को योग द्वारा जाना जा सकता है । चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है । ईश्वर के ध्यान द्वारा मन को एकाग्र करके चित्तवृत्तियों का निरोध किया जा सकता है । इस प्रकार योग दर्शन में चित्त वृत्तियों के निरोध को ही महत्व दिया गया है । बार-बार के अभ्यास द्वारा चित्त को स्थिर किया जा सकता है । स्वर्ग या संसार के सुखों की कामना न करना वैराग्य है और वैराग्य द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

योग के आठ अंग माने गये हैं-- यम,नियम,आसन, प्राणायाम,प्रत्याहार,धारणा,ध्यान और समाधि ।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं । इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु के लिए प्रमाण और तर्क की आवश्यकता होती है । प्रकृति,पुरुष,ईश्वर और सत्य भी तर्क तथा प्रमाण द्वारा जाने जाते हैं । ये प्रमाण चार प्रकार के होते हैं-- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द । किसी चीज को देख कर जानने को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, जब किसी वस्तु को देख कर किसी अन्य वस्तु का अनुमान किया जाता है तो उसे अनुमान प्रमाण कहा जाता है । जैसे धुआं देखकर अग्नि का अनुमान लगाना। जब किसी वस्तु की उपमा देखकर किसी अन्य वस्तु को जानने का प्रयत्न किया जाता है तो वह उपमान प्रमाण होता है, जैसे गाय की उपमा द्वारा नीलगाय को जानना । वेदों अथवा ऋषियों की कही बातों को शब्द प्रमाण कहते हैं ।

वैशेषिक दर्शन

इसका प्रारम्भ `कणादि` मुनि ने किया है । इसमें भी चार प्रमाण माने गये हैं-- प्रत्यक्ष,अनुमान, स्मृति और शब्द प्रमाण । स्मृति प्रमाण वह प्रमाण है जिसमें किसी एक वस्तु के माध्यम से दूसरी वस्तु का स्मरण किया जाय । इस प्रकार इस दर्शन में भी न्याय दर्शन के प्रमाणों को ही भिन्न नाम से माना गया है ।

मीमांसा दर्शन(पूर्व मीमांसा)

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक जैमिनी हैं । यह दर्शन वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखता है । इस दर्शन में वेद को ईश्वर का वाक्य,तथा यज्ञ को धर्म माना गया है । मनुष्य अपने कर्मों द्वारा अपना भाग्य बनाता है । मीमांसा दर्शन के शब्दों में इसे अपूर्व कहते हैं । अपूर्व के फल से ही इच्छित फल प्राप्त होता है । इस दर्शन में आत्मा को शरीर बुद्धि और इन्द्रियों से भिन्न माना जाता है । आत्मा चेतन है तथा अपनी चेतनता से शरीर का संचालन करती है । इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक शरीर की

अलग-अलग आत्मा होती है और आत्मा की भिन्नता के कारण प्रत्येक शरीर के कार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। आत्मा को नित्य माना जाता है, अतः मुक्त हो कर भी वह सत् रूप में विद्यमान रहती है। बाद में इस दर्शन ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर उसकी उपासना के लिए यज्ञों का विधान किया है।

वेदान्त दर्शन (उत्तर मीमांसा)

वेदों के सार को वेदान्त दर्शन कहते हैं। इसमें ज्ञान की प्रधानता है। इसके तीन प्रमुख ग्रन्थ हैं -- उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भागवतगीता। अतः इसे प्रस्थानत्रयी भी कहते हैं। इस दर्शन के आचार्य बादरायण व्यास हैं। इसमें ब्रह्म की सत्ता स्वीकार की गई है। ब्रह्म से ही सृष्टि होती है और उसी में लय हो जाती है। ब्रह्म सत्य, नित्य और चेतन स्वरूप है। वह समस्त संसार में व्याप्त होता हुआ भी सबसे भिन्न है।

जीवात्मा का परमात्मा में विलीन हो जाना ही मोक्ष है। आत्मा और परमात्मा के मध्य अज्ञान की दीवार है जिसके कारण मनुष्य सांसारिक सुखों को वास्तविक मान लेता है, परन्तु अज्ञान के नष्ट होते ही उसे आत्मा का ज्ञान हो जाता है और वह परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस दर्शन के अनुसार अज्ञान दूर करने का साधन त्यागमय भोग है। अर्थात् इच्छारहित होकर संसार का भोग करना। इच्छा-मुक्त होने पर उसकी पूर्ति के लिए बारम्बार जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

वेदान्त दर्शन की भी दो धाराएं हैं -- अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद या ईश्वरवाद। अद्वैतवाद में ब्रह्म को रूप गुण रहित निर्विशेष अर्थात् निर्गुण माना जाता है और विशिष्टाद्वैतवाद में ईश्वर को रूप गुण सहित सविशेष सगुण माना जाता है।

अद्वैत वेदान्त

श्री शंकराचार्य का सिद्धान्त अद्वैतवाद कहलाता है।

अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है --`ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:` अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ही ब्रह्म है दूसरा नहीं,इसीलिए अद्वैत के अन्तर्गत `अहं ब्रह्मास्मि` (मैं ब्रह्म हूं) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। मूलत: ब्रह्म और जीव में भेद नहीं है,परन्तु जो भेद उत्पन्न हो गये हैं उनका कारण माया है। इसके अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह गुण,रूप ,सीमा तथा कार्य कारण के संबंध से परे है। वह अवयवहीन अनन्त, सर्वशक्तिमान और निर्गुण है। माया के दो रूप माने गये हैं--आवरण तथा विक्षेप। माया के आवरण शक्ति के कारण जीव परमात्मा से अपने एकत्व को भूल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के साथ माया अविद्या के रूप में विद्यमान रहती है। इसके दूर करने से ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है। माया अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा जगत का विस्तार करती है।

विशिष्टाद्वैत या ईश्वरवाद

इसके प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य हैं। इस दर्शन के अनुसार ईश्वर को सगुण माना गया है। वह सर्वव्यापी, सर्वज्ञ,सर्वशक्तिमान तथा आनन्दमय है। वह सृष्टि का कर्तातथा कारण दोनों है। इस दर्शन में ईश्वर आत्मा और जगत तीनों को सत्य तथा नित्य माना गया है, तीनों ही एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हुए भी उसी प्रकार एक-दूसरे से संबंधित हैं, जिस प्रकार आत्मा और शरीर।

इस दर्शन के अनुसार अविद्या द्वारा प्रेरित होकर किए गए कर्मों के कारण ही आत्मा बन्धन में पड़ती है। ईश्वर की भक्ति द्वारा ही जीव इस बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। ज्ञान और कर्म ईश्वर भक्ति में सहायक होते हैं ,जो मनुष्य को विष्णु लोक की प्राप्ति कराते हैं। विष्णुलोक की प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्ति है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धान्त भी हैं,यथा--शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत,द्वैत आदि। श्री वल्लभाचार्य का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत वाद कहा जाता है। इसमें ब्रह्म को सत,चित,आनन्द से युक्त मानते हैं। जीव सत् और चित से युक्त है,परन्तु उसमें आनन्द का अभाव रहता है,जिसकी प्राप्ति जीवन का

लक्ष्य है । जड़ वस्तुओं में केवल सत् का भाव रहता है और चित तथा आनन्द का तिरोभाव सूक्ष्म होता है । इस सिद्धान्त में जगत को मिथ्या नहीं माना जाता है । यह सिद्धान्त पुष्टिमार्ग भी कहा जाता है ।

श्री निम्बकाचार्य का सिद्धान्त द्वैताद्वैतवाद कहा जाता है । इसमें जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता मानी जाती है और भक्ति द्वारा ईश्वर में लीन हो जाने को जीवन की सार्थकता मानते हैं । इसमें राधा कृष्ण की भक्ति पर बल दिया जाता है ।

आचार्य मध्व द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त द्वैताद्वैत वाद के नाम से जाना जाता है । इसमें ब्रह्म और जीव की सर्वथा पृथक सत्ता मानी गई है । अनेक गुणों से युक्त ब्रह्म, जड़ जगत तथा जीव से भिन्न अवश्य है परन्तु जड़ और जगत ब्रह्म पर ही आश्रित है ।

इस प्रकार भारत में अनेक दर्शन तथा सम्प्रदाय पाये जाते हैं जो एक-दूसरे से पृथक् होते हुए भी मूलरूप में सम्बद्ध हैं । सभी ब्रह्म,जीव,जगत और माया का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में अवश्य मानते हैं । इसके अतिरिक्त सभी ने जीवन का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति माना है ।

आश्रम व्यवस्था

जीवन को सुव्यवस्थित करने तथा समाज को व्यवस्थित एवं संगठित करने के लिए आश्रम व्यवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । मनुष्य के जीवन का ध्येय, धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष की प्राप्ति है । आश्रम व्यवस्था द्वारा उन सबको की प्राप्ति हो जाती है । आश्रम चार हैं-- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम ।

ब्रह्मचर्याश्रम

छात्र जीवन को ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं । इस आश्रम का प्रारम्भ प्राय: आठ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार से होता है । बालक

बालक गुरु के घर जाकर शिक्षा प्राप्त करता है । गुरु बालक को यज्ञ-यज्ञादि तथा ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों की शिक्षा देता है, तदुपरान्त ब्रह्मचारी चार व्रत लेता है,यथा-- मन,वचन तथा कर्म से ब्रह्मचर्य का पालन करने का,भोजन तथा वस्त्र में सादगी रखने का, गुरु की आज्ञा का अक्षरश: पालन करने तथा विधि-पूर्वक शिक्षा प्राप्त करने का ।

छात्र के लिए पूर्ण संयमशील रहना तथा सौम्य होना आवश्यक था । संग्रह की प्रवृत्ति का पूर्णत: निषेध था । भिक्षा में प्राप्त अन्न से ही वह सन्तुष्ट रहते थे । उनकी सम्पत्ति विनय तथा ज्ञान पिपासा होती थी । भिक्षाटन का उद्देश्य विनयी बनाना था । धीरे-धीरे यह प्रथा लुप्त हो गई । ब्रह्मचारी के लिए कतिपय नियम थे, जिनका पालन करना उनका कर्तव्य होता था । यथा-- मादक द्रव्य, गंध,माला, रस के ~~प्रयोग स्त्रियों से दूर रहना~~, किसी स्त्री से एकान्त में वार्तालाप करने, उबटन, अंजन आदि लगाने, छाता तथा जूते का प्रयोग करने, तथा नृत्य, गीत, वादन आदि सुनने का निषेध था । इसके अतिरिक्त उनके लिए आवश्यक था कि काम, क्रोध तथा हिंसा के वशीभूत न हों, जुआ न खेलें, मिथ्या भाषण न करें, गोधूली की बेला में शयन न करें तथा सूर्योदय से पहले शय्या त्याग दें । प्रतिदिन नियम से संध्या पूजन करें तथा गुरु की सेवा से विरत न हों । उनके भोजन व वस्त्र तथा रहने का प्रबन्ध गुरु ही करता था । वह विद्यार्थी से कोई शुल्क नहीं लेता था । गुरु- सेवा ही उनका शुल्क होता था ।

ब्रह्मचर्य का समय वेदाध्ययन में व्यतीत होता था । ब्रह्म का एक अर्थ वेद भी है अत: ब्रह्मचर्य का अर्थ वेदाध्ययन माना गया । प्रारम्भ में ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी इच्छा होने पर वेदाध्ययन करते थे । स्त्रियां भी ब्रह्मचर्य का पालन करती थी तथा शिक्षाप्राप्त करती थीं । विश्वावरा , घोषा, अपाला आदि ने वैदिक मंत्रों की रचना की ।अनार्य स्त्रियां युद्ध की शिक्षा लेती थीं और युद्ध-भूमि में जाती थीं । शिक्षा - समाप्ति पर आचार्य उन्हें सत्य बोलने, धर्म का आचरण करने, गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर, विवाह करके योग्य पुत्र उत्पन्न करने,गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों के निर्वाह करने , अतिथि सत्कार करने तथा दान देने का उपदेश देते थे । दान श्रद्धा से,

अश्रद्धा से, लोकापवाद के भय से अथवा लज्जा से जैसे दें, परन्तु दान देना आवश्यक होता था। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर विद्यार्थी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का विधान है। इसमें विवाह करके कुटुम्ब के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना होता है। विवाह का ध्येय सन्तानोत्पत्ति होता है, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति द्वारा ही पितृ-ऋण से उऋण हुआ जा सकता है।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर ब्राह्मण, अध्ययन-अध्यापन, दान देना, दान लेना, यज्ञ करना तथा यज्ञ कराना आदि अपने ६ कर्म अपना लेता है। क्षत्रिय प्रजा की रक्षा में रत हो जाता है और वैश्य व्यवसाय तथा वाणिज्य का काम करने लगता है।

गृहस्थाश्रम का मुख्य उद्देश्य त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति है। भागवत के अनुसार गृहस्थाश्रम में पुरुष को अर्थ, काम और यश प्राप्ति में किसी प्रकार की भी बाधा नहीं हो सकती है[१]। अतिथि सत्कार तथा पूजापाठ से धर्म, जीविकोपार्जन से अर्थ तथा विवाह द्वारा पुत्र-प्राप्ति में काम की उपलब्धि होती है। अतिथि सत्कार का इस आश्रम में विशेष महत्व है। ऋग्वेद में दीन-दु:खियों की सेवा करने वालों की प्रशंसा की गई है और अतिथि सत्कार न करने वाले को मरे के समान माना गया है। जो मित्र और देवता आदि को न देकर स्वयं ही भोजन करता है, वह मूर्ख

---

१ सत्यं भगवता प्रोक्तःऽधर्मो यं गृहमेधिनाम्।
अर्थं कामं यशोवृत्तिं यो न बाधते कर्हिचित्।।
--भागवत प्रथम खण्ड --८.२०.२

पुरुष साक्षात पाप का ही भक्षण करता है[1]। कालिदास ने भी 'रघुवंश' में 'सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते'[2] कहकर गृहस्थाश्रम की महत्ता को स्पष्ट किया है। गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि जैसे वायु के सहारे सभी जीव-जन्तु जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम के सहारे अन्य आश्रम जीवित रहते हैं

भारत में संयुक्त परिवार की प्रथा प्राचीनकाल से थी। संयुक्त परिवार में माता, पिता भाइयों और बहनों के अतिरिक्त कभी-कभी अन्य संबंधी भी रहते थे। परिवार पितृ सत्तात्मक होता था। पिता पर पूरे कुटुम्ब के सुख-सुविधा का भार होता था। कर्तव्य के साथ उसके कुछ अधिकार भी होते थे जैसे सभी पर उसका नियन्त्रण होता था। परिवार में माता का स्थान भी अत्यन्त उच्च तथा महत्वपूर्ण था। बालक की सर्वप्रथम गुरु माता ही होती थी। सन्तान का पालन-पोषण तथा गृह की सम्पूर्ण व्यवस्था का उत्तरदायित्व गृहिणी पर होता था। वह गृहपति के कार्यों में भी सहयोग देती थी। मनुस्मृति में गृहस्थाश्रम का अत्यन्त ऊंचा आदर्श रखा गया है। उसके अनुसार जहां पति से पत्नी तथा पत्नी से पति सन्तुष्ट रहता है कल्याण स्वयं वहां निवास करता है[3]। आदर्श पारिवारिक जीवन में नि:स्वार्थ श्रद्धा, सहयोग, दया, सहानुभूति, धैर्य, संतोष, विनम्रता आदि गुणों का होना अनिवार्य था। परिवार में वृद्ध तथा निर्बल का विशेष ध्यान रखा जाता था। पितृ-भक्ति तथा मातृ-भक्ति पर विशेष बल दिया जाता था। पत्नी के लिए पति परायण होना आवश्यक था।

कौटुम्बिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए अनेक संस्कारों तथा यज्ञों का विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त यम-नियम

---

१ नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी"
--ऋग्वेद --तृतीय खण्ड -- १०.१०.११७

२ 'रघुवंश' : कालिदास, अध्याय५, श्लोक १०

३ संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।।
--मनुस्मृति -- ३.६०

का भी पारिवारिक जीवन में विशेष महत्त्व है । ये यज्ञ तथा संस्कार निम्न हैं--

पंचमहायज्ञ

मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में उल्लेख है कि गृहस्थ नित्य पांच प्रकार की हिंसाएं --चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखल-मूसल और घड़ा-- करते हैं[1] । इन हिंसाओं के दोष से मुक्त होने के लिए पांच प्रकार के यज्ञों की व्यवस्था की गई है, जिन्हें पंचमहायज्ञ कहते हैं । प्रत्येक गृहस्थ के लिए इसका पालन करना अनिवार्य है । ये पंच महायज्ञ-- देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ अथवा मनुष्य यज्ञ हैं[2] । ब्रह्मयज्ञ में पढ़ने-पढ़ाने, पितृयज्ञ में पितरों का तर्पण करने, देवयज्ञ में होम करने, भूतयज्ञ में बलि देने तथा मनुष्य यज्ञ में अतिथि सत्कार करने की व्यवस्था की गई है[3] । इन पांचों महायज्ञों को क्रमश: अहुत-जप, हुत-होम, प्रहुत-भूतबलि, ब्राह्मुत--ब्राह्मण की पूजा, प्राशित- नित्यश्राद्ध के नाम से जाना जाता है[4] ।

ब्रह्मयज्ञ

इसे ऋषि यज्ञ भी कहते हैं । अध्ययन, अध्यापन द्वारा निरन्तर ज्ञान की वृद्धि करना तथा ब्रह्मचर्याश्रम से प्रारम्भ हुए ज्ञानार्जन को गृहस्थाश्रम में प्रयोग करते रहना इसका उद्देश्य है, क्योंकि वेदाध्ययन द्वारा चिन्तन, मनन की प्रवृत्ति जागृत होती है और उससे आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध में उत्पन्न जिज्ञासाओं को शान्त करने में सहायता मिलती है ।

---

१ पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
काण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।।--मनुस्मृति ३.६८

२ देवयज्ञः पितृयज्ञोत मनुष्यभूतयज्ञकौ ।
ब्रह्मयज्ञः सप्त पाकयज्ञसंस्थाः पुरोष्टकाः ।।--अग्निपुराण-प्रथम खंड ६८.१२

३ अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृ यज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमोदैवोबलिर्भौतोऽनृयज्ञो तिथिपूजनम् ।।--मनुस्मृति ३.७०

४ जपोऽहुतोहुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्मं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ।।--मनुस्मृति ३.७४

इसके अतिरिक्त अन्तर्गत सन्ध्योपासना आदि कर्म भी आते हैं ।

देवयज्ञ

इसको अग्निहोत्र कहते हैं । यह प्रात: तथा सायं दोनों समय वेद मंत्रों द्वारा सम्पन्न किया जाता है । दैनिक जीवन में इसका विशेष महत्त्व है । प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन यह यज्ञ करना चाहिए ।

भूत यज्ञ

यह महायज्ञ भोजन से पूर्व किया जाता है । रसोई में जो भी भोजन बनता है, उसमें से पहले मिष्ठान्न से अग्नि में आहुति देते हैं, तत्पश्चात् भोजन में से छ: भाग निकालते हैं, जो पापी, श्वपच, वायस, कीट पतंग, पशु-पक्षी आदि को दिये जाते हैं । इस प्रकार जो निराधार या अपाहिज हैं उनके भरण-पोषण की व्यवस्था की गई है ।

नृयज्ञ

इसे अतिथि यज्ञ भी कहते हैं । प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि अतिथि के आने पर पहले उसे आसन दे, तत्पश्चात आसन ग्रहण करे । उसे पहले भोजन दान दक्षिणा से सन्तुष्ट करे इसके पश्चात् स्वयं भोजन करे ।

पितृयज्ञ

माता-पिता, तथा गुरुजनों की सेवा करना उनकी आज्ञा का पालन करना, उन्हें जो कार्य प्रिय हो, वही करना, उन्हें प्रसन्न रखना आदि पितृयज्ञ के अन्तर्गत आते हैं । इसके अतिरिक्त मृत पितरों के तर्पण आदि भी इसी के अन्तर्गत आते हैं ।

संस्कार

जन्म से मृत्युपर्यन्त तक अनेक संस्कारों का प्रतिपादन किया जाता है । ये संस्कार दाम्पत्य जीवन के उत्तरदायित्व के प्रतीक हैं ।

जो माता-पिता इन संस्कारों का विधिवत् पालन नहीं करते वे अपने कर्तव्य से च्युत समझे जाते हैं। ये संस्कार हमारे इहलोक को तो पवित्र करते ही हैं,परलोक में भी पापों से मुक्ति दिलाते हैं। अग्निपुराण में इसका विशद् विवेचन मिलता है[1]।

गर्भाधान

विवाहोपरान्त सन्तानोत्पत्ति के निमित्त इसका विधान है। इसमें कोई स्वार्थ भावना नहीं होती है। यह पारस्परिक स्वीकृति तथा तृप्ति का द्योतक है। पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए इस संस्कार को आवश्यक माना गया है।

पुंसवन

पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा से किया गया धर्म-कार्य पुंसवन कहलाता है। इससे पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा व्यक्त होती है। पति-पत्नी ईश्वर से प्रार्थना करते हैंकि उन्हें योग्य पुत्र की प्राप्ति हो।

सीमन्तोन्नयन

यह संस्कार माता के प्रथम गर्भधारण करने के पश्चात् पांचवें महीने में किया जाता है। गर्भवती स्त्री की इच्छापूर्ति की क्रिया भी इससे संबंधित है। इसमें गर्भवती स्त्री का शृंगार किया जाता है तथा संगीत और सहभोज आदि की व्यवस्था की जाती है और खुशी मनाई जाती है। गर्भिणी को उदुम्बर के पुष्पों की माला पहनाई जाती है।

---

१ गर्भाधानं पुंसवनं सीमान्तोन्नयन ततः।
जातकर्म नाम कृतिश्चान्नप्राशनचूडकम् ॥
संस्कारश्चोपनयन वेदव्रतचतुष्टयम् ।
स्नानं स्वधर्म चारिण्याः योगः स्याद्यज्ञपंचकम् ॥
--अग्निपुराण-प्रथम खण्ड ६८, १०-११

जातकर्म

बालक के जन्मोपरान्त उसकी रक्षा के लिए यह संस्कार किया जाता है । पिता यज्ञ करता है और ईश्वर से बालक के स्वास्थ्य तथा रक्षा के लिए प्रार्थना करता है ।

नामकरण

यह संस्कार बच्चे के नाम रखने से संबंधित है । पिता अपने उपयोग के लिए अर्थात् पुकारने के लिए जन्म-नाम रखता है और पुरोहित राशि के अनुसार दूसरा नाम रखता है ।

निष्क्रमण

इस संस्कार के पश्चात् बच्चे को सूतिकागृह से बाहर निकाला जाता है । यह संस्कार जन्म के दो या तीन मास पश्चात् सम्पन्न होता है । इतना बड़ा बच्चा सूर्य तथा चन्द्र के ताप को सहन करने योग्य हो जाता है । अत: प्रथम चन्द्र के प्रकाश में तथा बाद में सूर्य के प्रकाश में उसे निकाला जाता है ।

अन्नप्राशन

जन्म के छ: महीने बाद दांत निकलने के समय बच्चे को भोजन खिलाना प्रारम्भ करते थे,जिसे अन्नप्राशन संस्कार कहते हैं ।

चूड़ा कर्म

इस संस्कार में बच्चे के बाल को प्रथम बार काटते हैं और थोड़ा सा शिखा छोड़ देते हैं । यह इसलिए किया जाता है कि इससे मस्तिष्क बिना किसी बाधा के वृद्धि करता है ।

कर्णवेध

जन्म के तीसरे या पांचवें वर्ष में यह संस्कार होता है । इसमें बच्चे का कान छेदते हैं तथा यज्ञोपवीत धारण कराते हैं ,जिसका अर्थ है उसे अब नियमपूर्वक रहना होगा ।

उपनयन

आठ वर्ष से चौदह वर्ष के अन्दर किसी भी समय यह संस्कार किया जा सकता है । इसके पश्चात् बालक गुरु के घर पर रह कर विद्याध्ययन करता है । बालक को पिता किसी योग्य गुरु या आचार्य के पास ले जाता है । बच्चे के विद्याध्ययन तथा चरित्र-निर्माण का उत्तरदायित्व अब शिक्षक पर आ जाता है । शिक्षक ही उसके माता-पिता के सदृश होते हैं। इस प्रकार बालक का यह दूसरा जन्म होता है, अत: इसे द्विज भी कहा जाता है । इस संस्कार द्वारा बालक को ब्रह्मचर्य व्रत के पालन तथा वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त हो जाता है ।

वेदारम्भ

वेद का अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व जो धार्मिक कृत्य किये जाते हैं,उन्हें वेदारम्भ संस्कार कहते हैं । इस समय ब्रह्मचारी चारों वेदों के अध्ययन का व्रत लेता है । यह अध्ययन गायत्री मंत्र से प्रारम्भ होता है ।

समावर्तन

यह संस्कार शिक्षा समाप्ति पर किया जाता है । इस समय आचार्य उसे सत्य,धर्म आदि का उपदेश देते हैं तथा विवाह कर सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा देते हैं । इस अवसर पर आचार्य उसे गृहस्थाश्रम के योग्य शिष्टाचार भी सिखाते हैं यथा-उदार,दयावान, विनयी,क्षमाशील,उपकारी, शुद्धात्मा और प्रसन्न चित्त रहना आदि । कभी-कभी गुरुदक्षिणा के रूप में आचार्य किसी वस्तु या धन की मांग करते हैं,जिसके लिए ब्रह्मचारी राजा के पास जाता है और उनसे मांग कर गुरुदक्षिणा से उऋण होता है ।

विवाह

ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए इस संस्कार का सम्पादन किया जाता है । इसका उद्देश्य आध्यात्मिक तथा सामाजिक कल्याण होता है । ऐसा माना जाता है कि विवाह का संबंध केवल एक जन्म का नहीं होता है,वरन् मृत्यु के पश्चात् भी वह दृढ़ रहता है । विवाह दैवी विधान है जिसे तोड़ा नहीं जा सकता ।

विवाह के आठ प्रकार हैं,जो क्रमश: ब्राह्म विवाह,देव-विवाह, आर्ष विवाह, प्रजापत्य विवाह, असुर विवाह, गान्धर्व विवाह, राक्षस विवाह और पैशाच विवाह कहे जाते हैं[1]।

ब्राह्म विवाह

यह विवाह आदर्श विवाह होता है । इसमें विवाह योग्य कन्या का पिता किसी योग्य वर को समुचित दक्षिणा के साथ कन्या का दान देता है । इसका उद्देश्य होता है गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वों का पालन करते हुए ब्रह्म का साक्षात्कार करना अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना । शिव -पार्वती और अरुंधती तथा वशिष्ठ का विवाह इसका उदाहरण है ।

दैव विवाह

इस विवाह में अलंकारों से अलंकृत कन्या का दान किसी ऋषि आदि को किया जाता है । च्यवन और ऋषि तथा इन्द्र और इन्द्राणी का विवाह इसका उदाहरण है ।

आर्ष विवाह

कन्या के माता-पिता या अभिभावक वर से बैल अथवा गाय लेकर उन्हें कन्या देते थे । कन्या के पिता को दिए गए पशु नव-दम्पति के प्रेम के प्रमाणस्वरूप होते थे । ऋषि अगस्त और लोपा मुद्रा का विवाह इसका प्रमाण है ।

प्रजापत्य विवाह

जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है इसका उद्देश्य होता है विवाह कर सन्तानोत्पत्ति द्वारा प्रजा की वृद्धि करना । इसमें पितरों

---

१ ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष: प्राजापत्यस्तथासुर: ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम: ।।
--मनुस्मृति ३,२१

की पूजा आश्रितों,अतिथियों और निराश्रयों की सेवा करते हुए गृहस्थ धर्म का पालन किया जाता है । इस विवाह में कन्या का पिता वर और बधू को गृहस्थाश्रम धर्म की सीख देता है तथा धार्मिक विधि से वर को कन्या सौंप देता है । प्राचीनकाल में कभी-कभी विदुषी कन्यायें वर से शास्त्रार्थ करती थीं । वर के विजयी होने पर वे स्वयं उससे विवाह की अनुमति दे देती थीं । ब्राह्मणों के विवाह अधिकतर इसी रीति से होते थे ।कभी-कभी वर के सौन्दर्य अथवा शौर्य के वर्णन मात्र से कन्या उसका वरण कर लेती थी । अथवा स्वयम्वर में वह जिसे चुनती थी,पिता धार्मिक रूप से उसे अपनी कन्या सौंप देता था । प्राचीनकाल में क्षत्रियों के विवाह प्राय: स्वयम्वर द्वारा ही होते थे । दमयन्ती का विवाह स्वयम्वर द्वारा ही हुआ था ।

असुर विवाह

इसमें वर कन्या के पिता को अपने सामर्थ्यानुसार धन देकर उस कन्या से विवाह कर लेता था । महाभारत के पाण्डु तथा माद्री का विवाह इसके उदाहरण हैं ।

गान्धर्व विवाह

स्वेच्छापूर्वक मिलन तथा विवाह गान्धर्व विवाह कहा जाता है ।

राक्षस विवाह

इसमें वर बलपूर्वक कन्या का हरण करके उससे विवाह करता है । कृष्ण और रुक्मिणी तथा अर्जुन और सुभद्रा का विवाह इसी प्रकार का विवाह था ।

पैशाच विवाह

कन्या के माता-पिता को धोखे से वश में कर लिया जाता है । जैसे सोते में उठा लाना अथवा नशे या मानसिक असन्तुलन के समय उसे वशीभूत

कर उससे विवाह कर लिया जाता है । उषा और प्रद्युम्न का विवाह इसके उदाहरण हैं ।

पहले चार प्रकार के विवाह अर्थात् ब्राह्म,दैव,आर्ष, तथा प्राजापत्य,विवाह के श्रेष्ठ रूप हैं । इनसे उत्पन्न सन्तान सुन्दर,स्वस्थ, चरित्रवान तथा यशस्वी होती है ।

असुर,गांधर्व ,राक्षस और पैशाच विवाह आदर्श विवाह नहीं होते हैं । इनसे उत्पन्न सन्तान निर्दयी,असत्यभाषी, तथा धर्म एवं वेद से घृणा करने वाली होती है ।

इन विवाहों के अतिरिक्त नियोग की भी प्रथा थी । पति के मृतक हो जाने,विदेश चले जाने,नपुंसक अथवा रोगग्रस्त होने पर नि:सन्तान स्त्री किसी भी योग्य पुरुष से यदि चाहे तो सन्तान प्राप्त कर सकती थी । अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे । ब्राह्मण,क्षत्रिय या वैश्य अपने से नीचे की अन्य वर्णों में जैसे ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य अथवा शूद्र की कन्या से विवाह कर सकता था । इसे अनुलोम विवाह कहा जाता था । अपने से उच्च वर्ण की कन्या से भी विवाह होते थे पर अपवाद स्वरूप ही । इसे समाज में उचित नहीं समझा जाता था । इसे प्रतिलोम विवाह कहा जाता था ।

विवाह पूर्ण वयस्क होने पर होता था । बादमें बाल-विवाह की प्रथा भी प्रचलित हो गई । निकट संबंधी और समान गोत्र में विवाह वर्जित था तथा सपिण्ड विवाह नहीं होते थे । विवाह के लिए जाति की समानता आवश्यक तो थी पर अनिवार्य नहीं,क्योंकि अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे । बहु-विवाह की प्रथा भी यत्र-तत्र प्रचलित थी पर बहुपतीत्व की प्रथा नहीं थी । कहीं-कहीं इसके उदाहरण मिलते हैं पर इसे समाज में निन्दनीय समझा जाता था । क्योंकि यह प्रथा भारतीय आदर्श के अनुकूल नहीं थी । मनु आदि ने भी पुरुष के बहु विवाह का स्पष्ट विरोध तो नहीं किया है पर स्त्री के लिए पतिव्रत धर्म को ही श्रेष्ठ बताया है[१] । विवाह का उद्देश्य वासना-तृप्ति नहीं था

---

१ नद्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ।

--मनुस्मृति ५,१६२

वरन् उसका आध्यात्मिक महत्व भी था । विवाह सम्बन्ध शाश्वत होता था । पहले बड़ी सन्तान का विवाह होता था उसके बाद छोटी सन्तान का ।

गार्हपत्य संस्कार

विवाह के समय धार्मिक क्रियाओं द्वारा अग्नि की स्थापना की जाती है,जिसे गार्हपत्य संस्कार कहते हैं । इस अग्नि को आयु-पर्यन्त प्रज्ज्वलित रखना होता था ।

वानप्रस्थाश्रम संस्कार

विवाह के बाद जब पुत्र के भी पुत्र हो जाय तब गृहस्थ जीवन छोड़कर ईश्वर-भजन में लीन होने के लिए गृहस्थाश्रम का त्याग करते थे , उस समय यह संस्कार सम्पन्न होता था ।

सन्यासाश्रम संस्कार

इसमें पूर्ण रूप से संसार त्याग कर लोभ और मोह आदि से विरत होकर सन्यास ग्रहण किया जाता था ।

अन्त्येष्टि संस्कार

अन्त्येष्टि संस्कार मृत्यु के बाद शरीर को भस्मसात् करने की क्रिया को कहते हैं ।

उपर्युक्त समस्त संस्कार पहले हिन्दुओं के लिए अनिवार्य थे,परन्तु अब धीरे-धीरे ये संस्कार लुप्त होते जा रहे हैं । अब इनका पालन बहुत कम होता है ।

वर्तमानकाल में उपनयन ,विवाह, नामकरण तथा अन्नप्राशन आदि संस्कार तो किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं पर अन्य संस्कारों का पूर्णतया लोप हो गया है । कहीं-कहीं सामान्तोन्नयन संस्कार भी होता है ।

यम-नियम

इसका भी पारिवारिक जीवन में अत्यन्त महत्व है। यम तथा नियम दोनों की संख्या १०-१० है-- यम, (१) ब्रह्मचर्य, (२)दया, (३) क्षमा, (४) ध्यान, (५) सत्य, (६) नम्रता, (७) अहिंसा,(८)चोरी न करना, (९) मधुर स्वभाव तथा (१० इन्द्रिय दमन आदि यम के अन्तर्गत आते हैं। नियम के अन्तर्गत (१) स्नान, (२) मौन, (३) उपवास,(४) यज्ञ,(५) स्वाध्याय,(६) इन्द्रिय निग्रह, (७) गुरु-सेवा, (८) शौच, (९) अक्रोध तथा (१० अप्रमाद आदि आते हैं। इन यम और नियमों का पालन प्रत्येक गृहस्थ को करना आवश्यक था।

इसके अतिरिक्त जीवन में चार पुरुषार्थों का भी अत्यधिक महत्व था। जीवन का लक्ष्य पुरुषार्थ अर्थात् धर्म,अर्थ,काम,और मोक्ष की प्राप्ति था।

धर्म

प्रत्येक व्यक्ति को धर्म का आचरण करना होता था। धर्म द्वारा समाज ही नहीं,राज्य भी नियंत्रित होता था। यह धर्म अत्यन्त व्यापक और उदार था।

अर्थ

धनोपार्जन का भी समाज में बहुत महत्व था बिना अर्थ के धर्म तथा काम की प्राप्ति असम्भव थी,अत: धनोपार्जन करना भी आवश्यक था।

काम

इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने का विधान था पर अपने कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए ही इसका विधान किया गया था। कर्तव्य से मुंह मोड़ कर आमोद-प्रमोद में लगे रहना इसका उद्देश्य नहीं था।

मोक्ष

जीवन का परम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है । धर्म,अर्थ और काम सभी मोक्षप्राप्ति से ही सफल हो सकते हैं । मोक्षप्राप्ति का अर्थ है ईश्वर में लीन होकर परमसुख को प्राप्त करना ।

वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया जाता था । इसमें ईश्वर की भक्ति की ओर ध्यान लगाया जाता था । गृहस्थाश्रम में भी धार्मिक कृत्य किये जाते थे पर तब अर्थ और काम मुख्य होता था ,पर इस आश्रम में अर्थ और काम का त्याग कर धर्म का आचरण किया जाता था । इस आश्रम में सांसारिक माया-मोह का त्याग करना तथा वन में जाकर तपस्या करना होता था । वानप्रस्थ को इन्द्रियों का दमन कर वन में निवास करना होता था तथा गृहस्थ की तरह इन्हें भी पंचमहायज्ञों का प्रतिदिन सम्पादन करना होता था । इनकी जीविका का प्रबन्ध गृहस्थों तथा राजा द्वारा किया जाता था । वे विशिष्ट अवसरों पर नगरों तथा ग्रामों में जाकर उपदेश भी देते थे ।

वानप्रस्थाश्रम में पत्नी भी साथ ही वन में जाती थी ,पर यदि वह चाहे तो घर में पुत्र के साथ रह सकती थी । विधवा स्त्रियाँ अकेले ही इस आश्रम के पालन के लिए वन में जा सकती थीं । वनवासी दिन में ही अपनी आवश्यकतानुसार भोजन प्राप्त कर लेते थे और रात्रि में सोते थे । वे प्रतिदिन भोजन नहीं करते थे । एक या दो दिन उपवास करने के बाद भोजन करते थे । यदि कभी अन्न नहीं मिलता तो वन में किसी अन्य तपस्वी से प्राणरक्षा मात्र के लिए थोड़ा-सा भोजन प्राप्त कर लेते थे । यदि कभी वन में तपस्वियों से भी भोजन न मिल सकता था तब गाँव या नगर की ओर जाते थे और भिक्षा लेकर तुरन्त वापस आ जाते थे । उस अन्न को वे हाथ या पत्ते पर रख कर केवल आठ कौर खाते थे । वे या तो पंजों के बल खड़े रहते थे या भूमि पर लेटते थे । वर्षा में अग्निहोत्र को प्रज्ज्वलित रखने के लिए ही वे पर्णकुटी या पहाड़ की कन्दराओं में शरण लेते थे अन्यथा धूप,शीत और

वायु को सहन करते हुए तप करते थे । वे जटा रखते थे तथा नख,दाढ़ी और मूंछ भी नहीं कटवाते थे । उनके वस्त्र भी अल्प ही होते थे ।

वे रोगी होने पर चिकित्सा नहीं करते थे । यदि रोगमुक्त हो गये तो पुन: उसी प्रकार रहते थे,अन्यथा केवल जल और वायु का सेवन करते हुए मृत्युपर्यन्त पूर्व और उत्तर के कोण की दिशा में साधारण गति से बढ़ते जाते थे ।

सन्यासाश्रम

यह अन्तिम आश्रम है । मोक्ष प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य है । इस आश्रम में सन्यासी वन को छोड़ कर गिरि-कन्दराओं में चले जाते थे । यदि पत्नी साथ होती थी तो उसका भी त्याग कर देते थे । वे नगरों तथा गांवों में प्रवेश नहीं करते थे । वे केवल दण्ड,कमण्डल और भिक्षापात्र साथ रखते थे , जो कुछ मिल जाता था,भोजन कर लेते थे ।वे सदा भ्रमण करते रहते थे । दाढ़ी,मूंछ,नख,जटा सब का त्याग कर देते थे । वे कम से कम वस्त्र धारण करते थे, ये वस्त्र गेरूए रंग के होते थे । वे सदा मौन रहते थे, कभी-कभी मन्त्र पाठ कर लेते थे ।

अहिंसा,इन्द्रिय दमन,अनासक्ति,कठिन तपस्या और विरक्ति की भावना से सांसारिक बन्धनों को तोड़कर सन्यासी ब्रह्मपद प्राप्त करता था ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति में आश्रमों की कल्पना इस प्रकार की गयी है कि उसमें भौतिकता तथा आध्यात्मिकता दोनों का समावेश हो जाता है । इसका कारण यह है कि भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक संस्कृति है । इसमें न तो अध्यात्म को छोड़ कर केवल भौतिक सुख-साधनों को प्राथमिकता दी गयी है और न अध्यात्म के लिए भौतिक सुख को नकारा गया है । जिसके प्रमाण हैं ये चार आश्रम । जिनमें धर्म के साथ भौतिकता का तथा भौतिकता के साथ धर्म को भी स्थान प्राप्त है । आश्रम व्यवस्था इस प्रकार की गयी है कि उससे चारों पुरूषार्थ--धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष सभी प्राप्त हो जाते हैं ।

वर्ण एवं जाति

जाति एवं वर्ण में पर्याप्त अन्तर है । जाति जन्मसिद्ध होती है और वर्ण कर्म पर आधारित होता है । वर्ण व्यवस्था का प्रारंभ वैदिक युग से हो हो गया था । बाद में यह वर्ण व्यवस्था अनेक जातियों तथा उपजातियों में विभक्त होता गई । विदेशियों के आगमन से अनेक नवीन जातियों का प्रादुर्भाव हुआ । विभिन्न व्यवसायों को करने वालों को भी विभिन्न जातियां बन गयीं ।

जातियों के भेद तीन प्रकार से किए गए-- वर्णानुसार कर्मानुसार और जन्मानुसार ।

वर्णानुसार

प्रारम्भ में जाति-भेद वर्ण अर्थात् रंग के अनुसार किया जाता था । आर्य गौर वर्ण के थे और अनार्य श्याम वर्ण के इस प्रकार उस समय केवल दो ही जातियां थीं आर्य और अनार्य । परन्तु यह व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकी, क्योंकि आर्यों के अनार्यों के सम्पर्क में आने से, ज्यों-ज्यों उनका मेल बढ़ता गया उनके रंग का अन्तर समाप्त होता गया । इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक दृष्टि से भी दोनों का अन्तर समाप्त हो गया । अत: अब इस प्रकार का भेद करना कठिन हो गया । अब व्यक्ति के कर्म के अनुसार उनकी जाति नियत होने लगी ।

कर्मानुसार

वैदिककाल में कर्मों से जाति का कोई सम्बन्ध न था । व्यवसाय के आधार पर कोई भी उच्च या निम्न नहीं माना जाता था । अपनी इच्छानुसार व्यवसाय या कर्म चुनने की स्वतन्त्रता थी । कर्मों के अनुरूप ही उनकी जाति निश्चित की जाती थी । अपने जीवन काल में कर्म द्वारा व्यक्ति अनेक जाति परिवर्तन कर सकता था । उस समय तक वर्णभेद नहीं था । ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण सभी ब्राह्मण थे । बाद में विभिन्न कार्यों के कारण उनमें वर्ण (रंग) भेद हो गया । जो ब्राह्मण अपने ब्राह्मणोचित कर्म०

कार्य को छोड़ कर भोग विलास में लिप्त हो गये, क्रोधी स्वभाव के हो गये तथा साहस का काम करने लगे, वे क्षत्रिय कहलाये । जिन्होंने खेती को अपना व्यवसाय बना लिया वे वैश्य कहलाये । जो हिंसा करने लगे वे शूद्र कहलाये ।

जन्मानुसार जाति

कालान्तर में जाति-व्यवस्था जन्मानुसार मानी जाने लगी अर्थात् ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही कहा जायेगा, भले ही वह वैश्य या क्षत्रिय के कार्य करता हो । इस प्रकार सामाजिक बन्धन धीरे-धीरे जटिल होता गया । समाज को व्यवस्थित रखने के लिए वर्ण व्यवस्था बनाई गई । ऐसा विश्वास है कि पुरुष के मुख से ब्राह्मण को, भुजाओं से क्षत्रिय को, उरु से वैश्य की और चरण से शूद्र की उत्पत्ति हुई । इन चारों वर्णों के उपयुक्त कार्य भी विभक्त कर दिए गए । ब्राह्मण का कार्य दान देना, दान लेना, यज्ञ करना तथा यज्ञ कराना, अध्ययन-अध्यापन, क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना, वैश्य का व्यवसाय करना तथा देश की आर्थिक उन्नति करना और शूद्र का कार्य सेवा करना था । उन्हें अपने कर्मों का समुचित पालन करना होता था । इनका पालन न करने से अनेक कठिनाइयाँ तथा समस्याओं के उत्पन्न हो जाने का अन्देशा रहता था । क्योंकि चारों वर्ण समाज की सुव्यवस्था के लिए बनाये गये थे, अतः उनका पालन आवश्यक था ।

ब्राह्मण

समाज में ब्राह्मणों को उच्च स्थान प्राप्त थे । वे पृथ्वी के देवता माने जाते थे । उन्हें अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक सुविधाएं प्राप्त थीं । इनका जीवन तपोमय होता था । सरलता, विनय, सद्भाव, ज्ञान तथा वेदों में विश्वास इसके गुण थे । ब्रह्म विद्या के उपदेश का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही था, परन्तु कुछ अपवाद भी मिलते थे । उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से तथा गार्ग्य ने अजातशत्रु से ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था । यज्ञ तथा पौरोहित्य कर्म करना, दान देना तथा दान लेना इनके मुख्य कर्तव्य थे ।

क्षत्रिय

क्षत्रिय का कर्तव्य प्रजा की रक्षा तथा राष्ट्र की सुख-शान्ति को बनाये रखना था । वेदों का अध्ययन यज्ञ तथा दान देना इनका धर्म था । ये वीर तेजस्वी,धैर्यवान तथा चतुर होते थे और ब्राह्मणों का सम्मान करते थे ।

वैश्य

राष्ट्र की आर्थिक व्यापारिक तथा कृषि संबंधी सारे उत्तरदायित्व वैश्य के होते थे । वे व्यवसाय तथा कृषि द्वारा आर्थिक उन्नति करते थे तथा अपनी सम्पत्ति समाज सेवा के लिए अर्पित करने के लिए प्रस्तुत क रहते थे । अध्ययन करना, यज्ञ करना तथा दान देना इनके मुख्य कर्तव्य थे । आस्तिकता,दानशीलता तथा ब्राह्मणों की सेवा करना इनका कब धर्म था । पशुओं की रक्षा का भार भी इन्हीं पर होता था ।

शूद्र

शूद्र का प्रमुख कार्य सेवा करना था । वे निन्दा, अपमान तथा अभिमान,ईर्ष्या आदि से दूर रहते थे । उनका कर्तव्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना था । ये लोग स्वामी भक्त होते थे ।यदि स्वामी सन्तानहीन होता था तो वृद्धावस्था में उसकी देखभाल का भार स्वयं उठाते थे और उसकी मृत्यु के उपरान्त पिण्डदान भी करते थे । इन्हें यज्ञ करने तथा विद्या-अध्ययन का अधिकार नहीं था । आवश्यकता पड़ने पर पशु-पालन तथा क्रय-विक्रय का कार्य भी कर सकते थे ।

प्रारम्भ में ये वर्ण कर्म के अनुसार होते थे जन्म से नहीं । धर्म का आचरण करने से निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति भी उच्च वर्ण का माना जाता था और निकृष्ट कार्य करने वाला उच्च वर्ण का व्यक्ति भी निकृष्ट माना जाता था ।

समाज को सुव्यवस्थित तथा संगठित करने के लिए चारों वर्णों की व्यवस्था की गई और उन्हें अपने-अपने नियत कार्यों के करने का

निर्देश किया गया । ये वर्ण समाजरूपी गाड़ी के चार पहिए हैं एक के भी असन्तुलित हो जाने पर समाज की उन्नति अवरुद्ध हो जायेगी,अतः सभी वर्णों को निष्ठा पूर्वक अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए ।

स्त्रियों की दशा

किसी भी देश की संस्कृति तथा सभ्यता का ज्ञान उस देश की स्त्रियों की दशा से होता है । भारतीय संस्कृति का मापदण्ड भी यहां की स्त्रियों की दशा से किया जा सकता है । भारत में नारी की स्वतन्त्रता का विरोध अवश्य किया गया,परन्तु उनका स्थान समाज में सदा उच्च रहा है । वैदिक काल में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही सामाजिक तथा धार्मिक अधिकार प्राप्त थे, वे स्वतन्त्र रूप से युद्ध तथा रथों के दौड़ आदि पुरुषोचित कार्यों में भाग लेती थी । कैकेयी दशरथ के साथ युद्ध (भूमि में गई थी) उस समय स्त्रियां विदुषी होती थी अनेक स्त्रियों ने वेद की ऋचाओं का सृजन किया जिसमें घोषा का नाम उल्लेखनीय है । वे शास्त्रार्थ भी करती थीं । गार्गी ने राजा जनक की सभा में ऋषि याज्ञवल्क्य से ब्रह्म विद्या में शास्त्रार्थ किया था[1] और याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने ब्रह्म विद्या के लिए धन सम्पत्ति सबका त्याग कर दिया था[2] । मण्डनमिश्र की पत्नी ने भी अपने पति तथा शंकराचार्य के बीच हुए शास्त्रार्थ की मध्यस्थता की थी । देवताओं के साथ स्त्रियों की पूजा भी होती थी जैसे अदिति,शची, सरस्वती आदि की पूजा ।

यहां स्त्रियों के महत्व को समझा गया और उन्हें पुरुष की अर्धांगिनी बताया गया । धार्मिक कार्यों में पत्नी का साथ रहना आवश्यक था । उसके बिना कोई भी धार्मिक कृत्य पूर्ण नहीं होते थे । राम को भी यज्ञ के समय सीता की स्वर्ण-प्रतिमा बनवानी पड़ी थी ।

---

१ बृहदारण्यक उपनिषद -- ३.८.१-११

२ वही २.४, २.५

कन्याओं का विवाह पूर्ण वयस्क होने पर होता था। वे पति चुनने में स्वतंत्र थी। विवाह के समय पति से सात वचन--क्रय विक्रय, आय, व्यय में सलाह लेना, देश-विदेश की यात्रा में पत्नी को साथी बनाना तथा परकीया स्त्री से दूर रहने का वचन लेती थी तब उनकी पत्नी बनना स्वीकार करती थीं।

भारतीय संस्कृति में स्वतन्त्रता के साथ शील और मर्यादा का भी महत्व था। ऋग्वेद काल में स्त्रियों के लिए आवश्यक था कि वे दृष्टि नीचे रखे तथा पैरों को मिलाये रखें। उनके ओठ तथा कटि से नीचे के भागों को कोई देखने न पावे[१]।

बाल्मीकि के समय में भी स्त्रियों की नैतिकता तथा उनका आदर्श अत्यन्त उच्च था। स्त्रियां पतिव्रत धर्म का पालन करती थीं। गांधारी, सावित्री, दमयन्ती, सीता आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

रामायण काल की अपेक्षा महाभारत काल की स्त्रियां अधिक स्वतंत्र तथा तर्कशील थीं। युधिष्ठिर द्वारा द्यूत में द्रौपदी को हार जाने पर दुर्योधन उसे राजसभा में बुलवाता है। उस समय द्रौपदी तर्क करती है कि यदि युधिष्ठिर पहले स्वयं को हार चुके थे तो बाद में उसे दांव पर लगाने का उनका कोई अधिकार शेष नहीं था। उन्हें शिक्षा का पूर्ण अधिकार था तथा वे पति चुनने में भी स्वतंत्र थी।

स्मृतिकाल में स्त्रियों की स्वतन्त्रता कम हो गई परन्तु उनका पारिवारिक जीवन अधिक सुदृढ़ हो गया। यह माना गया कि पति और उसके पूर्व पुरुषों का स्वर्ग स्त्री के अधीन रहता है। सन्तानोत्पत्ति तथा उसका पालन पोषण और गृहकार्य की आधार स्त्री ही है। यह भी कहा गया कि जहां स्त्रियों की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं। स्त्री के बिना कोई धर्म कार्य सम्पादित नहीं हो सकता। स्त्री विहीन पुरुषों को यज्ञ का अधिकार नहीं प्राप्त है।

---

१ अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥

--ऋग्वेद ८ ३३ १९

सूत्रों के काल तक आते-आते स्त्री की स्वतन्त्रता पूर्णरूपेण समाप्त हो गई। उसे रक्षणीया समझा जाने लगा। बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र द्वारा उसकी रक्षा का विधान किया गया[१]। विवाह की स्वतन्त्रता भी समाप्त हो गई और चुनाव का कार्य माता-पिता करने लगे।

मुसलमानों के आक्रमण के बाद तो स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। अब पुरुष उस पर शासन करने लगे। परदे की प्रथा के कारण उनसे शिक्षा का अधिकार भी छीन लिया गया। अब बाल-विवाह होने लगे। स्त्री को दासी का स्थान प्राप्त हो गया।

आधुनिक युग में पुन: स्त्रियों की दशा में सुधार हुआ। शिक्षा तथा समाज के क्षेत्र में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। स्त्रियों को पुन: सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। पर्दा-प्रथा समाप्त हो गई। विवाह भी पूर्ण वयस्क होने पर होने लगा। अब स्त्रियों को पुरुषों के समान ही पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गये।

निष्कर्ष

'संस्कृति' शब्द अत्यन्त व्यापक है। वह जीवन की स्थायी व्यवस्था होते हुए भी चेतन तत्व है। इसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवहारकुशलता तथा सभ्यता का अन्तर्भाव होता है। संस्कृति का सम्बन्ध लौकिक, अलौकिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति और विकास से है। प्रत्येक देश की अपनी-अपनी संस्कृति होती है, जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होती है और प्रत्येक संस्कृति की अपनी-अपनी विशेषता होती है, जो उसे अन्य संस्कृतियों से पृथक् करती है।

भारतीय संस्कृति अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा प्राचीन तथा उन्नत संस्कृति है। इसका प्रारम्भ वैदिक युग से भी पूर्व हो चुका था।

१ पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।।

--मनुस्मृति ९.३

उस समय भी भारत में पर्याप्त उन्नत संस्कृति थी, जिसके अवशेष हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। अनेक राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक उत्थान-पतन के मध्य भी यह संस्कृति अपनी निजता को सुरक्षित रखते हुए विकसित होती रही। इसका श्रेय उसके समन्वयवादिता के गुण को है। भारत में अनेक संस्कृतियां आयीं, जैसे शक, सीथियन, हूण, मुगल और यवन आदि। इनके विभिन्न तत्वों को ग्रहण करने के कारण भारतीय संस्कृति का रूप बराबर परिवर्तित होता रहा।

भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान संस्कृति है। इसमें अनेक देवी-देवताओं के अवतारों की कल्पना की गई है। इस संस्कृति के अन्तर्गत अनेक धर्म तथा सम्प्रदाय हैं, जैसे ब्राह्मण धर्म, भागवत धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, शैव सम्प्रदाय, शाक्त धर्म तथा वैष्णव धर्म आदि। सभी धर्मों तथा सम्प्रदायों को यहां पुष्पित एवं पल्लवित होने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया गया तथा सभी धर्मों को समानरूप से आदरणीय माना गया।

भारतीय संस्कृति का मूल आधार मानवता है, अत: इसमें दया, प्रेम, सहिष्णुता, अहिंसा एवं विश्वमैत्री आदि मानवीय गुण विद्यमान हैं। भारतीय जीवन को संयम पूर्ण एवं व्यवस्थित रखने के लिए आश्रम-व्यवस्था एवं वर्ण व्यवस्था की स्थापना की गई है तथा अनेक यम-नियमों के पालन का भी निर्देश किया गया है।

अत: यह कहा जा सकता है कि "समस्त सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति संस्कृति में ही होती है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति द्वारा ही नापा जाता है। उसके द्वारा ही लोगों को संघटित किया जाता है। इसीलिए संस्कृति के आधार पर ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और आचारों का समन्वय किया जा सकता है।"[१]

-o-

---

१ 'भारतीय संस्कृति का विकास' (वैदिक धारा) : डा० मंगलदेव शास्त्री, प्रथम संस्करण, पृ०४।

द्वितीय अध्याय

-0-

नाटक

नाटक की उत्पत्ति

नाटक का अर्थ है, पात्र द्वारा अपना रूप परिवर्तित करके प्रदर्शित किया जाने वाला वह हाव-भाव, जो लोगों का मनोरंजन करने के साथ-साथ उन्हें शिक्षा तथा शान्ति भी प्रदान करे । नाटक दृश्य काव्य है, अत: इसमें अव्यक्त भावों को हाव-भाव और अभिनय द्वारा व्यक्त किया जाता है । मानव के प्रत्येक हाव-भाव और अभिनय को नाटक कह सकते हैं । मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन भी तो एक नाटक ही है ।

नाटक के दो पक्ष होते हैं-- अलौकिक पक्ष तथा लौकिक पक्ष । ईश्वर प्रदत्त प्रकृति में जो भी दृश्य हमें दृष्टिगोचर होते हैं, जो भी सुख-दु:ख प्राप्त होते हैं, वह सब लीलामय ईश्वर की लीला है, उसका अभिनय है । भगवान के विभिन्न अवतार जिसमें उन्होंने अनेक रूप धारण किये यथा--नृसिंह, वाराह, कश्यप आदि उनका अभिनय ही तो है । हम भी लौकिक जीवन में इसी प्रकार विभिन्न रूपों का स्वांग भरते और अभिनय करते हैं । यह अभिनय जन्म से प्रारम्भ होकर मृत्युपर्यन्त चलता है । बालक अपने बड़ों का अनुकरण करके डाक्टर वकील, व्यापारी और अध्यापक का अभिनय करते हैं, लड़कियां मां का अनुकरण कर गुड़िया के लिए भोजन बनाती है, उसे नहलाती है, सुलाती है-- यह सारा अभिनय नाटक ही तो है । इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन गया है ।

नाटक का प्राण अभिनय जो हमारे जीवन का अविभाज्य अंग है, उसका जन्म कब और कैसे हुआ, यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है । अनेक विद्वानों ने इसी जिज्ञासा के वशीभूत होकर नाटक की उत्पत्ति के अनेक कारणों का अनुसन्धान किया है ।

सृष्टि के प्रारम्भ में जब ब्रह्मा ने एक से अनेक होने की इच्छा की और फलस्वरूप मानव जाति की सृष्टि हुई, उसी समय से नाटक मानव

जीवन में व्याप्त हो गया और मानव की उन्नति के साथ ही साथ उसकी भी उन्नति होती गई । प्रारम्भ में मानव की आवश्यकताएं तथा उसके अनुभव सीमित थे । अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर वह प्रसन्न होकर पशुओं की सींग लगा कर उछल-कूद करता तथा नाचता था और इस प्रकार वह अपना मनोरंजन करता था । परन्तु जब उसमें सौन्दर्य-बोध उत्पन्न हुआ तब वह सामूहिक रूप से नाच-गा कर अपना मनोरंजन करने लगा । जयनाथ नलिन ने इन नृत्यों को ही नाटक का आदि रूप माना है[१] । परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि इन्हीं नृत्यों से नाटक की उत्पत्ति भी हुई ।

नाटक के जन्म के विषय में कुछ विद्वानों ने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को मान्यता दी है । इसके अनुसार वैवस्वत मनुवाला त्रेतायुग प्रारम्भ होने के समय संसार में अत्यधिक अव्यवस्था फैल गई थी, जिससे सर्वत्र दुःख व्याप्त हो गया था । संसार को इस कष्ट से मुक्ति दिलाने के लिए देवतागण ब्रह्मा के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि वे किसी ऐसे मनोरंजन के साधन का निर्माण करें जिसे देखा भी जा सके और सुना भी जा सके, जिसका आनन्द सभी वर्णों के लोग ले सकें,जो सबको आनन्द देने वाला तथा मनोरंजनकारी हो । इस अनुरोध पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण करके एक पांचवें वेद का निर्माण किया[२] । इस पंचमवेद को नाट्यवेद का नाम दिया गया । इसमें शंकर भगवान ने ताण्डव नृत्य तथा पार्वती जी ने लास्य नृत्य जोड़ा और इस प्रकार नाटक की उत्पत्ति हुई ।

नाट्य उत्पत्ति के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने लिखा है कि 'वह कथा एक रूपक मात्र है और इसका नाटक के जन्म अथवा विकास की परम्परा के विवरण में कोई विशेष स्थान

---

१ 'हिन्दी नाटककार' : जयनाथ नलिन, द्वितीय संस्करण,पृ०३

२ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।
-- नाट्यशास्त्र १,१७

नहीं है। इसमें केवल नाट्यकला के स्वरूप और उसके आदर्श का निर्देश किया गया है।[1] डा० बच्चनसिंह ने भी नाट्योत्पत्ति के इस सिद्धान्त को तर्क से पुष्ट न होने के कारण अमान्य माना है[2]। यदि इस कथा को काल्पनिक मान भी लें तो इतना तो मानना ही होगा कि उस समय तक नाटक के समान किसी मनोरंजक विधा की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था।

कुछ विद्वानों का विचार है कि नाटक की उत्पत्ति ऋग्वेद में पाये जाने वाले संवादों से हुई। इसके अन्तर्गत यम-यमी संवाद[3], इन्द्र-इन्द्राणी वृषाकपि संवाद[4], पुरुरवा-उर्वशी संवाद[5], सरमा पाण्योऽसुरा: संवाद[6] आदि का उल्लेख किया जाता है। इस मत को मानने वाले विद्वानों के अनुसार इन संवादों में नाटक के मुख्य तत्व संवाद प्राप्त होते हैं। कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह के अनुसार ये संवाद पूर्ण हैं और इनका अभिनय भी किया जा सकता है[7]। श्री मैक्डोनल ने इन संवादों को ही नाटक का आदि रूप माना है[8]। परन्तु कुछ

---

१ `हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा` : कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, प्रथम खण्ड, संस्करण १९६४,पृ०१ ।

२ `हिन्दी नाटक` : बच्चन सिंह, द्वितीय संस्करण,पृ०६ ।

३ ऋग्वेद -- १०.१.१०

४ वही -- १०.७.८६

५ वही -- १०.८.९५

६ वही -- १०.९.१०८

७ `हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा`: कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, प्रथम खण्ड, संस्करण १९६४, पृ०४ ।

८ The earliest forms of dramatic literature in India are represented by these hymns of the Rg-vedas which contain dialogues, such a those of sarama and the Panis, yama and yami, Pururavas and Urwasi, the latter, indeed being the foundation of a regular play composed much more than a thousand years later by the greatest dramatic of India. The origin of the acted drama is, however, warapt in obscurity. Nevertheless, the evidence of tradition and of language suffice to direct us with considerable probability to its source.

-- A History of Sanskrit literature - A.A.Mac Donell Pg. 292.

विद्वानों ने इस मत का खण्डन किया है । इस विषय में पं०सीताराम चतुर्वेदी का विचार है कि इन संवादों को नाटक का आदि रूप मानना नितान्त भ्रामक है[१] । श्री विश्वनाथ मिश्र के अनुसार 'नाटक का प्रधान तत्व संवाद वेदों में भी देखने को मिलता है,किन्तु उस युग में नाटक लिखे जाते थे और उनका अभिनय होता था, यह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता है[२] ।'

इन संवाद सूक्तों के अतिरिक्त वैदिक कर्मकांड भी नाटक की उत्पत्ति का एक कारण माना जाता है । इसके लिए यज्ञ के अवसर पर दो पात्रों द्वारा बोले गये संवादों का उल्लेख किया जाता है, जिसमें इन्द्र मरुत संवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । 'श्रौतकोश' में एक स्थल पर यज्ञ के अवसर पर इन्द्र के उपासकों द्वारा सोमरस के क्रय का प्रसंग प्राप्त होता है[३] ।सोमरस के क्रय-विक्रय के समय जो संवाद बोले जाते थे उनमें कथोपकथन तथा संघर्ष आदि तत्व मिलते हैं । इनमें एक दल इन्द्र का तथा दूसरा दल मरुत का प्रतिनिधित्व करता है । इस मत की पुष्टि मैक्डोनल,ए०बी०कीथ, प्रसाद जी तथा गुलाबराय आदि ने की है । मैक्डोनल ने अपने मत की पुष्टि के लिए सोमरस के क्रय-विक्रय

----

१ 'अभिनव नाट्यशास्त्र' : पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम खण्ड, द्वितीय संस्करण, पृ० ३३ ।

२ 'हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव' : विश्वनाथ मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०२२ ।

३ 'श्रौत कोश' : सम्पा० चि०ग० काशीकर, डा० वी०वी० भिडे, वेदरत्न गणेश शास्त्री खरे, आहिताग्नि ऋषि शंकर त्रिपाठी, प्रथम संस्करण, पृ० ४६-६१ ।

के समय बोले जाने वाले संवादों का उल्लेख किया है। ए०बी० कीथ ने भी माना है कि इन कर्मकांडों में ही नाटक के बीज अन्तर्निहित थे। कर्मकांड में केवल गीतों का गान या देवताओं का स्तुति-पाठ ही नहीं सम्मिलित था, वरन् उसके अंतर्गत अनुष्ठानों का जटिल चक्र भी था जिनमें कुछ नाटकीय प्रदर्शन का तत्व भी विद्यमान था[२]। बाबू गुलाबराय ने भी इन्हीं कर्मकाण्डों से नाटक की उत्पत्ति मानी है। आपके अनुसार 'भारतीय नाटकों का उदय वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अवसरों पर होने वाले अभिनयात्मक नृत्यों से हुआ। पीछे से रामायण, महाभारत, काव्य और इतिहास ग्रन्थों से उसे पर्याप्त सामग्री मिली और वह अपने पूर्ण विकसित रूप में आ गया[३]।' प्रसाद जी के विचार से 'यह ठीक है कि यह याज्ञिक क्रिया है, किन्तु है अभिनय सी ही[४]' इस प्रकार वेदों में जो यज्ञ का विधान है उनमें हमें नाट्य तत्व देखने को मिल जाते हैं, उसका बीज रूप तो परिलक्षित होता है, परन्तु यह किसी प्रकार भी स्पष्ट नहीं होता कि इनसे ही नाटक की उत्पत्ति भी हुई है। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने इस मत का खण्डन

----

१ The Indian drama derives its origin from scenes of an histrionic and a popular character which are imitated in vedic ritual, as when a Brahmin buys Sona from a sudra, who is then driven out with sticks, such scenes of horse play would be accompanied by dance, song and music, which are designated as the most important elements of the dramatic art (Natya). It is also noteworthy that the ordinary words for 'actor','play' and 'dramatic art' as has already been said, derived from the vernacular root not 'to dance'. The mimic dance becomes drama as soon as words are added.

India's post- A.A. Moc Donell, Pg.99.

When we leave out of account the enigmatic dialogues of the Rg-veda we can see that the vedic ritual contained within itself the germs of drama, as is the case with practically every primitive form of worship. The ritual did not consist merely of the singing of songs or recitations in honour of Gods; it involved a complex round of ceremonies in some of which there was undoubtedly present the element of dramatic representation, that is the performers of the rites assumed for the time being personalities other than their own."

The Sanskrit drama-A.Berriedale Keith, Pg.23.

३ 'हिन्दी नाट्य विमर्श' : बाबू गुलाबराय, पृ०१४

४ 'काव्य एवं कला तथा अन्य निबंध' : जयशंकर प्रसाद, 'नाटकों का आरम्भ', पृ०९०।

करते हुए कहा है कि नाट्यवेद का प्रयोग करने वाले को प्रयोक्ता कहते हैं, जिसका अर्थ है करके दिखाना। यह गुण केवल नाट्यवेद में है, अन्य किसी वेद में नहीं है, अत: इन वेदों में नाटक का बीज ढूढ़ना असंगत है[१]।

आदिकाल में प्रसन्नता के अवसर पर जो नृत्य किये जाते थे, उनसे भी नाटक की उत्पत्ति का संबंध जोड़ा जाता है। मैक्डोनल ने माना है कि प्रथम नृत्य द्वारा आंगिक चेष्टाएं तथा मुख के हाव-भाव व्यक्त किये जाते रहे होंगे। इन्हीं नृत्य तथा आंगिक चेष्टाओं द्वारा नाटक की उत्पत्ति हुई होगी[२]। इस मत की पुष्टि जयनाथ नलिन ने भी की है। आपके अनुसार 'नृत्य,गान, घटना के साथ जब भी संवादों का समावेश हुआ, तभी नाटक का जन्म हो गया[३]।' श्रीमती इन्दुजा अवस्थी ने भी नाटक का जन्म इन्हीं लोक-नृत्यों से माना है। आपका मत है कि भारतीय नाटक लोक आधारित था, आरम्भ का बिन्दु नृत्यपरक गतियों से युक्त अभिनटन था। संगीत और संवाद बाद में जोड़े गये होंगे[४]। परन्तु यह मत भ्रामक है,क्योंकि नाट्य, नृत्य और नृत्त

---

१ 'अभिनव नाट्य शास्त्र' : सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण,पृ०२४

२ The words for actor (Nata) and play (Natak) are derived from the verb nat, the prakrit or vernacular form of the sanskrit nrt 'to dance' the name is familiar to English ears in the form of nautch, the Indian dancing of the present day. The 'Latter', indeed, probably represents the beginings of the Indian drama. It must at first have consisted only of rude pantomine, in which the dancing movements of the body were accompanied by mute mimicking gestures of hand and face. Songs, doubtless also early formed and ingredient in such performance.

A History of Sanskrit literature-A.A.Macdonel, Pg.292.

३ 'हिन्दी नाटककार' : जयनाथ नलिन , द्वितीय संस्करण,पृ०५

४ 'धर्मयुग' - विजयदशमी अंक, ७ अक्टूबर, १९७३ई०,पृ०८-९

सर्वथा पृथक् हैं, इन्हें एक समझ कर नृत्य में नाटक की उत्पत्ति का बीज ढूंढना युक्तिसंगत नहीं है[१]।

कुछ विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से मानी है। इस बात की पुष्टि `सूत्राधार` तथा `स्थापक` शब्द के आधार पर की गई है। नाटक में सूत्राधार उस व्यक्ति को कहते हैं जो प्रारम्भ में आता है और नाटक की प्रस्तावना की योजना करता है और पुत्तलिका नृत्य में पुतलियों के डोरे को सम्भालने वाले व्यक्ति को भी सूत्रधार कहते हैं। इस एक शब्द की समानता के आधार पर पुत्तलिका नृत्य से नाटक का जन्म नहीं माना जा सकता है। बाबू गुलाबराय के अनुसार पुत्तलिका नृत्य से नाटक का जन्म नहीं हुआ, वरन् नाटक की प्रेरणा से पुत्तलिका नृत्य का प्रादुर्भाव हुआ[२]। पण्डित सीताराम चतुर्वेदी ने पुत्तलिका नृत्य को नाटक का सस्ता प्रदर्शन मात्र माना है[३]। वीरेन्द्र कुमार शुक्ल भी इस मत से असहमत हैं। आपके अनुसार कठपुतली के प्रचलन का उल्लेख अवश्य मिलता है, परन्तु इसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि नाटक की उत्पत्ति भी इसी से हुई है[४]। ए०बी० कीथ के अनुसार इस विलक्षण और अनूठी कला का उद्गम स्थान भारत हो सकता है, किन्तु नाटक इसी का परिणाम है, यह मानना सर्वथा अविवेकपूर्ण होगा[५]।

---

१ `अभिनव नाट्य शास्त्र` : पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण पृ० २५।

२ `हिन्दी नाट्य विमर्श` : बाबू गुलाबराय, पृ०१३

३ `अभिनव नाट्य शास्त्र` : पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ०२८।

४ `भारतीय नाट्य साहित्य` : सम्पा० डा० नगेन्द्र, `सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ`, पृ०२५६।

५ The growth of the drama doubtless brought with it the use of puppets to imitate it in brief,........and from the drama came the Vidusa ka (विदूषक), and not vice versa.

The sanskrit drama- A. Berriedale Keith, Pg.53.

प्राचीन नाटकों पर छाया नाटक का प्रभाव देखकर कुछ विद्वानों ने छाया नाटक से नाटक का उत्पत्ति मानी है । परन्तु छाया नाटक वास्तव में किसे कहते हैं, यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित है । छाया नाटक के विषय में कान्ति किशोर भरतिया का विचार है कि 'छाया नाटकों से अभिप्राय उन नाटकों से है, जिनमें पात्र स्वयं मंच पर दर्शकों के सम्मुख उपस्थित नहीं होते, अपितु परदे के पीछे इस प्रकार अभिनय करते हैं कि उनकी छाया परदे पर पड़ती है और अभिनय करती हुई-सी प्रतीत होती है।'[1] छाया नाटक के सम्बन्ध में पं० सीताराम चतुर्वेदी का कहना है कि 'छाया नाटक का अर्थ यही हो सकता है कि या तो वे उसी नाम के किसी बड़े नाटक के लिखे हुए छोटे नाटक हों या किसी के काव्य का कोई नाटकीय अंश इस प्रकार लिया गया हो कि भाव उसके हों, केवल भाषा नाटककार की हो, क्योंकि छाया का अर्थ केवल प्रकाश पड़ने से वस्तु के पीछे पड़ने वाली आकार कालिमा से ही नहीं है, वरन् छाया का अर्थ प्रतिरूप और समानता भी तो है।'[2]

छाया नाटक से नाटक की उत्पत्ति के प्रमाणस्वरूप 'दूतांगद' नामक छाया नाटक का उल्लेख किया जाता है । परन्तु दूतांगद नाटक बहुत बाद की रचना है, अत: इससे नाटक की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है[3] । बच्चनसिंह ने भी नाट्योत्पत्ति के इस सिद्धान्त को संदिग्ध बताया है, क्योंकि छाया नाटक के ठीक ठीक अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । पातंजल महाभाष्य में भी इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है । संस्कृत रूपकों के अनेक भेदों में इसका उल्लेख न होना इसको और भी संदिग्ध बना देता है[4] । कीथ महोदय ने भी इस मत का

---

१ 'संस्कृत नाटककार' : कान्तिकिशोर भरतिया, प्रथम संस्करण, पृ०२०७

२ 'अभिनव नाट्यशास्त्र' : पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ०३१

३ 'भारतीय नाट्य साहित्य'- 'सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ', सम्पा० डा० नगेन्द्र, पृ०२०६ ।

४ 'हिन्दी नाटक' : बच्चन सिंह, द्वितीय संस्करण, पृ० १०

खण्डन किया है[1]। इस प्रकार प्रमाण के अभाव में यह मत अमान्य हो जाता है[2]।

मृतक वीरों की स्मृति को बनाये रखने तथा उनके आदर्श चरित्र को स्मरण रखने के लिए उनके जीवन का चरित का अभिनय किया जाता है,जैसे राम तथा कृष्ण के आदर्श चरित्र को रामलीला तथा कृष्ण लीला द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा वीर पुरुषों के चरित्र तथा इनके वीरोचित कार्य का भी अभिनय किया जाता है। कुछ विद्वानों ने इन्हीं अभिनयों द्वारा नाटक की उत्पत्ति माना है। डा० एस० पी० खत्री के अनुसार " जिन-जिन कारणों से नाटकीय आत्मा का विकास हुआ, उनमें नृत्य,संगीत तथा देवपूजा और वीरपूजा की भावना ही मूल रूप से प्रस्तुत थी[3]।"परन्तु डा० भोलाशंकर व्यास ने उक्त मत का खण्डन किया है। आपके अनुसार संस्कृत के अधिकांश नाटक वीर रसात्मक नहीं हैं,अत: वीरपूजात्मक उत्सवों से नाटक का जन्म कैसे माना जा सकता है[4]। इसके अतिरिक्त नाटक की रचना मनोरंजन के लिए की गई है न कि मृत व्यक्तियों का आदर करने के लिए[5]।

ऋतु-परिवर्तन पर होने वाले नृत्यों से भी नाटक की उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। डा० एस०पी० खत्री के अनुसार प्राचीनकाल में ऋतु-परिवर्तन को दैवी घटना मान कर मनुष्य उससे भयभीत होता था और उसका सुन्दर रूप देखकर प्रसन्न भी होता था। प्रकृति प्रदत्त सुविधाओं से प्रसन्न होकर प्रकृति के प्रति श्रद्धा अर्पित करने के लिए लोग समूह में नृत्य करते थे। इन्हीं नृत्यों से नाटक का जन्म हुआ[6]। कीथ महोदय ने भी इस मत की पुष्टि की है।

---

१ The shado play, we have seen cannot have influenced the progress of the early drama.

The sanskrit drama- A. Berriedale Keith. Pg.57.

२ `अभिनव नाट्य शास्त्र` : पं० सीताराम चतुर्वेदी,प्रथम खण्ड,प्रथम सं०,पृ०३१

३ `नाटक की परख` : डा० एस०पी०खत्री,तृतीय संस्करण,पृ०११८

४ `भारतीय नाट्य साहित्य` - `सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ`,सम्पा०डा० नगेन्द्र,पृ०२०५।

५ `अभिनव नाट्यशास्त्र` : पं० सीताराम चतुर्वेदी,प्रथम खण्ड,प्रथम संस्करण,पृ

६ `नाटक की परख` : सुरजप्रसाद खत्री, तृतीय संस्करण,पृ०११६ ·

आपने ऋतु परिवर्तन के अवसर पर होने वाले नृत्य को एक ऋतु को समाप्ति और दूसरी ऋतु के प्रारम्भ को प्रसन्नता का द्योतक माना है। इस मत को पुष्टि के लिए आपने 'कंसवध' नाटक का उल्लेख किया है। इसमें कृष्ण का कंस पर विजय का अर्थ है ग्रीष्म का शीत पर विजय[1]। परन्तु यह मत इतना दुर्बल है कि इसे मान्यता प्रदान नहीं किया जा सकता।

कुछ अन्य विद्वानों ने 'यवनिका' शब्द से यह अर्थ निकाला है कि नाटक की उत्पत्ति यूनानी नाटकों के प्रभाव स्वरूप हुई है। केवल एक शब्द की समानता के आधार पर नाटक का जन्म यूनानी नाटकों से नहीं माना जा सकता। जयशंकर प्रसाद ने 'यवनिका' का अर्थ शीघ्रता से उठने तथा गिरने वाला परदा बताया है। आपके शब्दों में --'कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में 'यवनिका' यवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटक में ली गई है, किन्तु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप में व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला है। अमरकोष में 'प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा' तथा हलायुध में 'अपटी काण्डपटः स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी' इसमें 'य' से नहीं किन्तु 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है। 'जवनिका' से शीघ्रता का द्योतन होता है। 'जव' का अर्थ वेग और त्वरा से है। तब 'जवनिका' उस पट को कहते हैं जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके[2]।' मैक्डोनल ने भी भारतीय नाटक पर यूनान का प्रभाव नहीं माना है[3]। ब्रजरत्नदास के अनुसार भारतीय नाट्यकला

---

[1] But it is distinctly present in all the higher forms of the art, and we can hardly doubt that it was from this conflict that these higher forms were evolved from the simplicity of the early material out of which the drama rose.
The sanskrit drama- A. Berriedale Keith, Pg.39.

[2] 'रंगमंच' हिन्दुस्तानी पत्रिका, १९३७ ई० ; जयशंकर प्रसाद, पृ० २५०

[3] The chief class of the Indian drama, called Natak, bears no similarity to the greek mime.
India's post- A.A. Mac Dowell. Pg.99.

मौलिक है तथा ग्रीक नाट्य कला से प्राचीन है[१]। इस बात की पुष्टि बलवंत गार्गी ने भी किया है। आपके अनुसार भारतीय तथा यूनानी नाट्य परंपराएं और नाट्य शैलियां एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व यूनानी प्रभाव अवश्य पड़ा। परन्तु उस समय तक भारतीय नाटक परम्परा पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी थी[२]। जयनाथ नलिन ने माना है कि भारत में यूनान से बहुत पहले नाट्यकला का जन्म और विकास हो गया था[३]। भारत ने यूनान से नाट्यकला की शिक्षा ग्रहण की, इस बात से पं० सीताराम चतुर्वेदी भी सहमत नहीं है[४]।

यूनानी प्रभाव के फलस्वरूप कुछ विद्वानों ने नाटक का जन्म धार्मिक उत्सवों पर धार्मिक भावना से प्रेरित होकर किये गये कृत्यों से माना है। डा० श्यामसुन्दरदास ने भी भारतीय नाट्यकला को मूल धार्मिक माना है। बंगाल की यात्राओं, ब्रज की रास लीलाओं को आपने प्राचीन नाटकों का अवशेष माना है[५]। परन्तु पं० सीताराम चतुर्वेदी का विचार है कि धार्मिक उत्सवों और शुभकार्यों पर नाटक या नृत्य करने का अर्थ यह तो नहीं है कि उनसे ही नाटक की उत्पत्ति भी हुई है[६]।

कुछ विद्वानों ने मनुष्य की मूल मानसिक प्रवृत्तियों से नाटक का जन्म माना है। जयनाथ नलिन के अनुसार 'अपनी शक्ति,अधिकार,उपभोग और आनन्द की सीमा बढ़ाना मानव की मौलिक प्रवृत्ति है[७]।' इसी को

---

१ 'हिन्दी नाट्य साहित्य' : ब्रजरत्नदास,चतुर्थ संस्करण,पृ०७
२ 'रंगमंच' : बलवन्त गार्गी, प्रथम संस्करण,पृ०३३
३ 'हिन्दी नाटककार' : जयनाथ नलिन, द्वितीय संस्करण,पृ०१२
४ 'अभिनव नाट्यशास्त्र' : पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम खंड,प्रथम संस्करण,पृ०३६
५ 'भारतेन्दु नाटकावली' : श्यामसुन्दरदास, प्रस्तावना, प्रथम संस्करण,पृ०३६-४०
६ 'अभिनव नाट्यशास्त्र' : पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम खंड,प्रथम सं०,पृ०३५
७ 'हिन्दी नाटककार' : जयनाथ नलिन, द्वितीय संस्करण,पृ०३

अभिव्यक्ति नाटक का मूल है । लक्ष्मीनारायण लाल ने भी नाटक को आंतरिक वृत्तियों का प्रस्तुतीकरण माना है । आपके अनुसार --"रंगमंच मनुष्य की मूलतः आन्तरिक वृत्तियों तथा उसकी सम्पूर्ण शक्ति का सृजन रूप है।"[१] बाबू गुलाबराय के अनुसार नाटक के मूल में मानव की चार मनोवृत्तियां काम करती हैं--अनुकरण की प्रवृत्ति, पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मविस्तार करने की प्रवृत्ति, जाति की रक्षा की प्रवृत्ति तथा आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति[२]। अनुकरण का नाटक में विशेष महत्त्व है । नाटक किसी कथा अथवा चरित्र का अनुकरण होता है । यह अनुकरण जितना स्वाभाविक होगा, नाटक उतना ही सफल होगा । आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति ही मनुष्य को जो वह नहीं है, वह बनने की प्रेरणा देती है। नाटक का पात्र भी कभी राजा और कभी भिखारी बनता है और इसप्रकार वह जो नहीं है वह बनकर अपने आत्मविस्तार की प्रवृत्ति को तृप्त करता है । किसी का जीवन पूर्ण नहीं होता है । अपने जीवन की कमी को दूसरे के चरित्र का अनुकरण करके पूरा किया जाता है । नाटक में इस प्रकार की पूर्णता अभिनेता और दर्शक दोनों को प्राप्त होती है । आत्मविस्तार की प्रवृत्ति से मनुष्य को सुख मिलता है । इस सुख को वह आत्माभिव्यक्ति द्वारा व्यक्त करता है । जब भी कोई अपना सुख अथवा दुःख प्रकट करता है, उस समय उसके मुख का भाव और संवाद भी उसी के अनुरूप रहता है, यथा प्रसन्नता के समय मुख प्रसन्न तथा वाणी में आह्लाद व्यक्त होता है और दुःखी रहने पर मुख मलिन तथा वाणी दुःख के भार से बोझिल रहती है । इस प्रकार आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति में नाटक के संवाद और अभिनय तत्व प्राप्त होते हैं ।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नाटक की उत्पत्ति के मूल में अनेक कारण हैं । अतः किसी एक कारण को नाटक की उत्पत्ति का मूल कारण नहीं माना जा सकता है ।

---

१ "रंगमंच और नाटक की भूमिका" : "लक्ष्मीनारायणलाल, प्रथम संस्करण, पृ०१३

२ "हिन्दी नाट्य विमर्श" : बाबू गुलाबराय , पृ०८

नाटक का महत्व

जिस कला से जितनी अधिक रसानुभूति होती है, वह कला उतनी ही श्रेष्ठ मानी जाती है। काव्य में अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक आनन्द प्राप्त होता है, अधिक रसानुभूति होती है तथा इसका प्रभाव भी चिरकाल तक स्थायी रहता है। अत: ललित कलाओं में काव्य को श्रेष्ठ माना गया है। काव्य भी दो प्रकार का होता है-- दृश्य काव्य तथा श्रव्य काव्य। श्रव्य काव्य को सुनकर रसानुभूति प्राप्त की जाती है,जैसे गीति, प्रबन्ध,मुक्तक आदि। दृश्य काव्य में देखकर रसानुभूति प्राप्त करते हैं, जैसे नाटक। श्रव्य काव्य में तीव्र रसानुभूति नहीं होती,क्योंकि इसमें शब्दों द्वारा घटनाओं तथा भावों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है,अत: उसका प्रतिबिम्ब पूर्णरूपेण सम्मुख उपस्थित नहीं हो पाता है,परन्तु दृश्य काव्य में उन्हीं भावों को अभिनय द्वारा प्रत्यक्ष देखते हैं अत: उसका प्रभाव स्थायी होता है। इस प्रकार 'नाटक जीवन की सांकेतिक अनुकृति नहीं है,वरन् सजीव प्रतिलिपि है।'[१] दोनों में अन्तर इतना ही है कि संसार के पात्र जीवन में अपने निजी रूप में रहते हैं और अभिनेता दूसरे का रूप धारण करता है।

सम्पूर्ण विश्व में नाटक सदा से मनोरंजन का साधन रहा है। नाटक को पंचम वेद कहते हैं। नाटक को वेद मानना ही उसके महत्व को स्पष्ट कर देता है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में इसका विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है। जिस समय ब्रह्मा ने पंचम वेद अर्थात् नाट्यवेद की उत्पत्ति की उस समय उन्होंने कहा कि मैं ऐसे पांचवें वेद की सृष्टि करता हूं जिसके द्वारा धर्म,अर्थ, मोक्ष और यश की प्राप्ति हो सके, जो सुन्दर उपदेशों से युक्त हो और जिसके द्वारा लोक के समस्त भावों कार्यों का अनुकरण करके दिखाया जा सके[२]। इससे ज्ञात होता है कि नाटक जीवन का ऐसा अनुकरण है,

---

१ 'हिन्दी नाट्य विमर्श' : बाबू गुलाबराय,पृ०६

२ धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ।।
--नाट्यशास्त्र १.१४

जो त्रिवर्ग अर्थात् धर्म,अर्थ और मोक्ष देने वाला तथा सुन्दर उपदेश देने वाला है । नाटक धर्म प्रद,यश प्रद,आयुवर्द्धक सबका हित करने वाला तथा बुद्धि को वृद्धि करने वाला और लोक में उपदेश देने वाला है[१]। नाटक श्रुति,स्मृति तथा सदाचार से पूर्ण है और लोकरंजनकारी है । इससे सम्पूर्ण लोक का मनोरंजन होता है[२]।

नाटक में सभी शास्त्रों तथा शिल्पों का प्रदर्शन होता है । इसमें सभी कलाओं,जैसे स्थापत्य कला, चित्र कला, संगीत कला,नृत्य, काव्य, इतिहास, समाजशास्त्र, वेशभूषा की सजावट, कपड़े रंगने आदि का कला तथा सभी शास्त्रों का समावेश होता है[३]। ब्रह्मा ने पंचम वेद के निर्माण के समय कहा कि यह पंचम वेद इतिहास सहित ऐसी रचना है,जो सभी शास्त्रों से सम्पन्न तथा सभी शिल्पों का प्रवर्तन करने वाली है[४]। नाट्य शास्त्र के एक अन्य स्थल पर भी कहा गया है कि नाटक में सभी शास्त्रों,शिल्पों तथा कर्मों का समावेश होता है[५]।

---

१ धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्धनम् ।
लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद्भविष्यति ।।
-- नाट्यशास्त्र १.११६

२ श्रुति स्मृति सदाचार परिशेषार्थ कल्पनम् ।
विनोद जननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ।।
--नाट्यशास्त्र १.१२३

३ 'हिन्दी नाट्य विमर्श' : बाबू गुलाबराय,पृ०७ ।

४ सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्व शिल्प प्रवर्तकम् ।
नाट्याख्यं पंचम वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ।।
--नाट्यशास्त्र १.१५

५ सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ।।
--नाट्यशास्त्र १.११८

इस प्रकार कोई ज्ञान,शिल्प,विद्या कला,योग और कर्म ऐसा नहीं है,जिसका ज्ञान नाटक द्वारा न होता हो[१]। 'नाट्य से तात्पर्य केवल नाटक अथवा रंग से नहीं है,बल्कि इसके अन्तर्गत नाटक(कृति),रंग, वस्तु,अभिनय, रस,छन्द, नृत्य,संगीत, अलंकार, वेशभूषा, रंग-शिल्प, उपस्थापन, पात्र और दर्शक समाज सब है-- और इन सब का शास्त्र 'नाट्यशास्त्र' है[२]।'

नाटक ऐसी कला है,जिसमें विभिन्न रुचिवाले व्यक्तियों को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सामग्री प्राप्त हो जाती है ।'यों तो प्रत्येक ललित कला में अपना-अपना स्वाभाविक आकर्षण रहता ही है,किन्तु व्यक्तिगत रुचि के अनुसार किसी को संगीत भाता है, किसी को चित्र सुहाता है,किसी को काव्य में आनन्द मिलता है और किसी को सुन्दर रूप देखने में रस मिलता है, किन्तु नाट्य ही एक ऐसा उत्सव है,जिसमें ये सभी कलाएं अपना-अपना सुन्दरतम रूप लेकर उपस्थित होती हैं । इसलिए सब रुचि के लोग उसमें समान आनन्द प्राप्त करते हैं और सभी का उसमें समान मनोरंजन होता है[३]।'कालिदास के मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में नाट्याचार्य गणदास कहता है कि नाटक में तीनों गुणों-- सत,रज और तम का उद्भव,नाना प्रकार के व्यक्तियों के चरित्र तथा स्वभाव का चित्रण तथा नाना रसों का उद्रेक होता है । अत: नाटक विभिन्न रुचिवाले व्यक्तियों को समानरूप से आनन्द प्रदान करने वाला साधन है[४]। इसमें धर्म परायण व्यक्तियों के लिए धर्म है,काम में प्रवृत्ति रखने वालों के

---

१ न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन यन्न दृश्यते ।।--नाट्यशास्त्र १.११७

२ 'रंगमंच और नाटक की भूमिका' : लक्ष्मीनारायणलाल,प्रथम संस्करण,पृ०१

३ 'अभिनव नाट्यशास्त्र' : सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण,पृ०४

४ त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते ।
नाट्यंभिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।।
--मालविकाग्निमित्र : कालिदास,व्याख्याकार कुमार गिरिराज,पृ०६

लिए काम है, दुर्विनीतों तथा उद्दण्ड व्यक्तियों के लिए दमन करने की व्यवस्था है और वीरों में उत्साह उत्पन्न करने की क्षमता है। अज्ञानी व्यक्तियों को इससे ज्ञान प्राप्त होता है और विद्वानों के ज्ञान की वृद्धि होती है। यह ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के लिए विलास, दुःख से पीड़ित व्यक्तियों के लिए स्थिरता, अर्थाश्रित व्यक्तियों के लिए अर्थ तथा विकल चित्त व्यक्तियों के लिए धीरज देने वाला है[1]। नन्दिकेश्वर ने अपनी पुस्तक 'अभिनय दर्पण' में लिखा है कि नाटक में कीर्ति, वाक्चातुरी, सौभाग्य और विदग्धता का प्रवर्धन होता है तथा व्यक्तियों में इसके द्वारा औदार्य, स्थैर्य, धैर्य तथा विलास उत्पन्न होता है एवं दुःख, शोक, पीड़ा, निर्वेद और खेद का विच्छेद होता है और इससे ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द की प्राप्ति होती है[2]।

नाटक का विषय अत्यन्त विस्तृत है। इसमें कहीं धर्म है तो कहीं खेल है, कहीं अर्थ ज्ञान है तो कहीं शान्ति है, कहीं हास्य है तो कहीं युद्ध है और कहीं काम है तो कहीं वध है। यह शुद्ध मनोरंजन करने वाला तथा धनोपार्जन का साधन है। इसमें हास्य उत्पन्न करने की क्षमता है और यह शान्तिदायक है। इसमें युद्ध का, वध का और काम का चित्रण भी होता है[3]।

---

१ धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ।।
क्लीबानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम् ।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ।।
ईश्वराणां विलासश्च, स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च ।
अर्थोपजीविनामर्थो, धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ।।--नाट्यशास्त्र १.१०६,११०,१११

२ कीर्तिप्रागल्भ्यसौभाग्य वैदग्ध्यानां प्रवर्धनम् ।
औदार्यस्थैर्यधैर्याणां विलासस्य च कारणम् ।।
दुःखार्तिशोकनिर्वेदखेदविच्छेदकारणाम् ।
अपि ब्रह्मपरानन्दादिदमप्यधिकं मतम् ।।
--अभिनयदर्पण--नन्दिकेश्वर, सम्पा० मनमोहन घोष, द्वितीय संस्करण, पृ० ८२, श्लोक सं० ६-१०

३ क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः ।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ।।
--नाट्यशास्त्र १.१०८

नाटक द्वारा विविध मानवीय प्रवृत्तियों का ज्ञान होता है । इसमें सद्गुणों तथा दुर्गुणों का यथार्थ चित्र उपस्थित किया जाता है तथा विभिन्न भावों का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है । नाटक में लोक व्यवहार का अनुकरण होता है । इसमें उत्तम,मध्यम तथा निकृष्ट मनुष्यों के कर्मों का चित्रण होता है और सदोपदेश प्राप्त होता है[१] । नाटक हमारी वृत्तियों का परिष्कार करता है तथा दुर्वृत्तियों के दमन में सहायक होता है । नाटक देखते समय दर्शक भाव विभोर होकर सब कुछ विस्मृत कर स्वयं को नाटक का पात्र समझ बैठता है अर्थात् किसी पात्र विशेष से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और स्वयं भी उसी पात्र की तरह आदर्श व्यक्ति बनने का निश्चय करता है । नाटक के बुरे पात्रों से दर्शक घृणा करता है और उसको मिलने वाले कष्टों को देखकर स्वयं वैसा कार्य न करने का संकल्प करता है । इस प्रकार नाटक द्वारा दर्शक अपने चरित्र तथा मनोवृत्ति का परिष्कार करता है ।

नाटक द्वारा हमारी संस्कृति,सभ्यता तथा इतिहास की रक्षा होती है । नाटक द्वारा प्राचीन संस्कृति,सभ्यता और इतिहास को दर्शक वर्तमान में देख सकता है । भूतकाल के अभिनय द्वारा तात्कालिक घटनाएं,वेशभूषा, आदर्श और चरित्र साकार हो उठते हैं । नाटक से केवल भूतकाल की रक्षा ही नहीं होती,वरन् वर्तमान का परिष्कार भी होता है । नाटक में देश तथा समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया जाता है । इस प्रकार नाटक साहित्य की अत्यन्त महत्वपूर्ण विधा है,जिसमें जीवन की यथार्थ अनुकृति प्राप्त होती है ।

---

१ नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।।
उत्तमाधममध्यानां नाराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेश जननं धृति क्रीडा सुखादि कृत ।।

--नाट्यशास्त्र १.११२,११३

२ 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' : पं० सीताराम चतुर्वेदी,पृ०३

महान कार्य के लिए होता है । अत: जहां लोक कल्याण से अथवा किसी महान कार्य की पूर्ति से मन प्रसन्न होता है, वहीं नायक अथवा नायिका के लिए दु:ख भी होता है । इन नाटकों में सुख और दु:ख का मिश्रण रहता है । ऐसे नाटकों का प्रभाव स्थायी होता है । 'स्कन्दगुप्त' ,'अजातशत्रु' ,'ध्रुवस्वामिनी', 'विषपान' ,'रक्षाबन्धन' और 'मुक्तिदूत' आदि नाटक इसी कोटि में आते हैं ।

रंगमंच की दृष्टि से नाटकों को छायानाटक, पुत्तलिका नाटक, मूकाभिनय, नृत्य नाट्य तथा श्रव्य नाटक के रूप में विभाजित किया जा सकता है । प्रभाव की दृष्टि से नाटकों का निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है-- शृंगारप्रधान नाटक, वीरता प्रधान नाटक, हास्यजनक नाटक, त्रास जनक नाटक, कौतूहल जनक नाटक, वैराग्यजनक नाटक तथा भावोत्पादक नाटक । रचना की दृष्टि से नाटकों को एकांकी अनेकांकी, अलंकारिक तथा व्यापारिक आदि रूपों में विभाजित कर सकते हैं । उद्देश्य की दृष्टि से समाज सुधारात्मक नाटक,प्रचारात्मक नाटक, मनोविनोदपूर्ण नाटक, किसी की स्तुति अथवा निन्दा के उद्देश्य से लिखे गये नाटक, किसी विषय अथवा तथ्य के प्रतिपादन हेतु लिखे गए नाटक, शिक्षाप्रद नाटक आदि विभाग कर सकते हैं । दर्शकों की दृष्टि से बालकों योग्य, स्त्रियों योग्य, वृद्धजनों योग्य, सैनिकों योग्य, ग्रामीणों योग्य आदि ~~आदि~~ अनेक भेद किए जा सकते हैं । पात्र की दृष्टि से उत्तम वर्ग के पात्र वाले नाटक, मध्यम वर्ग के पात्र वाले नाटक तथा निम्न वर्ग के पात्र वाले नाटक के रूप में नाटक को विभक्त कर सकते हैं ।

नाटकों का वर्गीकरण अधिकांशत: विषय की दृष्टि से किया जाता है । पं० सीताराम चतुर्वेदी ने विषय का दृष्टि से नाटकों का निम्न वर्गीकरण किया है -- पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक, रूढ़ तथा मौलिक । मौलिक में आपने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक,वैज्ञानिक, आर्थिक तथा नैतिक और घरेलू नाटकों का उल्लेख किया है[१] । डा० सोमनाथ गुप्त ने

---

१ 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' : पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ११३

महान कार्य के लिए होता है । अत: जहां लोक कल्याण से अथवा किसी महान कार्य की पूर्ति से मन प्रसन्न होता है, वहां नायक अथवा नायिका के लिए दु:ख भी होता है । इन नाटकों में सुख और दु:ख का मिश्रण रहता है । ऐसे नाटकों का प्रभाव स्थायी होता है । `स्कन्दगुप्त` ,`अजातशत्रु` ,`ध्रुवस्वामिनी`, `विषपान` ,`रक्षाबन्धन` और`मुक्तियुद्ध` आदि नाटक इसी कोटि में आते हैं ।

रंगमंच की दृष्टि से नाटकों को छायानाटक, पुत्तलिका नाटक, मूकाभिनय, नृत्य नाट्य तथा श्रव्य नाटक के रूप में विभाजित किया जा सकता है । प्रभाव की दृष्टि से नाटकों का निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है-- शृंगारप्रधान नाटक, वीरता प्रधान नाटक, हास्यजनक नाटक, त्रास जनक नाटक, कौतूहल जनक नाटक, वैराग्यजनक नाटक तथा भावोत्पादक नाटक । रचना की दृष्टि से नाटकों को एकांकी अनेकांकी, अलंकारिक तथा व्यापारिक आदि रूपों में विभाजित कर सकते हैं । उद्देश्य की दृष्टि से समाज सुधारात्मक नाटक,प्रचारात्मक नाटक, मनोविनोदपूर्ण नाटक,क किसी की स्तुति अथवा निन्दा के उद्देश्य से लिखे गये नाटक, किसी विषय अथवा लक्ष्य के प्रतिपादन हेतु लिखे गए नाटक, शिक्षाप्रद नाटक आदि विभाग कर सकते हैं । दर्शकों की दृष्टि से बालकों योग्य, स्त्रियों योग्य, वृद्धजनों योग्य, सैनिकों योग्य, ग्रामीणों योग्य आदि आदि अनेक भेद किए जा सकते हैं । पात्र की दृष्टि से उत्तम वर्ग के पात्र वाले नाटक मध्यम वर्ग के पात्र वाले नाटक तथा निम्न वर्ग के पात्र वाले नाटक के रूप में नाटक को विभक्त कर सकते हैं ।

नाटकों का वर्गीकरण अधिकांशत: विषय की दृष्टि से किया जाता है । पं० सीताराम चतुर्वेदी ने विषय की दृष्टि से नाटकों का निम्न वर्गीकरण किया है -- पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक, रूढ़ तथा मौलिक । मौलिक में आपने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक,वैज्ञानिक, आर्थिक तथा नैतिक और घरेलू नाटकों का उल्लेख किया है[१] । डा० सोमनाथ गुप्त ने

---

१ `भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच` : पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ११३

नाटकों का वर्गीकरण पौराणिक, ऐतिहासिक,राष्ट्रीय,समस्यात्मक,प्रेमात्मक और हास्यात्मक नाटकों के रूप में किया है[1]। परन्तु ब्रजरत्नदास ने नाटकों को दो ही मुख्य वर्गों में विभाजित ह किया है[2] -- ऐतिहासिक तथा सामाजिक । इसके अतिरिक्त आपने नाटकों का एक अन्य प्रकार भी माना है,जिसे अंग्रेजी में एलोगोरिकल नाटक कहते हैं[3]। इसमें किन्हीं भावनाओं तथा प्रकृति के किसी रूप को मूर्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है,जैसे प्रसाद जी का `कामना` तथा `एक घूंट` नाटक ।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त डा० दशरथ ओझा ने आधुनिक नाटकों को मुख्य दस भागों में विभक्त किया है[4]। नृत्त नाट्य (Ballet) नृत्य नाट्य, भाव नाट्य, गीति नाट्य, ऐतिहासिक नाटक, सामाजिक नाटक, पौराणिक नाटक या धार्मिक नाटक, स्वोक्ति नाटक,एकांकी तथा रेडियो रूपक ।

उपर्युक्त समस्त वर्गीकरणों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि नाटकों को मुख्य रूप से निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-- पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, रोमांचक,राष्ट्रीय,समस्यात्मक, हास्यात्मक, नृत्त नाट्य, नृत्य नाट्य, भाव नाट्य, गीति नाट्य,स्वोक्ति नाटक, एकांकी और रेडियो रूपक ।

पौराणिक नाटकों का कथानक धार्मिक ग्रन्थों अथवा पुराणों. से लिया जाता है । इसमें किसी महापुरुष के जीवन चरित्र या धार्मिक भावनाओं का चित्रण किया जाता है । इन नाटकों का मुख्य उद्देश्य धर्म प्रचार करना तथा जनता को उपदेश देना होता है । डा० सोमनाथ गुप्त ने पौराणिक नाटकों को भी तीन वर्गों में विभाजित किया है-- रामचरित धारा,

---

१ `हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास` : डा० सोमनाथ गुप्त,चतुर्थ संस्करण,पृ०६१

२ `हिन्दी नाट्य साहित्य` : ब्रजरत्नदास, चतुर्थ संस्करण,पृ०४३ ।

३ वही, पृ०४५

४ `हिन्दी नाटक उद्भव और विकास` : डा० दशरथ ओझा,प्रथम संस्करण,पृ०४३३

कृष्णचरित धारा तथा अन्य चरित धारा[१]। डा० दशरथ ओझा ने भी पौराणिक नाटकों को इन्हीं तीनों वर्गों में विभाजित किया है[२]। रामचरित धारा के अंतर्गत राम के चरित्र पर आधारित नाटक आते हैं, जैसे सेठ गोविन्ददास का `कर्त्तव्य - पूर्वार्द्ध` तथा चतुरसेन शास्त्री का `सीताराम` आदि नाटक। कृष्णचरित धारा के अन्तर्गत कृष्णचरित पर आधारित नाटक आते हैं, यथा--`श्रीकृष्णावतार`, `द्रौपदीहरण`, `कंसवध`, `कृष्णार्जुन युद्ध`, `प्रद्युम्न विजय व्यायोग`, `कर्त्तव्य उत्तरार्द्ध` आदि नाटक। अन्य चरित धारा के अन्तर्गत महापुरुषों तथा सन्तों के जीवन से सम्बन्धित नाटक आते हैं, जैसे `भक्त तुलसीदास`, `महात्मा कबीर`, `प्रह्लाद चरित्र`, `प्रबुद्ध यामुन` आदि।

इतिहास के आधार पर लिखे गये नाटक ऐतिहासिक नाटक के अन्तर्गत आते हैं। इनके द्वारा हमारा इतिहास सुरक्षित रहता है तथा अतीत का गौरव सम्मुख साकार हो उठता है। डा० दशरथ ओझा ने ऐतिहासिक नाटकों को दो वर्गों में विभक्त किया है। आपके अनुसार `अधिकांश नाटक दो वर्गों में विभक्त हो जाते हैं -- एक में आध्यात्मिक शक्ति की प्रधानता है, दूसरे में आधिभौतिक की[३]।` ब्रजरत्नदास ने भी ऐतिहासिक नाटकों को दो वर्गों में विभाजित किया है -- ऐतिहासिक और शुद्ध ऐतिहासिक[४]। शुद्ध ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास की प्रामाणिक घटनाओं के आधार पर नाटक लिखे जाते हैं। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाता है, जब कि ऐतिहासिक नाटकों में पात्र तो ऐतिहासिक होते हैं, परन्तु घटनाओं में काल्पनिकता होती है। ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीय भावना तथा सांस्कृतिक चेतना का प्राधान्य रहता है। इनके द्वारा सांस्कृतिक समन्वय का भी प्रयत्न किया जाता है। हरिकृष्ण प्रेमी का

---

१ `हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास` : डा० सोमनाथ गुप्त, चतुर्थ संस्करण, पृ०६१

२ `हिन्दी नाटक उद्भव और विकास` : डा० दशरथ ओझा, संशोधित संस्करण, पृ०३५१।

३ वही, पृ०३४१

४ `हिन्दी नाट्य साहित्य` : ब्रजरत्नदास, चतुर्थ संस्करण, पृ०४४।

`प्रतिशोध`, `रक्षाबन्धन`, `आहुति`, `स्वप्नभंग`, `शिवासाधना` चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का `रेवा` सेठ गोविन्ददास का `हर्ष`, बेचन शर्मा `उग्र` का `महात्मा ईसा` प्रसाद जी का `अजातशत्रु`, `ध्रुवस्वामिनी`, `चन्द्रगुप्त`, `स्कन्दगुप्त` आदि ऐतिहासिक नाटक हैं ।

सामाजिक नाटक समाज की किसी समस्या या दिन प्रतिदिन के जीवन में घटने वाली किसी घटना के आधार पर लिखा जाता है । इन नाटकों में समाज की अनेकानेक समस्याओं जैसे बाल विवाह, नारी की स्वतन्त्रता, धार्मिक ढकोसलों, बाह्याडम्बरों आदि का चित्रण किया जाता है ।

रोमांचक नाटकों में राष्ट्र-प्रेम की भावना की प्रधानता रहती है । इन नाटकों के कथानक देश तथा राष्ट्र से सम्बन्धित होते हैं । इनके द्वारा राष्ट्रीय जागरण का सन्देश देना नाटककार का उद्देश्य होता है । इसके अन्तर्गत `भारतवर्ष`, `भारत दर्पण` या कौमी तलवार`, `कश्मीर का कांटा` आदि नाटक आते हैं ।

समस्यामूलक नाटकों के अन्तर्गत समाज, व्यक्ति अथवा राष्ट्र की समस्या को नाटक का विषय बनाया जाता है । इसके अन्तर्गत घर और परिवार में उत्पन्न समस्यायें एवं सामाजिक समस्यायें जैसे प्रेम, विवाह, तलाक, दहेज प्रथा, आदि की समस्या और राजनीति की जटिल समस्या आदि के आधार पर लिखे नाटक आते हैं ।

हास्यात्मक नाटकों को प्रहसन भी कहते हैं । इनमें किसी विषय का प्रतिपादन व्यंग्यात्मक शैली में किया जाता है । इन चुटीले व्यंग्यों का प्रभाव स्थायी होता है ।

नृत्त नाट्य (Ballet) में गेय पदों का उपयोग होता है । इसके पात्र ताल और लय के अनुसार ही अंग संचालन करते हैं । इन नाटकों में पात्रों की वेश भूषा, रंगमंच की सजावट आदि पर अधिक ध्यान दिया जाता है ।

नृत्य नाट्य में पूरा नाटक नृत्य के रूप में प्रस्तुत होता है । इसके पात्र केवल ताल और लय के अनुसार नहीं चलते वरन् भावानुसार अंग संचालन द्वारा नृत्य करते हैं ।

भाव नाट्य में पात्र अपने कथोपकथन को भावों द्वारा प्रदर्शित करता है । इसका प्रचलन बहुत कम हुआ ।

गीति नाट्य का प्रचलन प्राचीन काल से होता आ रहा है । प्राचीनकाल में बहुरूपियों द्वारा गीति नाट्य का प्रदर्शन किया जाता था । आज का गीतिनाट्य उसी का परिवर्तित रूप माना जाता है । इन गीति नाट्यों में मानसिक संघर्षों का भी समावेश होता है । जैसे प्रसाद जी के `करुणालय` में जब अजीगर्त अपने पुत्र शुनःशेप को बलिदान के लिए बेचता है उस समय उसके मन के अन्तर्द्वन्द्व को बहुत सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है । उदयशंकर भट्ट का `कालिदास` `विश्वामित्र`, `मत्स्य गंधा` तथा `राधा` आदि सुन्दर गीति नाट्य हैं ।

स्वोक्ति नाटक को एकपात्रीय नाटक भी कह सकते हैं । इसमें एक ही पात्र होता है, जो विभिन्न वस्तुओं तथा व्यक्तियों को सम्बोधित करके अपने हृदयोद्गार को व्यक्त करता है और इस प्रकार नाटक का विकास होता है । स्वोक्ति नाटक की परम्परा प्राचीन भाण का परिवर्तित रूप माना जाता है, क्योंकि भाण में भी एक ही पात्र होता है जो आकाश की ओर देखकर संवाद बोलता है । स्वोक्ति नाटक की शैली प्राचीन है, परन्तु इसके अन्तर्गत संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण आदि पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप ही पाये जाते हैं । इस बात की पुष्टि शान्ति गोपाल पुरोहित ने भी की है । आपके अनुसार अंग्रेजी के प्रभाव स्वरूप ही अब इनमें एक से अधिक पात्र पाये जाते हैं, जिसमें एक पात्र वक्ता होता है और दूसरा श्रोता । श्रोता के ऊपर वक्ता के कथोपकथन की प्रतिक्रिया होती रहती है, जिससे नाटक अधिक स्पष्ट हो जाता है[१]। सेठ -गोविन्ददास का `शाप और वर` ऐसा ही नाटक है ।

एकांकी नाटकों के अन्तर्गत एक अंक में लिखे जाने वाले नाटक आते हैं । आधुनिक युग में इन एकांकियों का प्रचलन ही पर्याप्त रूप से हुआ ।

आजकल रेडियो नाटक का पर्याप्त प्रचलन हो रहा है । रेडियो नाटक का विकास अभी थोड़े समय से ही हुआ है, परन्तु इसका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है और यह अधिक लोकप्रिय भी है ।

---

१ `हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन` : शान्तिगोपाल पुरोहित, प्रथम संस्करण, पृ०३०८ ।

रंगमंच

सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर द्वारा निर्मित एक विशाल रंगमंच है तथा प्राणी मात्र अभिनेता है जो क जन्म से मृत्युपर्यन्त अभिनय करता है और अपना-अपना अभिनय समाप्त कर एक-एक कर रंगमंच से चला जाता है । जन्म-धारण करने के साथ ही मनुष्य अभिनय प्रारम्भ कर देता है जो आजीवन चलता रहता है अत: मानव जीवन के साथ ही रंगमंच का प्रारम्भ भी मानना चाहिए । लक्ष्मीनारायणलाल ने इसे मानव जीवन की आदिम और अनिवार्य आवश्यकता मानी है । आपके अनुसार 'हम शताब्दियों तक जीवन की मूलगत आवश्यक सुविधाओं तथा साधनों के बिना रहे हैं,इसका साक्षी इतिहास है,पर किसी भी रूप में सही, रंगमंच के बिना हम कभी नहीं रहे हैं ।'[१] इस प्रकार मानव जीवन के साथ ही अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति का उदय हुआ । प्रारम्भ में मनुष्य उछल-कूद कर अनेक प्रकार से अपने को अभिव्यक्त करता थाउसके पश्चात् इस उछल-कूद की क्रिया में ही क्रमश: नृत्य,गीत और कथोपकथन जुड़ते गये । इस प्रकार अभिव्यक्ति का एक नया माध्यम उपस्थित हुआ,जिसे नाटक कहा गया । इसके लिए रंगमंच की आवश्यकता प्रतीत हुई । प्रारम्भिक जीवन में नृत्य के लिए जो गोलाई बनाई जाती थी वही रंगमंच का काम देती थी । यह नृत्य किसी पहाड़ी की तलहटी या पवित्र स्थान पर घेरा बनाकर होता था । बाद में इसका स्थान गांव के चौपाल तथा मन्दिरों के प्रांगण ने ले लिया । राज्य स्थापना के पश्चात् यह राजप्रासादों में बनी रंगशालाओं में होने लगा । इस प्रकार रंगमंच का उत्तरोत्तर विकास होता गया ।

भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही रंगमंच का प्रचलन रहा है । नाटक के सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के द्वितीय अध्याय में प्रेक्षागृह के निर्माण का विशद् विवेचन किया गया है[२] । इसके

---

१ 'रंगमंच और नाटक की भूमिका' : लक्ष्मीनारायणलाल,प्रथम संस्करण,पृ०११

२ 'नाट्यशास्त्र' २.७ - २.११०

अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय के ५५ श्लोक से ८८ श्लोक तक इन्द्रध्वजोत्सव के अवसर पर अभिनीत नाटक में राक्षसों पर देवताओं की विजय देखकर दैत्यों के क्रुद्ध होने की कथा का वर्णन है । दैत्यों ने क्रुद्ध होकर उपद्रव करना प्रारम्भ कर दिया । उन्होंने माया द्वारा नर्तकों की वाणी, चेष्टा और स्मृति का हरण कर लिया । यह देखकर देवताओं ने असुरों का संहार कर सभी विघ्नों को दूर किया, परन्तु नट और नर्तक अत्यन्त भयभीत हो गये थे, अत: भरतमुनि ने ब्रह्मा से नाट्यशाला के निर्माण का अनुरोध किया, जिसे सुनकर उन्होंने विश्वकर्मा को सभी गुणों से युक्त नाट्य-शाला के निर्माण की आज्ञा दी । इस प्रकार विश्वकर्मा ने अत्यन्त सुन्दर तथा सभी गुणों से युक्त प्रेक्षागृह का निर्माण किया[१]। इस कथा से यह ज्ञात होता है कि भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही सुन्दर नाट्यशालाओं का निर्माण होने लगा था । इस विषय में रामचरण महेन्द्र का विचार है कि " अतीत काल में भारत में रंगमंच की बड़ी सुन्दर परम्परा रही है । ईसा से ३०० वर्ष पूर्व भरत द्वारा लिखित `नाट्यशास्त्र' जैसा नृत्य नाट्य एवं संगीत का अत्यन्त प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण आलोचना ग्रन्थ जिस देश में लिखा गया हो, उसके लिए सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि उसकी कलाएं कितनी विकसित रही होंगी । भवभूति, कालिदास,भास,हर्ष,अश्वघोष, विशाखदत्त आदि अनेक नाट्यकारों के नाट्यग्रन्थों के आधार पर अनेक रंगमंच हमारे देश में विकसित हुए जो अवन्ती, पाटलिपुत्र, उज्जयिनी इत्यादि नगरों के प्रेक्षागृहों में प्रयोगित हुए थे । ये प्रेक्षागृह स्थापत्य, ध्वनि, प्रकाश,रंगमंच, पृष्ठागृह, पोशाकागार आदि की दृष्टि से अत्यन्त वैज्ञानिक थे ।[२] भारत में रंगमंच की प्राचीनता का प्रमाण गुफाओं में प्राप्त अनेक रंगशालाओं का अस्तित्व माना जाता है । प्रसाद जी के अनुसार --

---

१ ततोऽचिरेण कालेन विश्वकर्मा महच्छुभम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नं कृत्वा नाट्यगृहं तु स: ।। --नाट्यशास्त्र १.८०

२ `हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास' : रामचरण महेन्द्र,पृ०९०

'जिस ढंग के नाट्य मन्दिरों का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में मिलता है, उससे जान पड़ता है कि पर्वतों की गुफाओं में खोद कर बनाये जाने वाले मन्दिरों के ढंग पर ही नगर की रंगशालाएं बनती थीं।[१] परन्तु कुछ विद्वानों ने रंगमंच की प्राचीनता को अस्वीकार किया है। इस विषय में पं० सीताराम चतुर्वेदी का विचार है कि 'भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में जिन रंगशालाओं का विवरण दिया है, उन रंगशालाओं या उनके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं हो पाता। कुछ विद्वानों ने विन्ध्य के निर्जन पर्वतमाला में समवस्थित सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाओं के शिलावेश्मों को भूल से भारतीय नाट्यशाला का अवशेष माना है। वास्तव में भारतीय नाट्यशालाएं स्थायी रूप से बनायी नहीं जाती थीं। वे विशेष अवसरों पर निर्मित कर ली जाती थीं और नाट्य प्रयोग हो चुकने पर नाट्य देवता का विसर्जन करके उखाड़ दी जाती थी। राजप्रासादों और सरस्वती मन्दिरों में जो नाट्य प्रयोग होते थे, उनके लिए वहां किसी कक्ष में नाट्यवेश्म का विधान कर लिया जाता था।[२]' प्राचीनकाल में स्थायी प्रेक्षागृह नहीं होते थे। इस बात की पुष्टि ए०बी० कीथ ने भी की है।[३]

---

१ 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' : जयशंकर प्रसाद, पृ०६६

२ 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' : पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ०५२६

३ The existence of regular theaters for the exhibition of drama is not assumed in the theorists. A drama was, it is clear, normally performed on an occasion of special rejoicing and solemnity, such as a festival of a God, or a royal marriage, or the celebration of a victory, and the palace of performance thus naturally came to be the temple of the God or the palace of the king. We learn often in the drama and tales of the existence of dancing halls and music rooms in the royal palace where the ladies of the harem ( ) were taught these pleasing arts.

The sanskrit drama- A.Berriedale Keith Pg.358.

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भारत में स्थायी रंगशालाएं नहीं होती थी । नाटक के अभिनय के समय अस्थायी रंगशालाओं का निर्माण कर लिया जाता था । शनै: शनै: रंगमंच की यह परम्परा भी समाप्तप्राय: हो गई परन्तु इसकी क्षीण परम्परा लोक नाटकों के रूप में फिर भी विद्यमान रही । ये लोक नाटक दो रूपों में प्रचलित थे -- लोकधर्मी नाटक तथा धार्मिक नाटक । लोकधर्मी नाटक की परम्परा समाज में अनेक रूपों में प्रचलित थी यथा नौटंकी, भाव,भाण, तमाशा,भवाई,स्वांग,बहुरूपिया आदि। इन्हें किसी राज्य का संरक्षण अथवा रंगमंच की आवश्यकता नहीं थी ।नाटकों का प्रचार भक्ति आन्दोलनों के फलस्वरूप हुआ । विभिन्न धर्मों के प्रचार के लिए इनका उपयोग किया गया । इसका प्रचलन बंगाल में `यात्रा`, मिथिला में `कीर्तनिया` और आसाम में `अंकिया` के रूप में हुआ । धार्मिक नाटकों में रामलीला और रासलीला का विशेष प्रचलन हुआ । इसके अतिरिक्त पौराणिक नाटकों के आधार पर `कथकली` नामक नृत्य नाट्य का भी प्रचार हुआ ।

इस समय तक हिन्दी जगत के पास रंगमंच नाम की कोई वस्तु नहीं थी । कुछ नाटक मण्डलियां अवश्य थीं जो समय -समय पर नाटक का अभिनय किया करती थीं । ये नाटक मण्डलियां दो प्रकार की थीं--व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक । व्यावसायिक नाटक मण्डलियां स्थायी नहीं थीं । ये चलती फिरती नाटक मण्डलियां जहां जातीं,अपना सारा सामान लेकर जातीं और आवश्यकता पड़ने पर अस्थायी प्रेक्षागृह बना लेती थीं,जिसे नाटक खेलने के बाद हटा लिया जाता था ।

हिन्दी में रंगमंच का प्रचलन अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् प्रारम्भ हुआ । अंग्रेजों के साथ उनका प्रेक्षागृह भी भारत आया । सर्वप्रथम इसका प्रचलन कलकत्ता एवं बम्बई में प्रारम्भ हुआ जहां यूरोपियन लोगों की संख्या अधिक थी तथा जो व्यापार का केन्द्र था । कलकत्ता का सबसे प्रथम थिएटर `दी ओल्ड प्ले हाउस` था जो १७५३ई० के पहले वहां विद्यमान था । सर्वप्रथम आमोद प्रमोद के लिए बनाये गये इन बंगला रंगमंचों पर ही अंग्रेजी के नाटक भी अभिनीत होते थे,तत्पश्चात् इनका बंगला अनुवाद भी अभिनीत किया जाने लगा । १८५३ई० में प्रियदत्तनाथ तथा दीनानाथ घ के प्रयत्न से कलकत्ते में ओरिएण्टल थिएटर की

स्थापना हुई । पहली बार इसपर 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' तथा 'ओथेलो' का अभिनय हुआ । इसके पश्चात् अनेक बंगाली रंगशालाओं की स्थापना हुई,जिसमें 'मिनर्वा थियेटर' तथा 'स्टार थियेटर' मुख्य हैं । ऐसा माना जाता है कि हिन्दी रंगमंच इन्हीं बंगला रंगमंचों की देन है । परन्तु डा० सोमनाथ गुप्त का विचार है कि हिन्दी रंगमंच का बंगला रंगमंच से कोई सम्बन्ध नहीं है । हिन्दी रंगमंच भी बंगला रंगमंच की तरह स्वतन्त्ररूप से विकसित हुआ है[1] । वस्तुत: हिंदी रंगमंच का प्रारम्भ पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ ।

जिस व्यावसायिक रंगमंच पर हिन्दी नाटकों का अभिनय प्रारम्भ हुआ वे पारसी रंगमंच थे, जो संस्कृत का परम्परा के अनुसार न होकर पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित थे । इस विषय में डा० एस०पी० खत्री का विचार है कि 'पारसी कम्पनियों ने हिन्दी नाटकों का एक हित अवश्य किया । उन्होंने एक व्यवस्थापूर्ण रंगमंच की भेंट हिन्दी साहित्य को दी जो भविष्य में परिष्कृत होता गया[2] ।' इस मत की पुष्टि देवर्षि सनाढ्य ने भी की है । आपके अनुसार 'हिन्दी नाटकों का रंगमंच पर प्रवेश पारसी रंगमंच से हुआ, जिसका सम्बन्ध भारतीय (संस्कृत) रंगमंच से न होकर अंग्रेजी रंगमंच से था । वे अंग्रेजी रंगमंच के अनुकरण थे । जब पारसी कम्पनियों में हिन्दी नाटक खेले जाने लगे तो उनके लिए विशेषरूप से नाटक लिखे गए, जिनमें भारतीय कथा-साहित्य को पाश्चात्य वातावरण में सजाया जाता था[3] ।' पारसी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव का दिग्दर्शन बलवन्त गार्गी ने इस प्रकार कराया है--' रंग सज्जा और पोशाकें इस प्रकार की था, जो उस समय पश्चिम में बैठे लोग भारत के रहन-सहन के बारे में कल्पित कर लेते थे । शोख रंगों में चित्रित एक बड़ा परदा मंच के पीछे टंगा होता था यह परदा समस्त पृष्ठभूमि का काम देता था । देव हवा में उड़ते थे, पटाखा फटने पर सिंहासन और जंगल जलते थे । हीरो महल की दीवार पर से नदी में छलांग लगाता था । मंच इस

---

१ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' : डा० सोमनाथ गुप्त,चतुर्थ संस्करण,पृ०१००

२ 'नाटक की परख' : डा० एस०पी० खत्री, तृतीय संस्करण,पृ०९९३

३ 'हिन्दी के पौराणिक नाटक' : डा० देवर्षि सनाढ्य,प्रथम संस्करण,पृ०२९६

प्रकार बना होता था कि इसमें चोर दरवाजे और गुप्त गड्ढे होते थे,ताकि किसी स्थान पर देवता या कोई देव अचानक प्रकट हो सके । पुष्पक विमानों को हवा में उड़ाने और आकाश से परियों को उतारने के लिए जटिल यंत्र प्रयोग में लाए जाते थे । इस प्रकार के चमत्कारिक दृश्य और युक्तियां उन्नीसवीं शताब्दी के लन्दन के ड्रूरीलेन थियेटर को भड़कीली दृश्य सज्जा की सीधी नकल थे।[1] जो भी हो इन पारसी रंगमंचों का हिन्दी रंगमंच के विकास में विशेष महत्व है । यदि इन नाटकों की व्यावसायिकता इस चरम सीमा तक न पहुंच जाती कि अनेक अस्वाभाविक,अश्लील तथा कुरुचिपूर्ण नाटकों का प्रदर्शन होने लगता तो संभवतः इसकी इतनी तीव्र प्रतिक्रिया भी न होती कि एक सर्वथा नवीन सुरुचिपूर्ण हिन्दी रंगमंच का प्रारम्भ होता । इस दृष्टि से हिन्दी रंगमंच का अत्यधिक पारसी रंगमंच का अत्यधिक अनुगृहीत है ।

ये पारसी नाटक मण्डलियां अस्थायी थीं । सर्वप्रथम बम्बई में ओरीजनल थ्योट्रिकल कम्पनी की स्थापना हुई जो १८७०ई० तक वर्तमान थी । इस कम्पनी में दो मुसलमान लेखक थे-- मोहम्मद मियां 'रौनक' तथा हुसेन मियां 'जरीफ' । सेठ पेस्टन जी फ्राम जी इसके मालिक थे । इसके बाद खुरशेद जी बल्लीवाला ने १८७७ में दिल्ली में विक्टोरिया थ्योट्रिकल कम्पनी खोली । इस कम्पनी के लिए काशी के मुंशी विनायक प्रसाद ने अनेक नाटक लिखे,जिनमें 'गोपीचन्द', 'हरिश्चन्द्र', 'रामायण' और 'कनकतारा' आदि प्रमुख हैं । खुरशेद जी इस कम्पनी को लेकर लन्दन गये तथा वहां उन्होंने 'हैमलेट' का प्रदर्शन किया । ये नाटक मण्डलियां अपने-अपने नाटक लेखक रखती थीं,जो उस कम्पनी के लिए नाटक लिखते थे । इसके अतिरिक्त अनेक अन्य नाटक कम्पनियों की स्थापना हुई जिनमें 'विक्टोरिया पारसी आपरा कम्पनी' प्रमुख है । बम्बई के पारसी एलिफिस्टन ड्रामेटिक क्लब ने कुछ हिन्दी के नाटक अभिनीत किए जो लोकप्रिय हुए । इनमें गिरीशचन्द्र घोष के प्रसिद्ध नाटक 'नल दमयन्ती' का हिन्दी अनुवाद तथा 'हरिश्चन्द्र' नाटक उल्लेखनीय है । १८७७ में कावस जी खटाऊ ने एल्फ्रेड थ्योट्रिकल कम्पनी बनायी जिसके लेखक सैयद मेंहदी हसन, 'अहसान' और पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' थे । बेताब जी ने पारसी रंगमंच के उर्दू प्रधान भाषा

---

१ 'रंगमंच' : बलवन्त गार्गी,पृ०१७१

में सर्वप्रथम हिन्दी को स्थान दिया । इस कम्पनी ने बर्मा तक में नाटकों का प्रदर्शन किया और सफलता प्राप्त की । इस कम्पनी द्वारा अभिनीत 'महाभारत' नाटक की भाषा में शुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया गया था । १९१३ई० में बम्बई की पारसी थ्योट्रिकल कम्पनी और एल्फिन्स्टन थ्योट्रिकल कम्पनी दोनों मिलकर एक हो गईं । इसके बाद मोहम्मदअली नाखुदा और सोहराब जी ने मिलकर न्यू अल्फ्रेड कम्पनी की स्थापना की । तत्पश्चात् आगा हश्र कश्मीरी ने शेक्सपियर थ्योट्रिकल कम्पनी खोली । इस कम्पनी के नाटककार राधेश्याम कथावाचक तथा मोहम्मद हश्र कश्मीरी थी थे । 'हश्र' जी ने उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी नाटक भी लिखे । राधेश्याम कथावाचक जी ने अनेक आदर्शवादी पौराणिक नाटकों की रचना की । पारसी रंगमंच के लिए सर्वप्रथम आपने सुरुचिपूर्ण नाटकों की रचना का प्रारम्भ किया तथा उनमें हिन्दी भाषा को प्रधानता दी । आपके नाटक 'वीर अभिमन्यु' के लिए कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने लिखा है कि --' इतने हिन्दीत्व का कोई नाटक इसके पहले पारसी स्टेज पर नहीं गया था ।'[१] इसके अतिरिक्त लाहौर में ओल्ड पारसी थ्योट्रिकल कम्पनी तथा दिल्ली में जुबली नाटक कम्पनी की स्थापना की गई । कुछ अन्य कम्पनियां जैसे अलेक्जेंड्रिया कम्पनी आदि की भी स्थापना हुई । कुछ समय तक इनका प्रभाव रहा, बाद में ये कम्पनियां बन्द हो गईं ।

पारसी कम्पनियों द्वारा अभिनीत नाटकों में नाटक पर कम जनता की रुचि पर अधिक ध्यान दिया जाता था । यही कारण है कि इन नाटकों में नाटकीयता का अभाव और सस्ते मनोरंजन के साधनों का बाहुल्य रहता था । अन्य कम्पनियों से अपनी पृथक् विशेषता बनाये रखने के लिए ये कम्पनियां रंगमंच की साज-सज्जा , विभिन्न प्रकार के वस्त्रों तथा परदों और चमत्कारपूर्ण दृश्यों की ओर अधिक ध्यान देती थीं । इन पर अभिनीत नाटक अधिकांशत: धार्मिक या पौराणिक होते थे । इनका विषय सत्य,त्याग की भावना पतिव्रत धर्म की श्रेष्ठता तथा वीरता आदि होता था । डा० नगेन्द्र के

---

१ 'हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा' : कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, प्रथम संस्करण,पृ०३४७ ।

अनुसार इन नाटकों के अधिकांशत: धार्मिक होने का कारण यह है कि 'रामलीला और रास से भिन्न अभिनय की कल्पना करना शायद हिन्दी जगत के लिए आसान नहीं था ।'[1] क्योंकि उस समय तक नाटक की स्वस्थ परम्परा पुन: विकसित नहीं हो पायी थी । नाटकों की जो क्षीण परम्परा रामलीला तथा रासलीला के रूप में प्रचलित थी, उसे ही इन कम्पनियों ने अपनाया । इसके अतिरिक्त तत्कालीन मानव समाज नाटक के यथार्थवादी सामाजिक रूप से अनभिज्ञ होने के कारण आदर्शवादी पौराणिक नाटकों को ही नाटक का आदर्श रूप मानता था । ऐसी स्थिति में धार्मिक नाटकों से पृथक् नाटक का अभिनय इन व्यावसायिक कम्पनियों के व्यवसाय पर कुठाराघात होता,अत: इन कम्पनियों द्वारा अधिकांशत: आदर्शवादी पौराणिक नाटकों का ही प्रदर्शन किया गया । कुछ समाज-सुधार सम्बन्धी सामाजिक नाटकों का अभिनय भी हुआ,परन्तु इनकी संख्या अत्यन्त अल्प थी । इन नाटकों में गीतों की अधिकता होती थी जो गीत न होकर तुकबन्दी होते थे और जिसे गज़ल तथा ठुमरी के रूप में गाया जाता था । गद्य के लिए लययुक्त गद्य का प्रयोग किया जाता था । इनके कथानक रोमांचकारी तथा रहस्यपूर्ण होते थे,क्योंकि इन नाटकों के दर्शक जिस वर्ग के होते थे वे इसी प्रकार के निम्न स्तर के गाने तथा कथानक पसन्द करते थे । ये नाटक कम्पनियां व्यावसायिक होती थीं, अत: इन्हें धन कमाने की चिन्ता रहती थी,इसलिए साहित्यिकता की अपेक्षा दर्शकों की रुचि का अधिक ध्यान रखा जाता था ।

इन नाटकों के साथ प्रहसन भी होते थे जो नाटक से सर्वथा पृथक् होते थे । दृश्य-परिवर्तन में जो समय लगता था उस समय तक दर्शकों को शान्त रखने के लिए बीच-बीच में ये प्रहसन हुआ करते थे । ये प्रहसन निम्नस्तर के होते थे । इसका विषय बहुधा प्रेमी-प्रेमिका तथा पति-पत्नी का झगड़ा अथवा उनका प्रेमालाप होता था जो अत्यन्त भद्दा तथा भोंडा होता था । अन्त में दोनों हाथ में हाथ डालकर अथवा कमर में हाथ डाले हुए चले जाते थे ।

---

१ 'आधुनिक हिन्दी नाटक' : डा० नगेन्द्र, चतुर्थ संस्करण,पृ०३

इस प्रकार इन पारसी कम्पनियों ने दो महत्वपूर्ण कार्य किये । एक तो यह कि इन्होंने भद्दे तथा कुरुचिपूर्ण नाटकों का प्रदर्शन करके शिक्षित जनता में इनके प्रति घृणा तथा क्षोभ उत्पन्न किया और दूसरा यह कि आधुनिककाल में विविध साधनों तथा उपकरणों द्वारा सबसे पहले इन्होंने ही उत्तरभारत में रंगमंच की नींव डाली । नौटंकी तथा रामलीला आदि के लिए जिन रंगमंचों का प्रयोग होता था, उनमें केवल स्टेज होता था तथा एक परदा रहता था । विविध प्रकार के परदों तथा दृश्यों का प्रचलन और प्राकृतिक दृश्यों को दिखाकर वातावरण को स्वाभाविक बनाने का उपक्रम भी पहले पहल इन पारसी कम्पनियों ने ही किया ।

पारसी कम्पनियों द्वारा प्रदर्शित नाटकों में यथार्थ का अभाव रहता था, जो यथार्थवाद मिलता भी था वह आदर्शवाद का ही निम्नस्तर होता था । कुछ सुसंस्कृत लोगों ने जब इन नाटकों को देखा और इनकी आलोचना की तब से इन नाटकों में सुधार किया जाने लगा । काठियावाड़ में श्री सूर विजय और मेरठ में व्याकुल भारत नाम की दो नाटक कम्पनियों की स्थापना की गई, जिनका उद्देश्य हिन्दी नाटक खेलना था । यद्यपि इन कम्पनियों पर पारसी प्रभाव अत्यधिक था, तथापि पारसी कम्पनियों द्वारा उत्पन्न कुरुचि तथा भद्देपन को दूर करने का श्रेय इन्हें ही है ।

रामलीला तथा रासलीला से पृथक व्यवस्थित रंगमंच पर खेला जाने वाला प्रथम नाटक 'इन्दर सभा' है । यह आगा हसन अमानत द्वारा लिखा नाटक है, जिसे लखनऊ के कैसरबाग में निर्मित रंगमंच पर अभिनीत किया गया, जिसमें स्वयं वाजिदअली शाह ने इन्दर का अभिनय किया था[१]। पारसी रंगमंच पर हिन्दी नाटक के नाम से खेला जाने वाला प्रथम नाटक 'जानकी मंगल' है जो सन् १८८६ई० में अभिनीत हुआ ।

हिन्दी रंगमंच की स्थापना पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया स्वरूप हुई । बच्चनसिंह के अनुसार --' हिन्दी रंगमंच का जो भी इतिहास है वह

---

१ 'नई धारा' -- रंगमंच विशेषांक, अप्रैल-मई १९५२ई०,पृ०१४

पारसी रंगमंच के प्रतिक्रिया का इतिहास है।[१] इस विषय में डा०लक्ष्मीनारायण लाल का विचार है कि 'हिन्दी रंगमंच-- जिसका पहला और अत्यन्त महत्वपूर्ण उदय भारतेन्दुकाल में हुआ, दूसरा विकास प्रसाद काल में और अन्ततः जिसका पर्यवसान चौथे दशक के आस पास हो गया, यह पूरी रंगयात्रा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ढंग से पारसी थियेटर के प्रभाव और उसके प्रतिक्रिया का दस्तावेज है।[२] पारसी रंगमंच द्वारा उत्पन्न कुरुचि से क्षुब्ध हो भारतेन्दु जी तथा उनके सहयोगियों ने हिन्दी के सुरुचिपूर्ण नाटकों की रचना तथा उनका प्रदर्शन प्रारम्भ किया। इस प्रकार सुरुचिपूर्ण नाटकों का प्रचार हुआ।

जिस रंगमंच पर हिन्दी के सुरुचिपूर्ण नाटकों का अभिनय प्रारम्भ हुआ वह अव्यावसायिक रंगमंच था। इसका उद्देश्य साहित्यिक नाटकों का अभिनय करना था। अव्यावसायिक नाटक कम्पनियों ने स्वस्थ तथा सुरुचिपूर्ण विषयों पर लिखे नाटकों का प्रदर्शन किया। इन नाटकों में उर्दू के स्थान पर हिन्दी को प्रधानता दी गई। इनमें लिखे गीत परिष्कृत थे तथा हास्य मर्यादापूर्ण था ।

सर्वप्रथम प्रयाग में पं० माधव शुक्ल, पं० महादेव भट्ट और पं० गोपालदत्त त्रिपाठी ने एक नाटक मण्डली की स्थापना की, जिसका नाम श्री रामलीला नाटक मंडली था इस नाटक मंडली ने रामलीला के प्रसंग के माध्यम से उस समय की वर्तमान राजनीति की कड़ी आलोचना की। इससे पहले भी कुछ प्रयास अवश्य हुए थे परन्तु कोई स्थायी नाटक मण्डली नहीं बन पायी थी। यह नाटक मण्डली अव्यावसायिक नाटक मण्डली की सर्वप्रथम स्थायी नाटक मण्डली था। १९०७ई० तक यह मण्डली बन्द हो गई। १९०८ ई० में पं० माधव शुक्ल ने हिन्दी नाट्य समिति के नाम से इसकी पुनः स्थापना की।

दूसरी नाटक मण्डली नागरी नाट्य कला प्रवर्तन मण्डली था, जिसकी स्थापना १९०९ ई० में काशी में हुई। कुछ दिनों पश्चात् इसके दो भाग हो गये एक का नाम भारतेन्दु नाटक मण्डली तथा दूसरे का काशी नागरी नाटक

---

१ 'हिन्दी नाटक' : बच्चन सिंह, द्वितीय संस्करण, पृ०२३९।

२ 'आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच': डा० लक्ष्मीनारायणलाल, प्रथम संस्करण, पृ० ३९।

मण्डली पड़ा । १९०६ई० में ही बंगलौर में एमेच्योर ड्रामेटिक एसोसियेशन की स्थापना हुई । चौथी नाटक मण्डली थी हिन्दी नाट्य परिषद् । इसकी स्थापना पं० माधव शुक्ल ने कलकत्ते में की । १९३४ई० में पृथ्वीराज कपूर ने `पृथ्वी थियेटर्स` की स्थापना की । इनका पहला नाटक `शकुन्तला` था । इसकी असफलता के बाद आपने आधुनिक विषयों पर नाटक का प्रदर्शन प्रारम्भ किया । हिन्दू-मुस्लिम एकता के आधार पर देश के विभाजन के समय `पठान`,`गद्दार` और `आहुति` नाटक प्रदर्शित किया गया । सन् १९४७ई० में पृथ्वी थियेटर्स के सहयोग से आपेरा हाउस में एक पेटिका रंगमंच का प्रयोग किया गया,जिसमें काशी के अनेक प्रसिद्ध अभिनेताओं ने अभिनय किया[1] । १९६०ई० में यह कम्पनी बन्द कर दी गई ।

सन् १९३८ई० में पं० मदनमोहन मालवीय जी की प्रेरणा से काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में पेटिका रंगमंच(बाक्स स्टेज) का निर्माण हुआ[2] । १९४३ई० में इण्डियन पीपुल्स थियेटर की स्थापना हुई । इसके कलाकार व्यावसायिक कलाकार नहीं थे । ये कुछ ऐसे नवयुवक थे, जिन्हें देश में होते हुए विदेशी राज्य के अत्याचार ने उद्विग्न कर दिया था । ये कलाकार दर्शकों के बीच से उठकर मंच पर जाते और अभिनय करके पुन: दर्शकों में बैठ जाते थे । इसमें किसी मंच अथवा नाट्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती थी । केवल पृष्ठभूमि में एक रंगीन पर्दा टंगा रहता था । इसमें जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं को विषय बनाया जाता था और खुले आसमान के नीचे किसी खलिहान या चबूतरे पर इसका अभिनय किया जाता था ।

१९४५ई० में पीपुल्स थियेटर का सेण्ट्रल बैले ट्रुप स्थापित हुआ ,जिसपर `इम्मोर्टल इण्डिया` (अमर भारत) नामक नाटक प्रदर्शित हुआ । जिसमें भारत का दो हजार वर्ष का इतिहास था[3] । अमर भारत के बाद इसका प्रमुख नाटक था `मैं कौन हूं` । १९४८ई० में यह बैले ट्रुप बन्द हो गया । १९४९ई०में

---

१ `भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच` : पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ०५२८

२ `भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच` : पं० सीताराम चतुर्वेदी,पृ०५२८ ।

३ `रंगमंच` : बलवन्त गार्गी, पृ०२०८

इण्डियन नेशनल थियेटर की स्थापना हुई । इस मण्डली ने प्रारम्भ में गांवों में कुछ प्रचारात्मक नाटक प्रस्तुत किये । नेहरू जी की पुस्तक `भारत दर्शन` पर आधारित नाटक `भारत दर्शन` इसका प्रथम नृत्यनाट्य था[१]।

१९४९ई० में बलिया में नाटक का एक नवीन प्रयोग किया गया । जिसमें दृश्यात्मक रंगपीठ पर नाटक खेले गये । इस प्रकार का प्रथम नाटक `विश्वास` था । इसके पात्रों के नाम वही थे जो उनके अभिनेताओं के वास्तविक नाम थे । इसके बाद दृश्यपीठ वाले कई नाटक खेले गये । काशी के वसन्त कन्या महाविद्यालय में `मीराबाई` और `जय सोमनाथ`नाटक खेला गया ।

इस प्रकार क्रमश: हिन्दी रंगमंच का प्रारम्भ और विकास हुआ जो उत्तरोत्तर वृद्धि करता जा रहा है । आजकल स्कूल,कालेज और विश्व -विद्यालय तथा अन्य संस्थाओं में नाटकों के अभिनय का प्रचार बढ़ता जा रहा है । सरकार की ओर से आयोजित अखिल भारतीय युवक समारोह में भी नाटकों का अभिनयहोता है । ऐसी प्रतियोगिताओं से रंगमंच को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है । अनेक नगरों जैसे दिल्ली,लखनऊ,इलाहाबाद आदि में रंगमंच की उन्नति के लिए अनेक प्रयत्न हो रहे हैं । लखनऊ में नाट्य परिषद्,नवकला निकेतन और विश्व भारती रंगमंच आदि संस्थाएं इस ओर विशेष प्रयत्नशील हैं ।

बम्बई की `इप्टा` अव्यावसायिक रंगमंच है,जिसका हिन्दी रंगमंच के विकास में विशेष महत्व है । उत्तरप्रदेश में भी सरकार ने काशी में `नटराज` नाम से एक हिन्दी रंगमंच की स्थापना की है । श्री कमलेश्वर जी `कमलेश` ने भी `नटराज नाट्य कला परिषद् विहार` के नाम से एक अन्य नाट्य संस्था का प्रारम्भ किया है । नेशनल स्कूल आफ ड्रामा एण्ड एशियन थियेटर्स इन्स्टीट्यूट तथा `संगीत नाटक एकादमी` की स्थापना अभिनयके शिक्षा हेतु की गई है । इसके अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय सरकारें भी रंगमंच की प्रगति की ओर प्रयत्नशील हैं ।

रंगमंच के त्वरित विकास को देखते हुए यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि हिन्दी रंगमंच का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है ।

---

१ `रंगमंच` : बलवंत गार्गी,पृ०२४१

संस्कृत साहित्य में नाट्य साहित्य की परम्परा

मानव जीवन के साथ ही नाटक का जो बीज अंकुरित हुआ वह क्रमश: विकसित होता हुआ आज अपने पुष्पित तथा पल्लवित रूप में हमारे सम्मुख है । नृत्य,गीत और आंगिक अभिनय के साथ कथानक तथा संवादों का समावेश हो जाने पर नाटक का जन्म हुआ । राहुल सांकृत्यायन ने नाटकीय कथानक में संगीतात्मक अभिव्यक्ति को नाटक माना है । आपके अनुसार 'किसी नाटकीय कथावस्तु को लेकर उठा संगीतात्मक अभिव्यक्तियां की जातीं तो स्वत: नाटक की सृष्टि हो जाती थी ।'[१] शनै: शनै: अभिनय क्षमता की वृद्धि के साथ-साथ संगीत तथा नृत्य का ह्रास हो गया और अभिव्यक्ति का प्रधानता हो गई । नृत्य और गीत से पृथक् होकर नाटक ने अपना स्वतन्त्र स्वरूप ग्रहण कर लिया । सर्वप्रथम इसका रूप संस्कृत नाटकों में मिलता है, तत्पश्चात् जन नाटकों में और उसके बाद प्रांतीय भाषाओं में ।

संस्कृत नाटक

नाटक का सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है । नाट्यशास्त्र साहित्य की अन्य सभी विधाओं से प्राचीन है । काव्य में नाट्यशास्त्र से रस सिद्धान्त को ग्रहण करने की बात इस बात का प्रमाण है । इस विषय में डा० बच्चन सिंह ने लिखा है कि --' इसके प्रमाणस्वरूप संस्कृत के काव्यशास्त्र के आचार्यों के उस कथन को उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें उन लोगों ने रस-सिद्धान्त को नाट्य शास्त्र के से ग्रहण करने की बात स्वीकार की है ।'[२] इससे ज्ञात होता है कि भरतमुनि का नाट्यशास्त्र अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है, क्योंकि लक्ष्य ग्रन्थों के उपरान्त ही लक्षण ग्रन्थों की रचना होती है । अत: यह कहना कि अपने समय तक लिखे गये नाटकों का अध्ययन करके ही भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र का निर्माण किया होगा,अत्युक्ति न होगी ।डा०श्यामसुन्दरदास ने भी इस

---

१ 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' : पं० राहुल सांकृत्यायन,षोडस भाग, प्रथम संस्करण,पृ०४४८ ।

२ 'हिन्दी नाटक' : बच्चन सिंह, द्वितीय संस्करण,पृ०११

बात का समर्थन किया है--`ईसा से कम से कम हजार आठ सौ वर्ष पहले यहां नाटकों का यथेष्ट प्रचार था और ईसा से चार पांच सौ वर्ष पहले यहां की नाट्यकला इतनी उन्नत हो चुकी थी कि उनके सम्बन्ध में अनेक लक्षण ग्रन्थ भी बन गये थे[१]।`इससे ज्ञात होता है कि भरतमुनि से पूर्व भी नाटकों का प्रचलन था। स्वयं भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में इन्द्रध्वजोत्सव के अवसर पर नाट्यवेद के प्रयोग का उल्लेख किया है[२]। एक अन्य स्थल पर आपने `अमृत मन्थन` नामक नाटक के अभिनय का भी उल्लेख किया है[३]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भरतमुनि से पूर्व नाटकों का प्रचलन था। परन्तु डा० ए०बी०कीथ महोदय इससे सहमत नहीं हैं। आपके विचार से वैदिक युग में कोई नाटक नहीं थे, तभी तो ब्रह्मा से पंचमवेद के निर्माण का अनुरोध करना पड़ा[४]। परन्तु डा० एस०पी० खत्री के अनुसार नाट्यशास्त्र में नाटक का जो विश्लेषण मिलता है, वह काल्पनिक नहीं हो सकता। उस समय तक नाटक का अस्तित्व अवश्य रहा होगा जिसके आधार पर भरतमुनि ने नाटक के नियमों की रचना की है[५]। यजुर्वेद में `शैलूष` (नट) का वर्णन इस बात की पुष्टि

----

१ भारतेन्दु नाटकावली` : श्यामसुन्दरदास, प्रस्तावना, प्रथम संस्करण, पृ०४०।

२ अयं दानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञ: प्रयुज्यताम्।
तस्मिन्ध्वजमहे निहतासुरदानवे ॥
प्रहृष्टामर संकीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे।
पूर्वं कृता मया नान्दी ह्याशीर्वचन संयुता ॥
--नाट्यशास्त्र १.५५, १.५६

३ ततोऽस्म्युक्तो भगवता योजयामृतमन्थनम्।
एतदुत्साहजननं सुरप्रीतिकरं तथा ॥
--नाट्यशास्त्र ४.२

"........the absence of any drama in the vedic literature was recognized, since it was necessary for the Gods to ask Brahma to creat a completely new type of literatyre, suitable for an age pasterior to that in which the vedas already existed."

The sanskrit drama in its origin development theory and practical- A.Berried Keith Pg. 13.

५ `नाटक की परख` : डा० एस०पी० खत्री, तृतीय संस्करण, पृ०१०६

करता है कि वैदिक युग में नाटकों का अस्तित्व था[१]।

पुराणों में भी नाटकों का उल्लेख मिलता है। `हरिवंश पुराण` के विष्णु पर्व में बज्रनाभ की पुत्री प्रभावती का प्रद्युम्न से विवाह का उल्लेख है। इस विवाह के लिए तथा बज्रनाभ के वध के लिए प्रद्युम्न तथा अन्य यादवों ने नट का रूप धारण किया और `रामायण नाटक` का प्रदर्शन किया, जिसमें प्रद्युम्न ने नायक का और साम्ब ने विदूषक का रूप धारण किया। इन लोगों ने बज्रपुर के उपनगर सुपुर में इस नाटक का प्रदर्शन किया, जिसमें रामजन्म तथा रावण-वध का दृश्य दिखाया गया था। इस नाटक की ख्याति सुन कर बज्रनाभ ने उन लोगों को बज्रपुर में नाटक खेलने के लिए बुलाया। नाटक देखकर राक्षस अत्यन्त प्रसन्न हो द्रव्य तथा आभूषण आदि नटों को भेंट करने लगे। इसी समय बज्रनाभ का वध हो गया और प्रद्युम्न से प्रभावती का विवाह हुआ[२]। `अग्निपुराण` में भी `नागरादिकवास्तु कथनम्` में बताया गया है कि नगर की योजना बनाते समय नृत्य गीत आदि द्वारा जीविकोपार्जन करने वालों को नगर के दक्षिणदिशा में और नट, चक्रिक(कुम्हार) और कैवर्त आदि एवं व्यवसाय करने वालों को नगर के नैर्ऋतकोण में बसाना चाहिए[३]। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक नट विधा का पूर्ण प्रचार हो गया था और उनका सफल अभिनय भी होता था।

ईसा से तीन चार सहस्र वर्ष पूर्व वाल्मीकि रामायण में भी नाटक का उल्लेख मिलता है। आदिकवि वाल्मीकि ने अयोध्याकाण्ड में

---

१ नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय समाचरं नरिष्ठायै
भीमलं नर्माय रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे
कुमारी पुत्रं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम् ।।
--यजुर्वेद संहिता ३०.६ ,द्वितीय खण्ड,प्रथम संस्करण।

२ `हरिवंश पुराण`,पृ०३२-४०

३ दक्षिणे नृत्यवृत्तीनां वेश्यास्त्रीणां गृहाणि च।
नटानां चक्रिकादीनां कैवर्तादेश्च नैर्ऋते ।।
--अग्निपुराण, प्रथम खण्ड ४१.७

राम के राज्याभिषेक के समय अनेक ससससस उत्सवों का उल्लेख किया है,जिनमें नाटक भी था ।

नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम् ।
मन: कर्णसुखा वाच: शुश्रुवुश्च ततस्तत: ।।[१]

अर्थात् नटों,नर्तकों तथा गायकों के कर्ण सुखद वचनों को लोग सुन रहे थे । इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि रामायण काल में नाटक का विकास हो चुका था ।

महाभारत के विराट पर्व में अभिमन्यु के विवाह के अवसर पर नटों द्वारा मनोरंजन किये जाने का उल्लेख मिलता है[२]। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक नाटक पूर्णरूपेण विकसित हो चुका था ।

श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में श्री शुकदेव जी परीक्षित से कहते हैं कि जिस प्रकार नट अभिनय करता हुआ भी उस पात्र में लिप्त नहीं होता ,उसी प्रकार ब्रह्म भी सृष्टि में व्याप्त रहता हुआ भी उससे पृथक् रहता है[३]। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक नाटक का प्रचलन इतना अधिक हो चुका था कि उसे उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा था ।इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत् महात्म्य में भी नट का उल्लेख मिलता है । कृष्ण के कुरुदेश से वापस आने की सूचना पाकर नगर में उत्सव का आयोजन किया जाता है

---

१ `बाल्मीकि रामायण`,अयोध्याकाण्ड,अष्टम सर्ग,श्लोक संख्या १४ ।

२ गायनाख्यानशीलाश्च नटा वैतालिकास्तथा ।
स्तुवन्तस्तानुपातिष्ठन्सूताश्च सह मागधै: ।।
--महाभारत,विराटपर्व ७८.३२

३ राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
माया विडम्बान मवेहि यथा नटस्य ।
सृष्ट्वाऽऽत्मनेद मुनिविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिमोपरत: स आस्ते ।।
--श्रीमद्भागवत, द्वितीय खण्ड ११.३१.११

जिसमें नट,नर्तक तथा सूत द्वारा वन्दना किये जाने का वर्णन मिलता है[१]।
उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उस समय तक नाटक का पूर्ण विकास
हो चुका था ।

पाणिनि(८००ईसा पूर्व) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ
'अष्टाध्यायी' में शिलाली तथा कृशाश्व द्वारा रचित नट सूत्रों का उल्लेख
किया है,जिसमें नट विधा की विशद् विवेचना की गई है[२]।

वात्स्यायन (४००ईसा पूर्व) के कामसूत्र में भी नाटक
का उल्लेख मिलता है,जिसमें बताया गया है कि सरस्वती मन्दिर में महीने के
प्रसिद्ध पर्वों के अवसर पर राजा की ओर से नियुक्त नट नाटक का प्रदर्शन करते
थे । इस उत्सव को समाज कहा जाता था[३]।

कौटिल्य (चौथी शताब्दी ईसा पूर्व) के अर्थशास्त्र में
जो उदाहरण दिये गये हैं,उनसे ज्ञात होता है कि उस समय तक नाटक का
पूर्ण विकास हो गया था और अनेक नाटक मण्डलियाँ घूम-घूम कर नाटक का
प्रदर्शन किया करती थीं । बाहर से आकर नाटक का प्रदर्शन करने वाली नाटक
मण्डली को प्रत्येक नाटक का पांच पण कर के रूप में राज्यकोष में देना पड़ता
था[४]।

---

१ नटनर्तकगन्धर्वाः सूत मागधवन्दिनः ।
गायन्ति चोत्तमश्लोक चरितान्यद्भुतानि च ।
--श्रीमद्भागवत महात्म्य १.११.२१

२ पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ।।
कर्मन्दकृशाश्वादीनि ।।
--अष्टाध्यायी ४.३.१११

३ पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः ।।
कामसूत्र,नागरकवृत्त प्रकरण,श्लोक संख्या १५ ।

४ तूर्यमागन्तुकं पंचपणं प्रेक्षावेतनं दद्यात् ।
--अर्थशास्त्र २.४३.२७

पतंजलि के महाभाष्य के विषय में ए०बी० कीथ ने लिखा है कि पतंजलि का महाभाष्य, जिसका समय उचित निश्चय के अभाव में १४०ई० पूर्व मान लेना चाहिए, नाटक के अस्तित्व के विषय में कहीं अधिक सार्थक प्रमाण है[1]। उपरोक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि उस समय तक नाटक का पूर्ण विकास हो चुका था ।

बौद्ध ग्रन्थों में बौद्धों के लिए नाटक देखने का निषेध इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उस समय तक नाटक का पर्याप्त प्रचलन हो चुका था। बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटक के चुल्लवग्ग में एक घटना का उल्लेख मिलता है, जिसमें अश्वजित तथा पुनर्वसु नाम के दो बौद्ध भिक्षु एक बार नाटक देखने के पश्चात् एक नर्तकी से प्रेमालाप करने लगे थे, जिस अपराध में उन्हें विहार से निर्वासित कर दिया गया था[2]। इस कथा से ज्ञात होता है कि बौद्धकाल में इतने सुन्दर तथा सफल नाटकों का अभिनय होता था जो वीतरागी बौद्ध भिक्षुओं को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेता था । प्रारम्भ में बौद्धों ने नृत्य नाटक आदि की पर्याप्त आलोचना की, परन्तु नाटक की लोकप्रियता देख कर उन्होंने भी अपने धर्म के प्रचार के लिए नाटक का आश्रय लिया ।

इन उदाहरणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही नाटकों का विकास हो गया था । ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व भी यहां नाटक अपने उन्नतरूप में विद्यमान था, परन्तु इनका कोई

----

१ In Patanjali, the author of the Mahabhasya (महाभाष्य), whose date is certainly to be placed with reasonable assurance about 140 B.C., we find much more effective evidence to bearing on the existence of drama.

--द संस्कृत ड्रामा, ए०बी० कीथ, पृ०३१

२ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, कर्मस्कन्ध, प्रव्राजनीय कर्म-- अनुवादक राहुल सांकृत्यायन, पृ० ३४६ ।

क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है । ईसा की प्रथम शताब्दी से संस्कृत नाटकों का इतिहास उपलब्ध होता है,जिसकी परम्परा अश्वघोष से प्रारम्भ हुई ।

अश्वघोष (ईसा की प्रथम शताब्दी) के कुछ नाटक जो ताड़पत्र पर लिखे गये हैं, मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं,जिन्हें देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय तक नाट्य कला का पूर्ण विकास हो चुका था ।

भास (चौथी शताब्दी ईसा पूर्व या इसके समीप का समय) के लिखे तेरह नाटकों का पता चला है जिनमें सात महाभारत, दो रामायण, दो इतिहास और दो सामाजिक कथानकों के आधार पर लिखे गये हैं । बच्चन सिंह के अनुसार `भास के नाटक संस्कृत नाटकों की परम्परा के सर्वथा अनुकूल नहीं पड़ते । संस्कृत नाटकों की काव्यात्मकता, रूमानियत और अलंकृति पर भास ने उतना ध्यान नहीं दिया है,किन्तु ये ननटक क्रिया-क्षिप्रता, उलझन रहित चरित्र और सरल रूप विन्यास के कारण केरल में काफी प्रसिद्ध रहे हैं[१] ।

कालिदास (प्रथम शताब्दी ई०पूर्व) ने अनेक नाटकों की रचना की । जिनमें `मालविकाग्निमित्र`,`अभिज्ञानशाकुन्तल`,`विक्रमोर्वशी`आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं । इसी परम्परा में शूद्रक (द्वितीय या तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व) ,हर्ष (६०६-६४८ई०),विशाखदत्त(पांचवी या छठवीं शताब्दी के लगभग) तथा भट्ट नारायण (सातवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध) भी आते हैं । शूद्रक का `मृच्छकटिक`, हर्ष का `नागानन्द`,`रत्नावली` तथा `प्रिय दर्शिका`,विशाखदत्त का `मुद्राराक्षस` और भट्ट नारायण का `वेणी संहार` आदि उत्कृष्ट नाटक हैं ।

कालिदास के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ नाटककारों में श्री कण्ठ भवभूति (सातवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) की गणना की जाती है । आपके दो नाटक -- `उत्तर रामचरित` तथा `महावीर चरित` रामायण की कथा के आधार पर लिखे गये हैं । इन दो नाटकों के अतिरिक्त रामकथा के आधार पर लिखे मुरारी मिश्र

---

१ `हिन्दी नाटक ` : बच्चन सिंह, द्वितीय संस्करण,पृ०१२

(८५०ई०) का `अनर्घ राघव`, हनुमान का `महानाटक` अथवा `हनुमन्नाटक`, राजशेखर (दसवीं शताब्दी का प्रारम्भ) का `बाल रामायण` , क्षेमेन्द्र का `कनक जानकी` तथा जयदेव (१२००ई०) का `प्रसन्न राघव` आदि नाटक प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार महाभारत की कथा के आधार पर राजशेखर ने `बाल भारत` क्षेमेन्द्र ने `चित्र भारत` और वत्सराज (१२००ई०) ने `किरातार्जुनीय` लिखा । सामाजिक कथानक के आधार पर राजशेखर ने `कर्पूर मंजरी` तथा `विद्धशाल - भंजिका` नाटक लिखा ।

इसके अतिरिक्त रामायण के कथानक के आधार पर शक्तिभद्र (लगभग ८०० ई०) ने `आश्चर्य चूड़ामणि` और दामोदर मिश्र (९ वीं शताब्दी ई० आरम्भ) ने `हनुमन्नाटक` की और क्षेमीश्वर (९०० ई० के समीप) ने `नैषधानन्द` और `चण्डकौशिक` नामक दो रूपकों की रचना की । यशचन्द्र (१२वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध) ने `मुदित कुमुदचन्द्र` नामक प्रकरण लिखा तथा कविराज शंखधर (१२ वीं शताब्दी) ने `लटकमेलक` नामक प्रहसन लिखा । दिङ्नाग (१०००ई०) ने `कुन्दमाला` की और कृष्ण मिश्र ने `प्रबोध चन्द्रोदय` की रचना की । विग्रहराजदेव(१२ वीं शताब्दी) ने `हरकेलि` नामक नाटक लिखा तथा भारवी रचित `किरातार्जुनीय` महाकाव्य का नाट्य रूपान्तर भी किया । इसी समय रामचन्द्र ने (१२ वीं शताब्दी) `नवविलास`,`रघुवंश` तथा `सत्य हरिश्चन्द्र` की रचना की । रुद्रदेव(राज्यकाल १२९८-१३१९ई०) वारंगल प्रदेश के अन्तर्गत एक शिला नामक राज्य के शासक थे । आपने `ययाति चरित` नामक पौराणिक नाटक तथा `उषारागोदय` नामक नाटिका की रचना की और सुभट (१२ वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध) ने `दूतांगद` नामक छाया नाटक लिखा । रामभद्र मुनि (१३ वीं शताब्दी ई०) ने `प्रबुद्ध रौहिणेय` और जयसिंह सूरि (सन् १२२५ई०) ने `हम्मीर मर्दन` नामक नाटक का प्रणयन किया । मदन (१३ वीं शताब्दी ई०) की एक नाटिका 'पारिजात मंजरी` उपलब्ध होती है । विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी ई० का प्रारम्भ) ने `सौगन्धिकाहरण` नामक एकांकी की रचना की । इसके अतिरिक्त मानिक, ज्योतिरीश्वर, व्यास,रामदेव, वामनभट्ट बाण, जीवराम याज्ञिक,गोकुलनाथ,बालकवि आदि अनेक नाटककारों ने संस्कृत नाटकों की रचना की ।

इन संस्कृत नाटकों के विषय अधिकतर पौराणिक होते थे,जिनमें किसी आदर्श की प्रतिष्ठा की जाती थी । इन नाटकों में यथार्थ का अभाव रहता था । नाटक में अतिमानवीय घटनाओं तथा आकाशवाणी, शाप अथवा वर की व्यवस्था होती थी । संस्कृत नाटक सुखान्त होते थे । इनमें मृत्यु तथा युद्ध आदि के चित्रण का निषेध था, परन्तु कुछ नाटकों के दुखान्त होने का भी उल्लेख मिलता है यथा भास के 'कर्णभार' तथा 'उरुभंग' नाटक में क्रमश: कर्ण और दुर्योधन की मृत्यु का वर्णन मिलता है ।

संस्कृत नाटकों की यह परम्परा मध्यकाल तक कभी मन्द तथा कभी त्वरित गति से गतिमान रही । तत्पश्चात् इन नाटकों का ह्रास होने लगा । वैसे संस्कृत नाटकों की यह परम्परा भास के समय से ही क्षीण होने लगी थी,क्योंकि इसमें अभिनय तत्व के स्थान पर पाठ्य तत्व की अधिकता होने लगी थी, फलत: ये नाटक रंगमंच के योग्य न होकर पठनीय अधिक होने लगे और इनमें साहित्यिकता तथा काव्यात्मकता की प्रधानता हो गई । अत: ये नाटक सर्वसाधारण की बुद्धि से परे केवल विद्वानों के मनोरंजन के साधन रह गये । संस्कृत नाटकों के ह्रास का एक कारण यह भी था कि संस्कृत के स्थान पर प्राकृत तथा अपभ्रंश राज्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ । अत: संस्कृत बोलचाल की भाषा न होकर केवल साहित्यिक भाषा हो गई । इस प्रकार सर्वसाधारण की भाषा और नाटक की भाषा में निरन्तर दूरी बढ़ती गई । राज्यभाषा न होने के कारण संस्कृत नाटककारों को राज्य की ओर से कोई प्रोत्साहन भी नहीं मिला । इसके अतिरिक्त आपसी कलह और गृहयुद्ध के वातावरण में मनोरंजन के इस साधन की ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया । नाटक के लिए रंगमंच अत्यन्त आवश्यक है और इसकी स्थापना के लिए शान्तिपूर्ण वातावरण अत्यन्त आवश्यक है, जिसका मध्ययुग में सर्वथा अभाव था । बौद्ध तथा जैन धर्म का पुनरुत्थान भी नाटक के लिए अहितकर सिद्ध हुआ, क्योंकि दोनों धर्मों ने नाटक को धर्मसम्मत नहीं माना । इसी समय भारत पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये । मुगल साम्राज्य की स्थापना के नाटकों की क्षीण परम्परा को छिन्न-भिन्न कर दिया क्योंकि मुसलमानों ने नाटक को धर्मविरुद्ध मानकर उसका घोर विरोध किया । मुगल दरबार में अन्य ललित कलाओं को प्रश्रय अवश्य मिला,परन्तु नाटक पूर्णत:

उपेक्षित रह गया । इस प्रकार संस्कृत नाटकों की यह परम्परा लुप्त हो गई। जो दो-चार नाटक लिखे भी गये वे न तो लोकप्रिय हो सके और न सार्वजनिक, क्योंकि "नाटक सर्वसाधारण के लिए हो" भरतमुनि के इस सिद्धान्त को संस्कृत नाटककार प्रायः विस्मृत कर चुके थे ।

संस्कृत नाटकों के ह्रास के पश्चात् उसकी क्षीण परंपरा जननाटकों के रूप में जीवित रही । जन नाटकों की यह परम्परा संस्कृत नाटकों के साथ -साथ वैदिक युग से चली आ रही थी । वैदिक यज्ञ के अवसर पर होने वाले लोकनृत्य ही आगे चलकर दो रूपों में विभक्त हो गये -- एक रूप धार्मिक नृत्य नाटक के रूप में प्रचलित हुआ और दूसरा[1] रूप जन नाटक के रूप में प्रचलित हुआ, जिसे सर्वसाधारण जनता ने अपनाया। इसके अनेक रूप जैसे स्वांग, भांड, नौटंकी, विदेशिया आदि प्राचीन काल में भी प्रचलित थे । इनमें स्वांग, भांड और नौटंकी का विशेषरूप से प्रचलन था ।

इन जन नाटकों की परम्परा संस्कृत नाटकों की परम्परा से भिन्न अवश्य थी, परन्तु सदा दोनों एक-दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं। इसका प्रमाण लोक नाटकों का हास्य अभिनेता विदूषक है जो संस्कृत नाटकों में भी मिलता है और संस्कृत नाटकों का रंगमंच है जो लोक नाटकों में मिलता है । इसके अतिरिक्त जन नाटक का भांड संस्कृत नाटक के "भाण" के रूप में प्रचलित है ।

जन नाटक की परम्परा के दो रूप मिलते हैं--लोकधर्मी नाटक परम्परा तथा धार्मिक नाटक की परम्परा । धार्मिक नाटक की परम्परा के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं-- रामलीला तथा रासलीला और यात्रा नाटक ।

लोकधर्मी नाटक जीवन की समस्याओं के आधार पर खेले जाते हैं, जिनमें शुद्ध मनोरंजन का समावेश होता है । ये स्वांग, नौटंकी तथा भांड के रूप में प्रचलित हैं । इनका कोई स्थायी रंगमंच नहीं होता है । पहले इन नाटकों में जीवन की समस्याओं का दिग्दर्शन होता था, परन्तु धीरे-धीरे इनका

---

१ "भारतीय नाट्य साहित्य" - सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ" : सम्पा० डा० नगेन्द्र, पृ०७१

रूप विकृत होता गया। इनमें शृंगारप्रियता तथा विलासिता का आधिक्य हो गया, क्योंकि इनका उद्देश्य केवल मनोरंजन करना था और इन नौटंकियों की व्यवसायी मनोवृत्ति जनता का सस्ता मनोरंजन करने के लिए इन्हें बाध्य करती रही।

जन नाटकों का रूप आज भी शादी, ब्याह अथवा किसी मंगल उत्सव के अवसर पर देखने को मिल जायेगा। ब्याह आदि में आज भी स्त्रियां रात भर जाग कर अनेक प्रकार के नकल करती हैं तथा स्वांग बनाती हैं और समूह नृत्य आदि करती हैं।

जन नाटक की धार्मिक परम्परा में रामलीला, कृष्ण लीला तथा यात्रा की गणना की जाती है। राम तथा कृष्ण अथवा अन्य किसी देवता के चरित्र के आदर्श को सम्मुख लाने के लिए जो नाटक खेले जाते हैं, उन्हें लीला कहते हैं। इन्हें लीला इसलिए कहते हैं क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि भगवान पृथ्वी पर लीला करने के लिए अवतार लेते हैं। अत: इनके चरित्र से सम्बन्धित नाटकों को लीला कहते हैं। तात्पर्य यह कि आध्यात्मिक पक्ष से सम्बन्ध रखने वाले नाटक लीला तथा भौतिक पक्ष से संबंधित नाटक, नाटक कहे जाते हैं। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने लीला तथा नाटक का भेद बताते हुए लिखा है कि "किसी काव्य या इतिहास पर आश्रित दृश्य रूपक को लीला कहते हैं और नाटककार द्वारा निर्मित कथावस्तु के साथ नाट्य-संयोजना की दृष्टि से रची हुई रचना के आधार पर खेले हुए रूपक को नाटक कहते हैं।"[१] उदाहरणस्वरूप रामलीला और रासलीला क्रमश: रामायण और महाभारत काव्य पर आधारित होने के कारण लीला है। परन्तु महाभारत की कथा के आधार पर कालिदास की कल्पना द्वारा निर्मित 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक है। यात्रा नाटक भी धार्मिक मनोवृत्ति पर आधारित लोक प्रचलित जन नाटक का एक रूप है। यात्रा में जगन्नाथ जी की यात्रा, शक्ति की यात्रा तथा कृष्ण की यात्रा प्रसिद्ध है।

---

१ 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' : पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण पृ० ८६-८७।

इससे ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से ही नाटकों का प्रारम्भ हो गया था और अनेक सुन्दर नाटकों की रचना भी हुई । संस्कृत नाटकों में साहित्यिकता की अधिकता हो जाने के कारण वह सर्वसाधारण से दूर होता गया, फलत: जनता के मनोरंजन के लिए लोक-भाषा में प्रचलित जन नाटक अधिक उपयुक्त प्रमाणित हुए । तत्कालीन परिस्थितियों तथा भाषा-भेद के ~~कारण~~ कारण संस्कृत नाटकों की परम्परा समाप्त हो गई परन्तु जन नाटकों की परंपरा अक्षुण्ण रही जो रामलीला, रासलीला, भांड और नौटंकी के रूप में जनता का मनोरंजन करती रही ।

हिन्दी नाट्य साहित्यक का स्वरूप : विकास

हिन्दी नाटक

मुगलकालीन परिस्थितियों से त्रस्त भारत में पुन: नाटकों का उन्नयन कब हुआ, इस बात पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । बाबू गुलाबराय के अनुसार हिन्दी में नाटक नाम की चीज सत्रहवीं शताब्दी से मिलती है[1]। डा० दशरथ ओझा ने हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास तेरहवीं शताब्दी से माना है[2]। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने हिन्दी नाटकों का उद्भव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप माना है[3]। डा० ए०बी० कीथ के अनुसार संस्कृत नाटकों

---

१ `हिन्दी नाट्य विमर्श` : बाबू गुलाबराय,पृ०७९ ।

२ `हिन्दी नाटक उद्भव और विकास` : डा० दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण, पृ०७२ ।

३ `आधुनिक हिन्दी साहित्य` : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, तृतीय संस्करण, पृ० २०१ ।

का प्रभाव इतना अधिक रहा है कि १९ वीं शताब्दी में पहुंच कर ही जनपदीय भाषा का नाटक हिन्दी में प्रकट हुआ[१]। इससे ज्ञात होता है कि हिन्दी ~~xxxx~~ नाटक का उद्भव तेरहवीं से १९ वीं शताब्दी के बीच हुआ।

हिन्दी नाटकों के प्रारम्भ के समान ही हिन्दी नाटकों की परम्परा के विषय में भी मतभेद है। कुछ विद्वानों का विचार है कि हिन्दी नाटक के पीछे कोई पूर्व परम्परा नहीं थी। उसका विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ। डा० एस०पी० खत्री ने पश्चिमी प्रभावों के कारण नाटक का पुनर्जन्म माना है[२]। डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार --` नव्य हिन्दी में नाटकों का आविर्भाव पारम्परिक न होकर संस्कृत या पाश्चात्य नाटक साहित्य का प्रभाव है[३]।` परन्तु कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि हिन्दी नाटक का विकास स्वतन्त्ररूप से न होकर प्राचीन नाटकों की परम्परा में हुआ। डा० सोमनाथ गुप्त ने `हिन्दी साहित्यिक नाटकों का सूत्रपात संस्कृत की परम्परा पर हुआ` माना है[४]। डा० दशरथ ओझा ने भी हिन्दी नाटकों की परम्परा का मूलस्रोत जन नाटकों से माना है जो स्वांग आदि नाम से अपने प्राचीन रूप में अब तक विद्यमान है[५]। डा० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल ने भी हिन्दी नाट्य साहित्य

---

१ So powerful has been the strength of the sanskrit drama that it is only in the nineteenth century that vernacular drama has exhibited itself in Hindi, and general it is only very recently that the drama has seemed proper for vernacular expression.

The sanskrit drama-A.Berriedale Keith Pg.243.

२ `नाटक की परख` : डा० एस०पी० खत्री, तृतीय संस्करण,पृ०११०

३ `हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास` : डा० राजबली पाण्डेय,प्रथम भाग,पृ०३१०

४ `हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास` : डा० सोमनाथ गुप्त चतुर्थ संस्करण,पृ०६

५ `हिन्दी नाटक उद्भव और विकास` : डा० दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण, पृ० ४२।

का उदय, संस्कृत के नाटकीय काव्य (ड्रामैटिक पोएट्री) की परम्परा से हुआ माना है[1]। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तो गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन ही नाटक से हुआ माना है[2]।

विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मतों को देखते हुए ज्ञात होता है कि हिन्दी नाटकों का विकास परम्परागत है। अत: डा० दशरथ ओझा का यह विचार कि "नि:सन्देह रूप से मानना चाहिए कि भारतीय देशी भाषाओं के साहित्यिक नाटक प्रणयन से पूर्व कोई-न-कोई नाटक परम्परा प्रत्येक भाषा भाषी प्रान्त में विद्यमान अवश्य रही है[3]" ही उपयुक्त जान पड़ता है।

इन हिन्दी नाटकों के विकास को जानने के लिए उसे सुविधानुसार पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं -- पूर्व भारतेन्दु युग, भारतेन्दु युग, संधियुग, प्रसाद युग, और आधुनिक युग।

<u>पूर्व भारतेन्दु युग (१६४३- १८६६ई०)</u>

पूर्व भारतेन्दु युग के नाटक ब्रजभाषा में लिखे जाते थे जिनमें काव्यात्मकता की अधिकता रहती थी, अत: इन्हें नाटक की श्रेणी में न रखकर नाटकीय काव्य (ड्रामैटिक पोएट्री) की श्रेणी में रखना अधिक उपयुक्त होगा। इन नाटकीय काव्यों में सर्वप्रथम आगरा के कवि बनारसीदास जी का लिखा "समयसार" नाटक प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त प्राणचन्द्र का "रामायण" महानाटक और देवकवि का "देवमाया प्रपंच" नाटक भी उपलब्ध होता है। इसी समय हृदयराम जी द्वारा अनुवादित "हनुमन्नाटक" का अनुवाद भी मिलता है, जो पद्यमय भाषा में है। इन नाटकों के अतिरिक्त कुछ

---

१ "भारतीय नाट्य साहित्य" - "सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ" : सम्पा० डा० नगेन्द्र, पृ०२६०-२६१।

२ "हिन्दी साहित्य का इतिहास" : पं० रामचन्द्र शुक्ल, आठवां संस्करण, पृ०४५३।

३ "हिन्दी नाटक उद्भव और विकास" : डा० दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण, पृ०३६।

अन्य नाटक भी जैसे रघुराज नागर का 'सभासार', लछीराम का 'करुणाभरण', हरिराम जी का 'जानकी रामचरित', लक्ष्मण शरण 'मधुकर' का 'रामलीला बिहार', चतुर्वेदी गणेश कवि का 'रस चन्द्रोदय' आदि नाटक मिलता है जो नाटक न होकर छन्दोबद्ध ग्रन्थ हैं। परन्तु दशरथ ओझा ने उपरोक्त नाटकों को नाटकीय काव्य न मान कर नाटक माना है।[1]

डा० श्यामसुन्दरदास ने कुछ नाटकों को छोड़कर अन्य सभी नाटकों को नाटकीय काव्य माना है। "यों कहने को तो चाहे हिन्दी में नेवाज कविकृत 'शकुन्तला', हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक' और ब्रजवासीलाल कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि कई सौ वर्ष पहले के बने हुए कुछ नाटक वर्तमान हों, पर वास्तव में नाट्यकला की दृष्टि से वे नाटक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनमें नाटक के नियमों का पालन नहीं किया गया है और वे काव्य ही काव्य हैं। हां, 'प्रभावती' और 'आनन्द रघुनन्दन' आदि कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं, जो किसी प्रकार नाट्य की सीमा में आ सकते हैं"[2]। सोमनाथ गुप्त ने इन प्राचीन नाटकों को नाटक की श्रेणी में नहीं रखा है[3]। श्रीयुत जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने भी ब्रजभाषा में लिखे इन पद्यमय नाटकों को नाटक नहीं माना है। आपके शब्दों में --" कहने का तात्पर्य यह है कि इनका उल्लेख नाटकों की श्रेणी में नहीं होना चाहिए। जैसे कवि बनारसीदास का 'समयसार नाटक' प्राणचन्द चौहान का 'रामायण महानाटक', व्यास जी के शिष्य देवकृत 'देवमाया प्रपंच' अंतर्वेद निवासी ब्राह्मण नेवाज का 'शकुन्तला', रघुराम नागर का 'सभासार' कृष्ण जीवन लछीराम कृत 'करुणाभरण' लल्लू जी लाल के वंशधर हरिराम का 'जानकी रामचरित नाटक' बांधव नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन नाटक', बाबू गोपालचन्द्र का 'नहुष' इसी प्रकार की रचनाएं हैं[4]।"

---

१ हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : डा० दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण पृ० १०२

२ 'रूपक रहस्य' : डा० श्यामसुन्दरदास, पृ०३८

३ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' : सोमनाथ गुप्त, चतुर्थ संस्करण, पृ०७

४ 'हिन्दी गद्य के युग निर्माता' : जगन्नाथप्रसाद शर्मा, द्वितीय संस्करण पृ०१८-१९।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में प्राप्त होने वाले नाटक, नाटक की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते हैं। प्रश्न उठता है कि फिर किस नाटक को हिन्दी का प्रथम नाटक माना जाय ? विश्वनाथ मिश्र ने आचार्य केशवदास की रचना 'विज्ञान गीता' को हिन्दी नाटकों में प्रथम प्रयास माना है,जो संस्कृत की प्रतीकवादी नाटकों की रचना का अनुसरण है[1]। डा० सोमनाथ गुप्त ने कलात्मकता की दृष्टि से 'प्रबोध चन्द्रोदय' को प्रथम कलात्मक नाटक माना है। जो संस्कृत नाटक प्रबोध चन्द्रोदय का अनुवाद है,जिसे जोधपुर नरेश महाराज जसवन्त सिंह ने अनुवादित किया है। परन्तु हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक आपने रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह का लिखा 'आनंद-रघुनन्दन' नाटक माना है[2]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'आनन्द रघुनन्दन' को ही हिन्दी का प्रथम नाटक माना है,क्योंकि आपके अनुसार भारतेन्दु से पहले जो भी ब्रजभाषा के नाटक मिलते हैं,उनमें इस नाटक को छोड़कर किसी में भी नाटकत्व नहीं था[3]। डा० सोमनाथ गुप्त[4], बाबू गुलाबराय[5] तथा बच्चन सिंह[6] ने भी 'आनन्द रघुनन्दन' को ही हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना है। परन्तु देवर्षि सनाढ्य ने लक्ष्मण सिंह कृत 'कालिदास' के अनुवाद को हिन्दी का प्रथम नाटक माना है[7]।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गिरधरदास द्वारा रचित 'नहुष' नाटक को भी कुछ विद्वानों ने हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना है[8], जिनमें सेठ गोविन्ददास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

---

१ 'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव' : विश्वनाथ मिश्र,पृ०४४
२ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' : डा० सोमनाथ गुप्त,चतुर्थ संस्करण,पृ०४
३ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : रामचन्द्र शुक्ल,आठवां संस्करण,पृ०४५३
४ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' : डा० सोमनाथ गुप्त, चतुर्थ संस्करण,पृ०४
५ 'हिन्दी नाट्य विमर्श' : बाबू गुलाबराय,पृ० ७६
६ 'हिन्दी नाटक' : बच्चन सिंह,द्वितीय संस्करण,पृ०१६
७ 'हिन्दी के पौराणिक नाटक' : डा० देवर्षि सनाढ्य,प्रथम संस्करण,पृ०६८
८ 'नाट्य कला मीमांसा' : सेठ गोविन्ददास,पृ०५४

ने `नहुष` के साथ-साथ आनन्द रघुनन्दन को भी हिन्दी के प्रथम नाटक में गणना की है । आपके अनुसार " नहुष को भारतेन्दु जी ने हिन्दी का प्रथम नाटक माना है,जो ब्रजभाषा में है,परन्तु `आनन्द रघुनन्दन` जो कुछ अंश तक नाट्य कला के गुणों से समन्वित है,उसका उल्लेख नहीं किया है । `आनन्द रघुनन्दन` भी कई भाषाओं के मिश्रण से तैयार कियागया छन्द प्रधान नाटक है । इसमें अंक विभाजन संस्कृत प्रणाली के अनुरूप हुआ है । फिर भी यदि `नहुष` को हिन्दी का प्रथम नाटक मानने की बात उठेगी तो यह ग्रन्थ कभी भी पीछे छूटने योग्य नहीं है ।"[१]

यह बात विचारणीय है कि अनेक विद्वानों ने `आनन्द-रघुनन्दन` और `नहुष` को हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना है,परन्तु सभी ने यह स्वीकार किया है कि ये नाटक पूर्णत: नाटक न होकर नाटकीय काव्य अधिक हैं । यदि इन कृतियों को हिन्दी का प्रथम नाटक मान भी लिया जाय तो भी हिन्दी का प्रथम नाटककार भारतेन्दु जी को मानना ही युक्तिसंगत होगा, क्योंकि आपके समय ही नाटकों का वास्तविक प्रारम्भ हुआ और उन्हीं के समय से नाटक की यह परम्परा चल पड़ी । अत: जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का यह कथन कि " ऐसी स्थिति में हिन्दी का प्रथम नाटककार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को ही मानना चाहिए ।"[२] ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है ।

इस युग में जितने भी नाटक लिखे गए वे सब संस्कृत नाट्य प्रणाली के आधार पर लिखे गये । सभी नाटक मंगलाचरण से प्रारम्भ होकर भरतवाक्य पर समाप्त होते थे । संस्कृत परम्परा के अनुसार ही उनमें धार्मिक विचार की प्रधानता रहती था तथा कथानक भी अधिकतर पौराणिक होते थे । ये नाटक आदर्शवादी होते थे,फलत: इनमें असत्य पर सत्य की विजय अथवा पाप पर पुण्य की विजय दिखायी जाती थी और इसके लिए अनेक असम्भव तथा अति-मानवीय घटनाओं की अवतारणा की जाती थी । इसके अतिरिक्त नाटक को सुखान्त बनाने के लिए उनमें शाप अथवा आकाशवाणी आदि की व्यवस्था भी की जाती था ।

---

१ `आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका` : डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,प्रथम संस्करण,पृ०४६५-४६६ ।

२ `हिन्दी गद्य के युग निर्माता` :जगन्नाथप्रसाद शर्मा,द्वितीय संस्करण,पृ०२२।

रंगमंचीय नाटकों में साहित्यिक नाटकों की अपेक्षा अभिनय तत्व की प्रधानता रहती है । ये नाटक रंगमंच की उपयोगिता को ध्यान में रखकर लिखे जाते हैं । इस समय कुछ रंगमंचीय नाटकों की भी रचना हुई जिनमें `जानकी-मंगल` तथा सैयद आगा हसन अमानत का `इन्दर सभा` विशेष उल्लेखनीय है । यह शुद्ध हिन्दी का नाटक न होकर उर्दू का गीतिनाट्य है । `इन्दरसभा` नाटक रंगमंच का सफलतम नाटक है । इसकी सफलता से प्रभावित होकर मदारीलाल ने भी एक `इन्दरसभा` नामक नाटक लिखा । यह नाटक प्रथम नाटक की अपेक्षा श्रेष्ठ नाटक प्रमाणित हुआ । इसके पश्चात् `नाटक छैल बटाउ मोहना रानी का` आदि अनेक नाटक लिखे गये ।

इस युग में नाटकों के अनुवाद भी हुए । प्रथम तो संस्कृत नाटकों के ही अनुवाद हुए,परन्तु कालान्तर में बंगला तथा अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद भी होने लगे । इस युग के नाटकों की भाषा ब्रजभाषा थी तथा उनमें पद्य की अधिकता थी ।

भारतेन्दु-युग (१८६६-१६०४ई०)

यह युग हिन्दी नाटक के उज्ज्वल भविष्य के लिए नवीन जागरण का सन्देश लेकर आया । इस समय तक अंग्रेजों ने पूर्णरूप से भारत में अपने पांव जमा लिए थे । अंग्रेजों के आगमन से भारतीय आचार,विचार,संस्कृति और शिक्षा आदि के क्षेत्र में एक नवीन हलचल उत्पन्न हो गयी,परन्तु इससे यह लाभ हुआ कि भारतीय जनता रूढ़ियों को छोड़कर अंध कूप से बाहर आयी और अपने इर्द-गिर्द फैले पुरातन जाल को तोड़कर नवीनता को अपनाने लगी । फलत: उनका दृष्टिकोण विस्तृत हुआ और वे धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों की ओर उन्मुख हुए । यह सुधार साहित्यिक क्षेत्र में भी दृष्टिगत होता है । इस समय तक भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हो चुका था, जिसके कारण लोग अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में आये और ज्ञान-विज्ञान तथा अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करने लगे । कुछ अंग्रेजी पढ़े लोग भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को निकृष्ट समझ कर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के अन्ध भक्त बन गये । परिणामत: पाश्चात्य संस्कृति के प्रतिक्रिया स्वरूप लोगों का ध्यान भारतीय संस्कृति तथा साहित्य की

ओर आकृष्ट हुआ । अंग्रेजी के साथ-साथ संस्कृत साहित्य के अध्ययन में भी लोगों की रुचि बढ़ने लगी । फलत: नाटकों की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ । कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी संस्कृत नाटक साहित्य का अध्ययन किया और कुछ नाटकों का अनुवाद भी किया । उदाहरणार्थ विल्सन ने अंग्रेजी में 'शकुन्तला' नाटक का अनुवाद किया और पिन्काट ने इसी का हिन्दी अनुवाद किया । इस प्रकार शनै: शनै: लोगों की रुचि नाटक में बढ़ने लगी । अंग्रेजों ने सर्वप्रथम बंगाल में नाट्यशाला की स्थापना की जिसपर अंग्रेजी के नाटक अभिनीत होते थे । इनके प्रेरणास्वरूप कुछ कलाप्रेमी विद्वानों ने बंगला रंगमंच की स्थापना की जिसपर हिन्दी तथा बंगला के नाटकों का अभिनय प्रारम्भ हुआ । पाश्चात्य साहित्य के ज्ञान के फलस्वरूप हिन्दी नाटकों में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जो रूढ़ियों से मुक्त और स्वच्छन्द था । अब नाटक ने आदर्श का बाना छोड़कर यथार्थ का कलेवर ग्रहण कर लिया ।

ऐसे राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक उथल पुथल के बीच नाटक की डूबती हुई नौका के कर्णधार के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ । आपने नाटक साहित्य में पुन: नवीन प्राण का संचार किया । कुछ अंग्रेजी पढ़े लोग हिन्दी साहित्य की निन्दा और पाश्चात्य साहित्य की सराहना में आकाश-पाताल एक कर रहे थे और कुछ लोग पुरानी संस्कृत साहित्य की रूढ़ियों को छोड़ना ही नहीं चाहते थे । ऐसे समय भारतेन्दु जी ने भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य का समन्वय किया । आपने उस समय प्रचलित कुरुचिपूर्ण व्यवसायिक नाटकों,जो जनता के सस्ते मनोरंजन के लिए भद्दे तथा अश्लील ढंग से अभिनीत किये जाते थे, की प्रतिक्रिया स्वरूप साहित्यिक रंगमंच की स्थापना का प्रयत्न किया तथा नवीन नाटकों की रचना की । नाटकों के अतिरिक्त आपने प्रहसन,नाटिका,गीति-रूपक आदि लिखकर भी हिन्दी नाट्य साहित्य को समृद्ध बनाया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्य-पद्धतियों का समन्वय किया । आपके इस समन्वयवादी सिद्धान्त को इस युग के सभी नाटककारों ने अपनाया । फलत: इस युग के नाटकों में भारतीय नाट्य पद्धति के फलस्वरूप नांदी पाठ, भरतवाक्य

ओर आकृष्ट हुआ । अंग्रेजो के साथ-साथ संस्कृत साहित्य के अध्ययन में भी लोगों की रुचि बढ़ने लगी । फलत: नाटकों की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ । कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी संस्कृत नाटक साहित्य का अध्ययन किया और कुछ नाटकों का अनुवाद भी किया । उदाहरणार्थ विल्सन ने अंग्रेजी में 'शकुन्तला' नाटक का अनुवाद किया और पिन्काट ने इसी का हिन्दी अनुवाद किया । इस प्रकार शनै: शनै: लोगों की रुचि नाटक में बढ़ने लगी । अंग्रेजों ने सर्वप्रथम बंगाल में नाट्यशाला की स्थापना की जिसपर अंग्रेजी के नाटक अभिनीत होते थे । इनके प्रेरणास्वरूप कुछ कलाप्रेमी विद्वानों ने बंगला रंगमंच की स्थापना की जिसपर हिन्दी तथा बंगला के नाटकों का अभिनय प्रारम्भ हुआ । पाश्चात्य साहित्य के ज्ञान के फलस्वरूप हिन्दी नाटकों में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जो रूढ़ियों से मुक्त और स्वच्छन्द था । अब नाटक ने आदर्श का बाना छोड़कर यथार्थ का कलेवर ग्रहण कर लिया ।

ऐसे राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक उथल पुथल के बीच नाटक की डूबती हुई नौका के कर्णधार के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ । आपने नाटक साहित्य में पुन: नवीन प्राण का संचार किया । कुछ अंग्रेजी पढ़े लोग हिन्दी साहित्य की निन्दा और पाश्चात्य साहित्य की सराहना में आकाश-पाताल एक कर रहे थे और कुछ लोग पुरानी संस्कृत साहित्य की रूढ़ियों को छोड़ना ही नहीं चाहते थे । ऐसे समय भारतेन्दु जी ने भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य का समन्वय किया । आपने उस समय प्रचलित कुरुचिपूर्ण व्यवसायिक नाटकों, जो जनता के सस्ते मनोरंजन के लिए भद्दे तथा अश्लील ढंग से अभिनीत किये जाते थे, की प्रतिक्रिया स्वरूप साहित्यिक रंगमंच की स्थापना का प्रयत्न किया तथा नवीन नाटकों की रचना की । नाटकों के अतिरिक्त आपने प्रहसन, नाटिका, गीति-रूपक आदि लिखकर भी हिन्दी नाट्य साहित्य को समृद्ध बनाया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्य-पद्धतियों का समन्वय किया । आपके इस समन्वयवादी सिद्धान्त को इस युग के सभी नाटककारों ने अपनाया । फलत: इस युग के नाटकों में भारतीय नाट्य पद्धति के फलस्वरूप नांदी पाठ, भरतवाक्य

तथा प्रस्तावना आदि और पाश्चात्य पद्धति के प्रभावस्वरूप दृश्यों में गर्भांक का प्रयोग हुआ । इस समन्वय के कारण ही इस युग में भारतीय नाट्यशास्त्र का ममत्व करने छोड़कर पाश्चात्य मार्ग का अनुसरण किया गया । अब नाटकों के विषय पौराणिक के साथ-साथ ऐतिहासिक,सामाजिक तथा राष्ट्रीय अधिक होने लगे । गद्य के लिए खड़ी बोली तथा पद्य के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग किया जाने लगा । नाटक अब यथार्थ होने लगे अत: जीवन के प्रत्येक अंग से नाटक का विषय चुना जाने लगा । पात्रों के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तथा हास्य और व्यंग्य को भी नाटक में स्थान मिला । ये हास्य अथवा व्यंग्य व्यावसायिक कम्पनियों की तरह अश्लील तथा भोंडे न होकर शिष्ट तथा मार्मिक होते थे । व्यंग्य द्वारा समाज में प्रचलित अनेकानेक बुराइयों और रूढ़ियों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था । इस युग में राष्ट्र-प्रेम सम्बन्धी नाटकों पर विशेष बल दिया गया । इस युग के नाटकों में दैवी घटना, तथा अमानवीय घटनाओं के चित्रण का की प्रवृत्ति दिखाई देता है । पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप दु:खान्त नाटकों की रचना की जाने लगी ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रचित कुछ नाटक मौलिक हैं तथा कुछ अनुदित हैं। आपके मौलिक नाटकों में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'प्रेमयोगिनी' 'विषस्य विषमौषधम्', 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'अंधेर नगरी', 'नील देवी' 'सती प्रताप' तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक है । इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी का एक और नाटक 'प्रवास' भी है,जो अप्राप्य है[1]।

आपके नाटक 'सत्यहरिश्चन्द्र' को कुछ लोग अनुवाद मानते हैं और कुछ लोग मौलिक रचना मानते हैं । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे बंगला नाटक का अनुवाद माना है[2]। डा० सोमनाथ गुप्त ने इसे क्षेमीश्वर कृत 'चंडकौशिक' का रूपान्तर माना है[3]। जिसमें मौलिकता अधिक और अनुवाद कम है । बाबु ब्रजरत्नदास के अनुसार 'क्षेमीश्वर कृत 'चंड कौशिक' और रामचन्द्र कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र दोनों

---

१ 'भारतेन्दु का नाट्य साहित्य' : डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल,प्रथम संस्करण,पृ०२४

२ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास': रामचन्द्र शुक्ल,आठवां संस्करण,पृ०४६१

३ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' : डा०सोमनाथ गुप्त,चतुर्थ संस्करण,पृ०४२

नाटक एक ही आख्यायिका को लेकर निर्मित हुए हैं । यद्यपि भारतेन्दु जी का 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक दोनों में से किसी का पूरा अनुवाद नहीं है तथापि प्रथम का कुछ भाग इसमें अनूदित करके लिया गया है । इन सभी नाटकों का आधार एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान है और थोड़े से हेर-फेर से सभी नाटकों की रचना हुई है।[1] इस बात का समर्थन वीरेन्द्र शुक्ल[2] तथा श्रीकृष्णदास[3] ने भी किया है । परन्तु डा० दशरथ ओझा ने इसे भारतेन्दु जी का मौलिक नाटक माना है[4] ।

भारतेन्दु जी ने संस्कृत, प्राकृत, बंगला तथा अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद भी किया । जिसमें 'विद्यासुन्दर' बंगला के 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद है । 'पाखंड विडम्बन' , धनंजय, 'विजय', 'मुद्राराक्षस' तथा 'रत्नावली' संस्कृत नाटकों का अनुवाद है । ओझा जी ने रत्नावली की प्राप्त प्रति को संदिग्ध बताया है[5] । क्योंकि आपका अनुमान है कि प्राप्त प्रति किसी अन्य की रचना हो सकती है और भारतेन्दु जी द्वारा अनुवादित प्रति अप्राप्य हो सकती है । आपने शेक्सपियर के नाटक मर्चेण्ट आफ वेनिस का अनुवाद 'दुर्लभ बंधु' नाम से किया । आपके 'भारत जननी' नाटक को कुछ विद्वान् मौलिक रचना मानते हैं और कुछ का मत इसके विपरीत है । डा० सोमनाथ गुप्त ने इसे मौलिक रचना माना है[6] । जब कि ब्रजरत्नदास के अनुसार यह भारतेन्दु जी की मौलिक रचना नहीं है, वरन् उनके किसी मित्र द्वारा लिखा नाटक है, जिसका संशोधन भारतेन्दु जी

---

१ 'भारतेन्दु नाटकावली' : ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित, भूमिका, पृ०३८।

२ 'भारतेन्दु का नाट्य साहित्य' : डा० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ०२५

३ 'हमारी नाट्य परम्परा' : श्री कृष्णदास, प्रथम संस्करण, पृ०५०३

४ 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' : डा० दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण, पृ०२१२

५ वही, पृ०१६५

६ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' : डा० सोमनाथ गुप्त, चतुर्थ संस्करण, पृ०४५

ने किया है[1]। इस बात का समर्थन रामचन्द्र शुक्ल ने भी किया है[2]।

तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति को देखते हुए भारतेन्दु जी ने भारतीय सांस्कृतिक गौरव को उसके उज्ज्वल रूप में भारतीय जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव किया। अत: आपने उन्हीं नाटकों का अनुवाद किया, जिससे भारतीय संस्कृति का गौरवमय रूप सबके सम्मुख उपस्थित हो सके तथा भारतीय संस्कृति का गौरव और उसकी परम्परा अक्षुण्ण रह सके। साथ ही आपने जनता की रुचि का भी ध्यान रखा है।

भारतेन्दु युग के अन्य नाटककार

नाटक-लेखन के जिस मार्ग का प्रतिपादन भारतेन्दु जी ने किया, उसका अनुसरण उस समय के अन्य नाटककारों ने भी किया। इस युग के नाटककारों ने नाटक-रचना के लिए विभिन्न विषयों का चुनाव किया, जिससे नाटक में विविधता उत्पन्न हुई। अब नाटक के विषय पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा राजनीतिक होने लगे। राजनीतिक नाटकों का, जिसमें देश-प्रेम की भावना सर्वोपरि रहती थी, विशेष प्रचलन हुआ। पौराणिक नाटक भी पहले की तरह केवल आदर्श स्थापित करने के लिए नहीं लिखे गये, वरन् इनमें अभिनेयता तथा उद्देश्य का समावेश हुआ। रामचरित तथा कृष्ण चरित्र से संबंधित नाटक भी रामलीला अथवा कृष्णलीला की प्रचलित परम्परा से पृथक् रंगमंच की दृष्टि से लिखे जाने लगे। ऐतिहासिक नाटकों में भी उन्हीं ऐतिहासिक चरित्रों तथा घटनाओं को प्रमुखता दी गई, जिनमें भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल पक्ष आलोकित होता था। सामाजिक नाटकों में विविधता का समावेश हुआ। इनका कथानक प्रतिदिन के जीवन की घटनाओं से लिया जाने लगा। इस प्रकार इस युग में पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों तथा प्रहसन की रचना हुई। पौराणिक नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु जी के 'चन्द्रावली' नाटक से हुआ। इस युग के पौराणिक नाटकों में देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत 'सीताहरण', 'रुक्मिणी हरण', ज्वाला प्रसाद मिश्र कृत 'वेणी संहार', 'अभिज्ञान शाकुन्तल', बदरीनारायण

---

१ 'हिन्दी नाट्य साहित्य' : ब्रजरत्नदास, चतुर्थ संस्करण, पृ०८०-८१।

२ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : रामचन्द्र शुक्ल, आठवां संस्करण, पृ०४६१।

प्रेमघन कृत `प्रयाग रामागमन`, वामनाचार्य गिरि का `वारिदनाद वध-व्यायोग` अम्बिकादत्त व्यास का `वेणी संहार`,अयोध्या सिंह उपाध्याय कृत `प्रद्युम्न विजय` बलदेव प्रसाद मिश्र कृत `प्रभास मिलन`,`मीराबाई`, राधाचरण गोस्वामी कृत `सती चन्द्रावली`, बालकृष्ण भट्ट कृत `दमयन्ती स्वयम्बर`,`मृच्छकटिक`, कन्हैयालाल कृत `अंजना सुन्दरी` आदि प्रमुख नाटक हैं ।

इस समय अनेक ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई । ऐतिहासिक नाटकों का सूत्रपात भारतेन्दु जी ने अपने नाटक `नीलदेवी` से किया । इसके अतिरिक्त प्रतापनारायण मिश्र ने `हठी हमीर`,बाल कृष्णभट्ट ने `चन्द्रसेन` राधाचरण गोस्वामी में `अमर सिंह राठौर`,गंगा प्रसाद गुप्त ने `वीर जयमल` और राधाकृष्णदास ने `पद्मावती` आदि नाटक लिखकर ऐतिहासिक नाटकों की इस परम्परा को आगे बढ़ाया ।

इस युग में देश-प्रेम संबंधी नाटकों की भी रचना हुई । उस प्रकार के नाटकों में सर्वप्रथम भारतेन्दु जी के `भारत दुर्दशा`नाटक का नाम लिया जा सकता है । इसी परम्परा में बहुत से नाटक लिखे गये । जिनमें अम्बिका दत्त व्यास का `भारत सौभाग्य` , दुर्गादत्त का `वर्तमान दशा`,गोपाल-राम गहमरी का `देश दशा नाटक`, देवकी नन्दन त्रिपाठी का `भारत हरण`, और प्रतापनारायण मिश्र का `भारत दुर्दशा` आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं । इन नाटकों में राष्ट्रीय जागरण तथा देश प्रेम की प्रधानता है ।

इस युग में जिन सामाजिक नाटकों का प्रणयन हुआ वे किसी न किसी समस्या पर आधारित थे । इस समय नारी-समस्या, गोरक्षा समस्या, समाज में फैले आडम्बर तथा ढोंगियों की समस्याओं को नाटक का विषय बनाया गया । समस्या-नाटकों में सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने `प्रेम योगिनी` नाटक की रचना की । इसके पश्चात् पं० रुद्रदत्त शर्मा ने `पाखण्ड मूर्ति`,`आर्यमत मार्तण्ड` और `वर्ण व्यवस्था` आदि नाटक लिखा,जिसमें समाज में फैले धर्म के आडम्बर तथा ढोंगियों की बगुला नीति और उनकी मूर्खता का सुन्दर वर्णन किया गया है । इन नाटकों द्वारा उस समय समाज में फैले दूषित वातावरण को दूर करने का प्रयत्न किया गया । इसमें राधाचरण गोस्वामी द्वारा रचित

`तन मन धन गोसाईं जी को अर्पण` नाटक विशेष महत्वपूर्ण है । इसमें उस समय के गोस्वामियों की ओछी मनोवृत्ति तथा पाखण्ड की पोल खोली गई है ।

इस समय नारी समस्या प्रमुख समस्या बन गई थी । अत: नारी की हीनावस्था को भी नाटक का विषय बनाया गया । इन नाटकों में नारी के आदर्श तथा उसके दु:खी जीवन का चित्रण है । इस प्रकार के नाटकों में बाल विवाह,अनमेल विवाह, वेश्या वृत्ति आदि के कुपरिणामों को जनता के सम्मुख उपस्थित किया गया है ।

बाल विवाह तथा नारी-समस्या को विषय बनाकर जो नाटक लिखे गये,उनमें राधाकृष्ण दास का `दुखिनी बाला`, देवकीनन्दन त्रिपाठी का `बाल विवाह`,काशीनाथ खत्री का `विधवा विवाह` और `बाल विवाह संताप`, घनश्यामदास का `वृद्धावस्था विवाह नाटक` तथा प्रताप नारायण मिश्र का `कलि कौतुक रूपक` और बलदेव प्रसाद मिश्र का `नवीन तपस्विनी` आदि नाटक प्रमुख हैं । इन नाटकों के माध्यम से असहाय स्त्रियों की आर्त पुकार सब के कानों तक पहुंच गई ।

इसके अतिरिक्त प्रेम-समस्याओं पर निम्न नाटक लिखे गये-- श्रीनिवासदास कृत `तप्ता संवरण` और `रणधीर प्रेममोहिनी`,किशोरीलाल गोस्वामी विरचित `मयंक मंजरी`, गोपाल राम गहमरी का`विद्या विनोद`, शालिग्राम द्वारा लिखित `इश्क चमन`,ज्ञानानन्द कृत `प्रेम कुसुम`,जैनेन्द्रकिशोर द्वारा रचित `सोमसती`, शालिग्राम कृत `माधवानल काम-कन्दला` आदि ।

इस समय गोरक्षा की समस्या उग्र रूप धारण कर रही थी । अत: समस्या-नाटकों में इसे भी स्थान प्राप्त हुआ । अम्बिकादत्त व्यास ने भी इस विषय पर `गोसंकट` ,देवकीनन्दन त्रिपाठी ने `गोवध निषेध`तथा `प्रचण्ड गोरक्षा` और प्रतापनारायण मिश्र ने `गो संकट` आदि नाटक लिखे ।

इन समस्या-नाटकों के कथानक समाज से लिए जाते थे । अत: ये नाटक जीवन के अधिक निकट होते थे तथा इनमें जीवन का यथार्थ चित्रण संभव हो पाता था । ये नाटक प्राय: सुखान्त होते थे । दु:खान्त नाटकों में श्रीनिवासदास के `रणधीर प्रेम मोहिनी` का उल्लेख किया जा सकता है ।

इस युग में नाटकों को एक नवीन धारा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे प्रहसन कहते हैं। प्रारम्भिक नाटकों में दृश्य-परिवर्तन के अनन्तर कोई स्त्री पात्र अथवा पुरुष पात्र रंगमंच पर अपने हावभाव अथवा वार्तालाप द्वारा दर्शकों को हंसाने का प्रयत्न करता था। इससे एक लाभ तो यह होता था कि दृश्य परिवर्तित करने का समय मिल जाता था। दूसरे दर्शकों का मन जो किसी गम्भीर दृश्य को देखने से बोझिल हो जाता था, पुन: सामान्य स्थिति में आ जाता था। यह हास्य नाटक से सर्वथा पृथक् होता था। नाटक से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। कालान्तर में नाटक के किन्हीं पात्रों द्वारा ही हास्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाने लगा। यह हास्य नाटक से संबंधित होता था और नाटक का ही कोई पात्र हास्य अभिनेता के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। क्रमश: यह हास्य स्थूल से सूक्ष्म होता गया और इसमें व्यंग्य तथा वक्रोक्ति का सहारा लिया जाने लगा। शनै: शनै: इस हास्य ने प्रहसन के रूप में अपना अलग अस्तित्व बना लिया। ये प्रहसन शिष्ट हास्य उत्पन्न करते थे तथा इनमें सामाजिक और राजनैतिक बुराइयों पर करारा व्यंग्य मिलता था। इस युग के कुछ प्रमुख प्रहसन देवकी नन्दन त्रिपाठी कृत 'कलियुगी जनेऊ', 'वैध है टके को' तथा 'सैकड़ों में दस दस', बालकृष्ण भट्ट का 'जैसा काम वैसा परिणाम' प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि कौतुक रूपक', राधाचरण गोस्वामी जी के का 'बूढ़े' तन मन धन गोसाईं जी को अर्पण', 'भंग तरंग', किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट', देवदत्त शर्मा का 'अति अंधेर नगरी', राधाकान्त लाल का 'देसी कुत्ता विलायती बोल', तथा बलदेव प्रसाद मिश्र का 'लल्ला बाबू' आदि हैं।

मौलिक नाटकों के अतिरिक्त इस युग में अनुवादों का कार्य भी बड़े जोर शोर से हो रहा था। इस समय अधिकतर संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के अनुवाद हुए।

संस्कृत नाटकों में भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का अनुवाद १८७१ में देवदत्त तिवारी ने, १८८६ में नन्दलाल विश्वनाथ दुबे ने और १८९७ में लाला सीताराम ने किया। 'मालती माधव' का अनुवाद लाला शालिग्राम ने १८८१ में और सीताराम ने १८९८ में किया। 'महावीर चरित'

का अनुवाद लाला सीताराम ने १८६७ में किया । `शकुन्तला` का अनुवाद ज्वालाप्रसाद मिश्र ने १६०२ में और नन्दलाल विश्वनाथ दुबे ने १८८८ में किया । `मालविकाग्नि मित्र` का अनुवाद लाला सीताराम ने १८६८ में किया । `प्रबोध-चन्द्रोदय` का अनुवाद पं० शीतलाप्रसाद ने १८७६ में किया और अयोध्याप्रसाद चौधरी ने १८८५ में किया । `वेणी संहार` का अनुवाद अम्बिकाप्रसाद व्यास ने और ज्वालाप्रसाद मिश्र ने १८६७ में किया । `मृच्छकटिक` का अनुवाद दयालसिंह ठाकुर, दामोदर शास्त्री, बालकृष्ण भट्ट तथा गदाधर भट्ट ने १८८० में किया और लाला सीताराम ने १८६६ में किया । `रत्नावली` का अनुवाद देवदत्त तिवारी ने १८७२ में, रामेश्वर भट्ट ने १८६५ में और बालमुकुन्द गुप्त ने १८६८ में किया ।

बंगला अनुवादों में उदित नारायण ने मनमोहन बसु कृत `सती नाटक` का अनुवाद १८८० में किया । इसके अतिरिक्त `दीप निर्वाण` और `अश्रुमति` नाटक का भी अनुवाद किया । बाबू रामकृष्ण वर्मा ने राजकिशोर दे कृत `पद्मावती` का १८८६ में माइकेल मधुसूदन कृत `कृष्णा कुमारी` का १८६६ में और द्वारकानाथ गांगुली कृत `वीर नारी` का १८६६ में अनुवाद किया । केशवराम भट्ट ने `शरत् और सरोजिनी` का अनुवाद `सज्जाद संबुल` के नाम से किया । इसके अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण चक्रवर्ती कृत `नवाब सिराजुद्दौला` का अनुवाद प्रकाशित हुआ । ज्योतिन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक `सरोजिनी` के दो अनुवाद १८८१ और १६०२ में प्रकाशित हुआ । पं० ब्रजनाथ ने माइकेल मधुसूदन दत्त के प्रसिद्ध नाटक `एकी की बोले सभ्यता` का अनुवाद `क्या इसी को सभ्यता कहते हैं` के नाम से किया ।

इसके अतिरिक्त इस युग में अंग्रेजी नाटकों के भी अनुवाद हुए जिनमें शेक्सपियर के प्राय: सभी नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया गया । रत्नचन्द्र जी ने १८८७ में `कामेडी आव एरर` का अनुवाद `भ्रम जालक` के नाम से, गोपीनाथ पुरोहित ने १८६६ में `ऐज़ यू लाइक इट` का `मनभावन` के नाम से और १८६६ में रोमियो एण्ड जूलियट` का `प्रेम लीला` के नाम से अनुवाद किया। मथुराप्रसाद उपाध्याय ने १८६३ में `मैकबेथ` का `साहसेन्द्र साहस` के नाम से

अनुवाद किया और पं० बद्रीनारायण ने १६०३ में `किंगलियर` का अनुवाद किया । शेक्सपियर के मर्चेण्ट आफ वेनिस का अनुवाद बालेश्वर प्रसाद और दयाल सिंह ने भी किया । इसी का अनुवाद १८१८ में जबलपुर की आर्या नामक महिला ने `वेनिस नगर का व्यापारी` के नाम से किया । आगा हश्र कश्मीरी ने इसी नाटक का अनुवाद १६०० में `दिल फरोश` के नाम से किया। इसके अतिरिक्त एडिसन के `केटो` का अनुवाद तोताराम जी ने १८७६ में `केटो कृतान्त` के नाम से किया ।

इस युग तक पारसी रंगमंच का प्रचलन हो चुका था । इसे व्यावसायिक रंगमंच की संज्ञा दी गई,क्योंकि इनका उद्देश्य अभिनय द्वारा धनोपार्जन करना था, अत: इन लोगों ने जनता के मनोरंजन के लिए भोंडे अभिनय, अशिष्ट हास्य, अश्लील हाव भाव तथा चमत्कारी दृश्यों का सहारा लिया । इन कम्पनियों के लिए नाटककार रखे जाते थे जो इन रंगमंचों के के अनुरूप नाटकों की रचना करते थे । रंगमंच के लिए नाटक लिखने वाले नाटककारों में राधेश्याम कथावाचक ,आगा हश्र कश्मीरी ,नारायण प्रसाद `बेताब` , किशनचन्द्र `जेबा` श्रीकृष्ण हसरत आदि प्रमुख हैं । पारसी रंगमंच की दृष्टि से लिखे गये नाटकों में राधेश्याम कथावाचक का `ऊषा अनिरुद्ध`,`मशरिकी हूर`, आगा हश्र कश्मीरी का `दिल की प्यास` कृष्ण चन्द `जेबा` का `भारत दर्पण` या कौमी तलवारें नारायण प्रसाद `बेताब` का `गोरख-धंधा` तथा श्री कृष्ण `हसरत` का `सावित्री सत्यवान` आदि प्रमुख नाटक हैं ।

संधि युग (१६०५-१६१५ई०)

भारतेन्दु युग में नाटक जिस क्षिप्र गति से विकसित हुआ, उसकी गति इस युग में मन्द पड़ गई । इस युग में मौलिक नाटकों की रचना बहुत कम हुई । इसका कारण यह था कि हिन्दी नाटकों के पास कोई ऐसा रंगमंच नहीं था जो साहित्यिक नाटकों का रसास्वादन जनता को करा सके । व्यावसायिक रंगमंच जनता के हलके फुल्के मनोरंजन के लिए नाटक खेलते थे जिन्हें देखकर परिष्कृत रुचि वालों के मन में इन नाटकों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो गई थी ,अत: लोगों का ध्यान उपन्यासों की ओर आकृष्ट होने लगा । उपन्यासों की ओर

आकृष्ट होने लगा । उपन्यासों की ओर बढ़ती रुचि के कारण लोग नाटक की ओर से उदासीन हो गये अत: नाटक खेलने में नाटककारों की भी रुचि नहीं रही । इसके अतिरिक्त व्यवसायी नाटक कम्पनियाँ हिन्दी के साहित्यिक नाटक खेलने को प्रस्तुत नहीं थीं । अत: हिन्दी नाटक लिखने का उत्साह भी कम हो गया । यही कारण है कि इस युग में मौलिक नाटकों की रचना अल्प संख्या में हुई और जो नाटक लिखे भी गये थे उनमें कोई विशेष बात नहीं थी । इस युग के नाटकों की भाषा परिमार्जित हो गई तथा पद्य के लिए प्रयुक्त ब्रजभाषा का स्थान हिन्दी ने ले लिया । इस युग में भी नाटकों में उपदेशात्मकता बनी रही । इस युग में अधिकांशत: पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथानक के आधार पर नाटक लिखे गये । कुछ सामाजिक नाटकों की भी रचना हुई, जिनमें अन्तर्द्वन्द्व का समावेश हुआ । इस युग में प्रहसन और व्यंग्य नाटकों की रचना भी भारतेन्दु युग की अपेक्षा कम हुई । प्रहसन की रचना करने वालों में पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी और पं० बदरीनाथ भट्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

इस युग में दो प्रकार के नाटक उपलब्ध होते हैं-- मौलिक तथा अनुदित । मौलिक नाटक भी दो प्रकार के हैं-- एक तो साहित्यिक नाटक दूसरे पारसी रंगमंच के लिए जनता की रुचि को ध्यान में रखकर लिखे गये नाटक। इन नाटकों का विषय पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक होता था ।

पौराणिक नाटकों के अन्तर्गत रामचरित और कृष्णचरित के अतिरिक्त पौराणिक आख्यानों के आधार पर भी नाटकों का रचना हुई । इनमें ब्रजचन्द वल्लभ का `रामलीला` कुशीराम का `राजा हरिश्चन्द्र` जयशंकरप्रसाद का `करुणालय` ब्रजनन्दनसहाय का `उद्धव`, सुदर्शनाचार्य का `अनर्घ नल चरित्र` लक्ष्मीप्रसाद का `उर्वशी`, `शिवनन्दन मिश्र का `शकुन्तला` तथा बद्रीनाथ भट्ट का `कुरुवनदहन` आदि नाटक उल्लेखनीय हैं ।

भारतेन्दुकालीन ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिकता के स्थान पर कल्पना की अधिकता होती थी, परन्तु इस युग के ऐतिहासिक नाटकों में पूर्णरूप से तो नहीं, परन्तु कुछ अंशों में ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा का

प्रयत्न किया गया है। इसके लिए कल्पना प्रसूत पात्रों तथा घटनाओं के स्थान पर ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं को प्रस्तुत किया गया। इस समय के कुछ प्रमुख ऐतिहासिक नाटक बदरीनाथ भट्ट द्वारा लिखित ऽविश्इ०ऽडडक्डडऽ 'तुलसीदास', शुकदेव नारायण सिंह विरचित 'वीर सरदार' और कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' आदि हैं।

सामाजिक नाटकों के अन्तर्गत सामाजिक तथा राजनैतिक घटनाओं को स्थान मिला। पहले राष्ट्रीय समस्या और सामाजिक समस्या को भिन्न-भिन्न माना जाता था तथा उन पर पृथक-पृथक नाटकों की रचना होती थी। अब दोनों विषय इतने एकाकार हो गये हैं कि उनमें अन्तर करना कठिन हो गया है। इस समय के कुछ समस्या-नाटक हैं-- भगवतीप्रसाद कृत 'वृद्ध विवाह नाटक', रुद्रदत्त शर्मा कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह', जीवानन्द शर्मा कृत 'भारत विजय', राधामोहन गोस्वामी कृत 'भारत रहस्य', लोचनप्रसाद शर्मा कृत 'प्रेम प्रशंसा', 'साहित्य सेवा', 'क्षात्र दुर्दशा' और 'ग्राम्य विवाह विज्ञापन', कृष्णानन्द जोशी कृत 'उन्नति कहां से होगी ?' और मिश्रबन्धु कृत 'नेत्रोन्मीलन', कुंजीलाल जैन कृत 'वीरेन्द्रवर अर्थात् सत्य' आदि। इसके अतिरिक्त परमेश्वर मिश्र का 'रूपवती', हरिनारायण चतुर्वेदी कृत 'कामिनी कुसुम', हरिहरप्रसादजिंजल कृत 'कामिनी मदन' और कन्हैयालाल कृत 'रत्न सरोज' नाटक की भी उल्लेखनीय हैं।

इस युग में अनुवाद के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई। इनमें बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत के नाटकों का अनुवाद हुआ। संस्कृत नाटकों में सत्यनारायण कविरत्न के द्वारा किया गया भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का अनुवाद तथा लाला सीताराम द्वारा किया गया 'मृच्छकटिक', 'नागानन्द', 'महावीर चरित', 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव' और मालविकाग्नि मित्र' का अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है।

अंग्रेजी अनुवादों में शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद कई नाटककारों ने किया। श्री गोपीनाथ पुरोहित ने 'एज यू लाइक इट' का, बद्रीनारायण ने 'किंग लियर' का और गणपति कृष्ण ने 'हेमलेट' का

अनुवाद किया । लाला सीताराम ने १६२२ई० में 'रोमियो एण्ड जूलियट' का रूपान्तर तथा १६२३ई० में 'मेजर फार मेजर' का अनुवाद किया । इनके अतिरिक्त श्री गोविन्दप्रसाद घिल्डियाल और रूपनारायण पाण्डेय ने भी अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद किये, परन्तु लाला सीताराम द्वारा किये गये अनुवाद ही अधिक लोकप्रिय हुए । आपने 'मच एडो एबाउट नथिंग' का 'मनमोहन का जाल' नाम से ;कामेडी आव एरर्स' का 'भूल भुलैया' नाम से, 'किंग लियर' का 'राजा लियर' नाम से, 'जुलियस सीज़र' का 'प्रेमकी बदल रात' नाम से, 'ऐज़ यू लाइक इट' का 'अपनी अपनी रुचि' नाम से 'दी वेण्टर्स टेल' का 'सती परीक्षा' नाम से और 'अथेलो' का 'झूठा संदेह' नाम से अनुवाद किया । इसके अतिरिक्त आपने 'मैकबेथ' और 'हैमलेट' का रूपान्तर भी किया । शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद श्री० आगा हश्र कश्मीरी ने भी किया । आपने 'मेज़र फार मेज़र' का 'शहीदे नाज़' , 'रिचर्ड थर्ड' का 'सैदे हवीस' तथा 'किंग लियर' का 'सफेद खून' नाम से अनुवाद किया ।

बंगला अनुवाद में गोपालराम गहमरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है । आपने 'बनवीर' 'बभ्रुवाहन', 'देश दशा', 'विद्या विनोद' आदि बंगला नाटकोंका अनुवाद किया । आपने रविबाबू के चित्रांगदा का भी अनुवाद किया ।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि भारतेन्दु के पश्चात् नाटक-लेखन क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई ।

प्रसाद-युग (१६१६-१६३३ई०)

" भारतेन्दु जी तथा उनके मण्डल के अस्त होने पर हिन्दी साहित्य प्रेमियों ने नाटक की ओर अपनी कृपा दृष्टि एकदम कुछ दिन के लिए बन्द कर दी ।"[1] इस समय नाटकों में जो जड़ता आ गई उसे दूर करने के लिए

---

१ 'हिन्दी नाट्य साहित्य' : ब्रजरत्नदास, चतुर्थ संस्करण, पृ०१४६

किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो नाटक के क्षेत्र में पुन: नवीन जीवन का संचार कर सके । ऐसे ही समय प्रसाद जी नाटक-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए । उन्होंने नाटकों को नवीन कलापूर्ण रूप प्रदान किया । भारतेन्दु के बाद मरणासन्न नाटक साहित्य में प्रसाद जी ने पुन: प्राण प्रतिष्ठा की और उसे स्वस्थ तथा सबल बनाया ।

प्रसाद जी के नाटकों में सर्वत्र भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल रूप दृष्टिगोचर होता है । आपने अपने नाटकों के विषय भारतीय इतिहास के गौरवशाली युग से चुना । आपके नाटकों में ऐतिहासिकता तथा देशप्रेम की प्रधानता रहती है । आपने नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया । आपके नाटकों की नारी आदर्शमयी, प्रेममयी तथा भावुक और विशाल हृदय होती है ।

'चन्द्रगुप्त' की मालविका त्याग की देवी है । चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा के लिए वह अपने प्राणों की आहुति दे देती है । 'विशाख' की चित्रलेखा सन्तोष और प्रेम की मूर्ति है । वह अपने छोटे से सुख को ही महान सुख मानती है । 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना स्कन्द की महत्वाकांक्षा तथा देश-हित के लिए स्कन्द के प्रति अपने प्रणय का इस जन्म के आराध्य और उस जन्म के प्राप्य कह कर एक बलिदान कर देती है । 'अजातशत्रु' की मल्लिका क्षमा तथा परोपकार की जीवन्तमूर्ति है । वह अपने पति की हत्या का षडयन्त्र करने वाले कौशल नरेश प्रसेनजित को क्षमा ही नहीं करती वरन् युद्ध में घायल होने पर उनकी सेवा भी करती है । इस प्रकार नारी की महत्ता दिग्दर्शित करके आपने उसे समाज में उच्च स्थान प्रदान किया ।

प्रसाद के नाटकों पर बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है । सत्य, अहिंसा, सदाचार, सामाजिक एकता आदि का चित्रण बौद्ध धर्म का प्रभाव है । आपके नाटकों में प्राप्त विश्वबन्धुत्व तथा विश्व में मैत्री की भावना इसी प्रभावस्वरूप चित्रित की गई है । बौद्ध धर्म के प्रभाव स्वरूप जाति बन्धनों की जटिलता, भेदभाव, अंधविश्वास आदि

का अन्त करने की प्रबल कामना व्यक्त की गई है। राजनीतिक एकता का आग्रह भी इस प्रभाव का द्योतक है। चाणक्य कहता है कि यवन आक्रमण-कारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे। एक अन्य स्थान पर नाटककार सिंहरण द्वारा कहलाता है कि मालव और मगध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह (आत्मसम्मान) मिलेगा। एक अन्य स्थान पर सिंहरण कहता है कि मेरा देश मालव ही नहीं गांधार भी है--समस्त आर्यावर्त है। 'स्कन्दगुप्त' में राष्ट्रीय एकता के लिए बंधुवर्मा अपना मालव राज्य प्रसन्नतापूर्वक स्कन्दगुप्त को सौंप देता है। एक अन्य स्थान पर स्कन्दगुप्त कहता है कि मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। गुप्त साम्राज्य हरा भरा रहे और कोई इसका उपयुक्त रक्षक हो। विश्व प्रेम की भावना भी बौद्ध धर्म का प्रभाव है। 'अजातशत्रु' में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद के नाटकों पर बौद्ध धर्म का यथेष्ट प्रभाव है।

इसके अतिरिक्त प्रसादजी के ने भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य शैलियों का समन्वय किया। उन्होंने भारतीय नाट्यशास्त्र से रस तथा पाश्चात्य नाट्य साहित्य से संघर्ष एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण को ग्रहण किया। इस प्रकार आपने 'भारतीय रस विधान और पाश्चात्य शील वैचित्र्य के समन्वय का पथ अपनाया।[1]' आपने भारतीय नाट्यशास्त्र में वर्जित दृश्यों जैसे युद्ध, हत्या आदि का भी रंगमंच पर समावेश किया।

प्रसाद जी ने 'सज्जन', 'कल्याणी परिणय', 'एक घूंट' 'प्रायश्चित', 'करुणालय', 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'कामना', 'चन्द्रगुप्त' 'जनमेजय का नाग यज्ञ', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना की। 'प्रायश्चित' एकांकी नाटक है, जिसमें एक ही घटना है और आकाशवाणी का प्रयोग कथानक को आगे बढ़ाने के लिए किया गया है। इसमें पद्य अंश नहीं है, परन्तु स्वगत कथन की बहुलता है। 'एक घूंट' प्रतीकात्मक एकांकी है। 'कामना'

---

१ 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' : डा० दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण, पृ० ३००-३०१।

भी प्रतीकात्मक एकांकी है। इसमें दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया गया है तथा मानवीय मनोवृत्तियों को पात्र का रूप दिया गया है। यथा--कामना, विलास, सन्तोष आदि वृत्तियों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में पाश्चात्य सभ्यता को अपनाने से उत्पन्न दुःखों तथा कष्टों का वर्णन किया गया है। इस नाटक के माध्यम से प्रसाद जी ने पाश्चात्य संस्कृति पर भारतीय संस्कृति की विजय दिखाई है। 'करुणालय' गीतिनाट्य है। इसकी रचना अतुकान्त छन्दों में की गई है। इन एकांकियों में संस्कृत नाट्य शास्त्र का प्रभाव स्पष्टरूप से दिखाई देता है। 'राज्यश्री' आपका ऐतिहासिक नाटक है। इसकी सभी घटनाएं ऐतिहासिक हैं। इसमें राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन दोनों के शासन काल का वर्णन मिलता है। 'विशाख' की कथा 'राजतरंगिणी' से ली गई है। इसमें सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया गया है। 'अजातशत्रु' भी ऐतिहासिक नाटक है। इसमें मगध, काशी, कौशल और कौशाम्बी चारों राज्यों की कथा ली गई है और उनकी आन्तरिक दशा का वर्णन किया गया है। चारों कथाएं आपस में सम्बद्ध हैं। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' का कथानक महाभारत से लिया गया है। इसके द्वारा जाति भेद के संघर्ष का निवारण करने का प्रयत्न किया गया है। 'स्कन्दगुप्त' भी ऐतिहासिक नाटक है। इसमें भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों नाट्य शैलियों का समन्वय किया गया है। युद्ध का वर्णन तथा स्कन्दगुप्त का कुंभा की लहरों में बह जाना पाश्चात्य प्रभाव है, परन्तु भारतीय नाट्य शैली के अनुरूप इसे सुखान्त बनाने के लिए स्कन्दगुप्त को कुंभा की लहरों से बचाकर पुनः युद्ध में विजयी दिखाना भारतीय प्रभाव है। 'चन्द्रगुप्त' भी ऐतिहासिक नाटक है। इसमें राष्ट्र को संगठित करके सुरक्षित करने के प्रयत्नों का वर्णन मिलता है। इसमें भी भारतीय तथा पाश्चात्य शैली का समन्वय किया गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में गुप्त वंश की कहानी ली गई है।

प्रसाद जी समन्वयवादी नाटककार हैं, अतः उन्होंने अपने नाटकों में भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार सुखान्त और पाश्चात्य

प्रभाव के अनुकूल दु:खान्त दोनों प्रकार के नाटकों का समन्वय किया, फलत: उनके नाटक प्रसादान्त हो गये। जिनमें सुख की अनुभूति के पीछे दु:ख की भी एक टीस अवश्य रहती है, जैसे 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चन्द्रगुप्त की विजय नाटक को सुखान्त तो बनाती है, परन्तु मालविका का मौन बलिदान मन में एक कसक उत्पन्न कर देता है, जिसका प्रभाव नाटक समाप्ति के बहुत बाद तक मन को सालता है। 'स्कन्दगुप्त' में भी स्कन्द का कुंभा की लहरों से बच कर पुन: युद्ध करना और विजयी होना मन को सुख देता है, परन्तु स्कन्द का आजीवन कौमार व्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा देख कर मन वेदना से अभिभूत हो जाता है। इसी प्रकार 'अजातशत्रु' का अन्त भी सुखान्त है, परन्तु बिम्बसार की मृत्यु से मन में अवसाद भर जाता है। 'राज्यश्री' का अन्त भी सुखान्त है परन्तु वर्धन वंश का नाश और अन्त में हर्षवर्धन तथा राज्यश्री का संसार त्यागी होना मन को बोझिल कर जाता है। प्रसाद के अतिरिक्त इस युग के प्रमुख नाटककारों में गोविन्दवल्लभ पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, मैथिलीशरण गुप्त, हरिदास माणिक, बदरीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी आदि प्रमुख हैं।

इस युग में भी पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक नाटक तथा प्रहसन आदि लिखे गये, परन्तु पौराणिक नाटकों की रचना अपेक्षाकृत कम हुई और ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटकों का विशेष प्रचलन हुआ। पौराणिक नाटकों में वियोगी हरि का 'छद्मयोगिनी', गोविन्दवल्लभ पंत का 'वरमाला', बद्रीनाथ भट्ट का 'वेन चरित', सुदर्शन का 'अंजना', राधेश्याम कथावाचक का 'कृष्णावतार', 'द्रौपदी स्वयम्वर', 'रुक्मिणी मंगल', 'भक्त-प्रह्लाद', 'मोरध्वज', मैथिलीशरण गुप्त का 'तिलोत्तमा' तथा विश्वम्भरनाथ कौशिक का 'भीष्म' आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास के समान समस्त घटनायें प्रमाणित नहीं हैं, वरन् उनमें कल्पना का पर्याप्त पुट मिलता है। फिर भी इस युग के नाटकों में ऐतिहासिकता की रक्षा का प्रयत्न किया गया है। इस युग के ऐतिहासिक नाटकों में प्रसादजी के नाटकों के अतिरिक्त बेचन शर्मा उग्र

का 'महात्मा ईसा', उदयशंकर भट्ट का 'विक्रमादित्य', 'दाहर अथवा सिंध पतन' लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'अशोक', बद्रीनाथ भट्ट का 'दुर्गावती' श्री सुदर्शन का 'दयानन्द', जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का 'प्रताप प्रतिज्ञा', हरिदास माणिक का 'प्रताप या युधिष्ठिर', जमनादास मेहरा का 'पंजाब केसरी', प्रेमचन्द का 'कर्बला' तथा गोविन्ददास का 'हर्ष' आदि नाटक प्रमुख नाटक माने जाते हैं।

इस युग के सामाजिक नाटकों में समस्याओं का प्राधान्य हो गया। ये समस्या-नाटक भारतेन्दु युग के नाटकों की अपेक्षा अधिक बुद्धिवादी तथा तर्कसंगत है। इनमें समाज के सूक्ष्म तथा स्थूल समस्याओं को नाटक का विषय बनाया ह गया है। इन नाटकों में प्रमुख नाटक लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', जमनादास मेहरा का 'जवानी की भूल', 'कन्या विक्रय', 'पाप-परिणाम', 'हिन्दू कन्या' आदि हैं।

प्रहसन के अन्तर्गत जी०पी० श्रीवास्तवा का 'दुमदार आदमी', 'उलट फेर' तथा 'मरदानी औरत', गोविन्द वल्लभ पंत का 'कंजूस की खोपड़ी', बेचन शर्मा उग्र का 'चार बेचारे' और सुदर्शन कृत 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि नाटकों की विशेषरूप से गणना की जाती है।

अनुवादों के क्षेत्र में संस्कृत, अंग्रेजी तथा बंगला के अनुवाद हुए। संस्कृत अनुवादों में सत्यनारायण ने भवभूति कृत 'मालती माधव', विजयानन्द त्रिपाठी ने 'कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' का और मैथिलीशरण गुप्त ने भास कृत 'स्वप्न वासवदत्ता' का अनुवाद किया।

अंग्रेजी में शेक्सपियर के अनेक नाटकों का अनुवाद हुआ। जान गाल्सवर्दी के 'स्ट्राइक', 'जस्टिस', और 'सिल्वर बाक्स' का क्रमशः 'हड़ताल', 'न्याय' और 'चांदी की डिबिया' के नाम से अनुवाद हुआ। लक्ष्मणस्वरूप ने मोलियर के 'ली बर्जिस गतील हामें' का अनुवाद 'बनिया चला नवाब की चाल' नाम से किया। इसके अतिरिक्त ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव ने कुछ यूरोपीय नाटकों का अनुवाद किया, जिसमें 'ली मैरेज फोर्स' का 'नाक में दम' नाम से 'आर्ज डैनडीन आर द बेफुल्ड हसबैण्ड' का 'जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ मियां की जूती मियां के सिर' नाम से 'ली बर्जिस गतील हामें' का 'चढ़ा गुड़ ढेर' नाम से 'ली मैडिशिन मलग्रेलुइ' का 'मार मार

कर इकोमे`, `ला मेडिशिन वलेण्ट` का `हवाई डाक्टर` नाम से `ला फारवेरोब द स्केपिन` का `चाल बेढब` के नाम से `दी वलण्डरर` का `लाल बुझक्कड़` के नाम से और `ल अमर मेडिशिन` का आंखों में धूल नाम से अनुवाद किया । इसके अतिरिक्त पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने १९१६ में मेटरलिंक के `सिस्टर बियाट्रिस` तथा `द यूसलेस डिलिवरीस` का भावानुवाद किया । अंग्रेजी में जान मैंसफील्ड, जान गाल्सवर्दी के तथा फ्रेंच नाटककार मोलियर और जर्मन नाटककार शिलर लेसिंग तथा गेटे के नाटकों का अनुवाद अधिक हुआ ।

बंगला में रवीन्द्रनाथ टैगोर के `विसर्जन` का अनुवाद श्री मुरारीदास अग्रवाल ने १९२५ई० में `डाकघर` का अनुवाद रामचन्द्र प्रभासचन्द्र नांदी ने १९१७ई० में, `अचलायतन` का प्रो० रूपनारायण पाडे ने १९२५ई० में, `लाल कनेर` का पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तथा `नटी की पूजा` का भगवती प्रसाद चन्दोला ने किया । इसके अतिरिक्त द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्र बाबू तथा गिरीशचन्द्र के कई नाटकों का अनुवाद हुआ ।

इसके अतिरिक्त इस युग में प्रतीक नाटक भावनाटक और गीति नाटकों की भी रचना हुई । प्रतीक नाटकों में प्रसादजी का `कामना` तथा सुमित्रानन्दन पन्त का `ज्योत्स्ना` नाटक विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं । गीतिनाट्य में प्रसाद जी का `करुणालय` और भावनाट्य में रामकुमार वर्मा का `बादल की मृत्यु` उल्लेखनीय है ।

इस युग में नाटकों ने विशेष उन्नति की । नाटकों के विषय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से लिए जाने लगे, अत: नाटकों का विषय विस्तार हुआ । पात्र भी राजपरिवार के आदर्श पुरुष न होकर जीवन के हर वर्ग के मानवीय दुर्बलताओं से युक्त पुरुष होने लगे । मंगलाचरण, नान्दी, प्रस्तावना आदि का बहिष्कार हो गया तथा संवाद सजीव और नाटकोचित होने लगे । दैवी घटना और आकाशवाणी का प्रचलन भी समाप्त हो गया । नाटक सुखान्त और दु:खान्त दोनों प्रकार के होने लगे और नाटकों में वर्जित दृश्य जैसे युद्ध और मृत्यु आदि का चित्रण होने लगा ।

इससे ज्ञात होता है कि प्रसाद युग में नाटकों की पर्याप्त प्रगति हुई तथा उनमें नवीनता का समावेश हुआ । नाटक जीवन के अधिक निकट आ गये,फलत: उनमें समाज और व्यक्ति का वास्तविक रूप दृष्टिगत होने लगा । इस प्रकार प्रसाद युग कोनाटक का स्वर्ण युग कहा जा सकता है ।

आधुनिक युग (१९३४ -)

आधुनिक युग में नाटकों की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है । नाटकों की अनेक नवीन विधाओं का प्रचलन तथा नाटक की संख्या में वृद्धि और उसकी ओर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई रुचि इसका प्रमाण है । इस युग के नाटकों में प्राचीनता की अपेक्षा नवीनता को अधिक महत्व दिया जा रहा है,फलत: प्राचीन नाट्य पद्धति को तिलांजलि देकर आधुनिकता को अपनाया जा रहा है । 'आधुनिक नाटककार अतीत के स्वर्ण के मोह में न पड़कर वर्तमान के लोहे को अधिक मूल्यवान समझने लगा है,क्योंकि स्वर्ण मूल्यवान होता हुआ भी लोहे के बराबर उपयोगी नहीं है[१]।'

इस युग के नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्टरूप से दिखायी देता है । पाश्चात्य प्रभाव के कारण नाटकों में बुद्धिवाद,मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा संघर्ष का समावेश हुआ । बुद्धिवाद का प्रभाव सर्वप्रथम लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटकों में देखने को मिलता है । इस युग में पौराणिक नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक और सामाजिक समस्या नाटकों की रचना अधिक हुई । इन समस्या नाटकों में अनेक सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं का समावेश हुआ, परन्तु नारी समस्या की ही प्रधानता रही । इस युग के सामाजिक नाटकों में भी वे ही समस्यायें प्रमुख हैं जो प्रसाद-युग में थीं,परन्तु अब उन समस्याओं को बुद्धिवादी दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयत्न किया जाने लगा है । इस विषय में गुलाबराय का कहना है कि --' जहां हम प्रसाद जी के नाटकों में

---

१ 'हिन्दी नाट्य विमर्श' : बाबू गुलाबराय,पृ०१०१ ।

शाश्वत समस्याओं के अतीत के क्षेत्र में दर्शन करते हैं, वहां नवीन नाटकों में शाश्वत के वर्तमान स्वरूप को आधुनिक समाज के स्वाभाविक वातावरण में देखते हैं ।[१]

समस्या-नाटकों में समाज में प्रचलित अनेक समस्याओं का समावेश हुआ । समस्या-नाटकों में लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं । आपके नाटक `सिन्दूर की होली` में वैधव्य की समस्या उठाई गई है तथा रिश्वत के कुपरिणामों को चित्रित किया गया है । इसके अतिरिक्त इस नाटक में विधवा विवाह और नारी -आन्दोलन की समस्या भी उठाई गई है । आपके `राजयोग` में पर पुरुष सम्बन्ध की समस्या का चित्रण मिलता है । आपके एक अन्य नाटक `सन्यासी` में राष्ट्रीय समस्या, काम समस्या तथा सहशिक्षा से उत्पन्न समस्याओं का उल्लेख किया गया है । मुरलीधर राष्ट्र-सेवा के लिए आजीवन अविवाहित रहते हुए भी किरण कुमारी का कौमार्य भंग करते हैं । सहशिक्षा के कारण विश्वकांत और मालती में प्रेम सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और इस प्रेम में असफल होने के कारण विश्वकान्त सन्यासी बन जाता है । मिश्र जी के नाटक `राक्षस का मन्दिर` में वेश्या सुधार के नाम पर हो रहे वेश्यागमन की पोल खोलने का प्रयत्न किया गया है और `मुक्ति का रहस्य` में भ्रष्टाचार, चुंगी की धांधली, तथा चेयरमैन के नैतिक पतन पर प्रकाश डाला गया है । मिश्र जी के `आधीरात` में पाश्चात्य आदर्श पर भारतीय आदर्श को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है । इसमें एक ऐसी नारी का चित्रण है जो भारतीय आदर्श को पूर्णतः त्याग चुकी और भारत में पाश्चात्य आदर्श की प्रतिष्ठा करना चाहती है,परन्तु सदा दु:खी रहती है और अन्त में भारतीय आदर्श को अपनाती है । वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक `बांस की फांस` में एक शिक्षित युवक भिखारिन की लड़की से विवाह करने का साहस करता है जो समाज के मुंह पर एक तमाचा है । आपके नाटक `खिलौने की खोज` में गांव में होने वाले प्रतिदिन के झगड़े तथा भूत प्रेत

---

१ `हिन्दी नाट्य विमर्श` : बाबू गुलाबराय,पृ०१०१

में विश्वास की समस्या उपस्थित की गई है । उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटक `स्वर्ग की झलक` में आधुनिक शिक्षा पर व्यंग्य किया गया है । श्रीमती अशोक दो रोटियां नहीं पका सकतीं,परन्तु उनका कंसर्ट में जाना आवश्यक है । श्रीमती राजेन्द्र बीमार बच्चे की देख भाल की अपेक्षा नृत्य को अधिक आवश्यक समझती है,फलत: बीमार बच्चे को पति की गोद में डाल कर नृत्य करने चली जाती है । आपके नाटक `कैद और उड़ान` में समाज के बन्धनों में जकड़ी मध्यवर्गीय नारी का चित्रण किया गया है ।`कैद` में अप्पी दिलीप से प्यार करती है,परन्तु उसे प्राणनाथ से विवाह करना पड़ता है । `उड़ान` नाटक में यह प्रश्न उठाया गया है कि नारी पूज्य है, सम्पत्ति है अथवा वासना तृप्ति का साधन ? लेखक ने इस नाटक द्वारा बताया है कि नारी का यह तीनों ही रूप दूषित है । नारी वास्तविक अर्थों में जीवनसंगिनी है । आपके `छटा बेटा` नाटक में बताया गया है कि अयोग्य पुत्रों के कारण वृद्धावस्था में कितने कष्ट सहन करने पड़ते हैं । इसी प्रकार गोविन्द वल्लभ पन्त के नाटक `अंगूर की बेटी` में मद्यपान की समस्या उठाई गई है और सेठ गोविन्ददास के नाटक `कुलीनता` में वर्ग भेद की समस्या का प्रतिपादन किया गया है तथा आपके नाटक `दु:ख क्यों` में नेताओं की स्वार्थसाधना को नाटक का विषय बनाया गया है ।

इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय समस्याओं को भी नाटक का विषय बनाया गया है । इनमें हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा सामन्तवादी वातावरण का चित्रण मिलता है । सेठ गोविन्ददास के `सेवापथ`,`प्रकाश`, `विकास` तथा पृथ्वीनाथ शर्मा के `अपराधी` आदि नाटकों में राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है । इस युग के कुछ अन्य समस्या नाटक कमलाकान्त का `प्रवासी` ,लक्ष्मीनारायण मिश्र का `राजयोग`, बेचन शर्मा उग्र का `डिक्टेटर`,`चुम्बन`, वृन्दावनलाल वर्मा का `धीरे धीरे` सेठ गोविन्ददास का `दु:ख क्यों` ,`बड़ा पापी कौन` , महत्व किसे`, हरिकृष्ण प्रेमी का `बंधन` आदि हैं ।

आधुनिक युग के ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ सांस्कृतिक चेतना का भी सर्वत्र ध्यान रखा गया है । हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक `रक्षा बन्धन` में हुमायूं जातिभेद तथा धर्म भेद न मानने वाला मानवता के गुणों से युक्त वीर पुरुष है । रानी कर्मवती की राखी पाकर वह हिन्दू मुस्लिम भेद-भाव भूल कर स्वयं को संकट में डाल कर भी उनकी रक्षा हेतु आता है । आपके ही दूसरे नाटक `शिवासाधना` में शिवाजी आदर्श पुरुष हैं । अत्यन्त सुन्दरी गौहरबानू को देखकर भी उनका संयम अटूट रहता है । वह उसे अपनी मां के रूप मे देखते हैं और कहते हैं कि उसके रूप से उन्हें आसक्ति नहीं वरन् एक दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ है जो अत्यन्त पवित्र है । आपके `आहुति` नाटक में मीर महिमा भारतीय आदर्श का ज्वलन्त उदाहरण है । वह स्त्रियों के सम्मान की रक्षा के लिए अपने प्राण संकट में डाल देता है और हम्मीर शरणागत मीर महिमा की रक्षा में अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है । उदयशंकर भट्ट के `दाहर अथवा सिंधपतन` में राजा दाहर की दोनों कन्यायें सूर्य तथा परमाल आदर्श नारी हैं । वे अरबों द्वारा अपना अपमान होने से पूर्व एक-दूसरे को मार कर मर जाती हैं ।

इस युग के ऐतिहासिक नाटकों में अधिकांशत: मुगलकाल को नाटक का विषय बनाया गया है । उदाहरणार्थ वृन्दावनलाल वर्मा का `बीरबल` हरिकृष्ण प्रेमी का `स्वप्नभंग`,`रक्षा बन्धन`,`आहुति`,रामकुमार वर्मा का `ध्रुवतारिका` ,`शिवाजी``,आचार्य चतुरसेन का `राजसिंह` तथा प्रो० सत्येन्द्र का `मुक्तिदूत` आदि नाटकों का उल्लेख किया जा सकता है । इन नाटकों में देश-प्रेम के साथ-साथ आपसी द्वेष की भावना का भी चित्रण किया गया है,फलत: कोई भी पात्र आपसी वैमनस्य के कारण प्रथम तो शत्रुओं से मिल जाता है,वे परन्तु अपनी भूल का ज्ञान होने पर पश्चात्ताप करता है ।

इस युग के कुछ उल्लेखनीय ऐतिहासिक नाटक गोविन्द वल्लभ पंत का `राजमुकुट` तथा `अन्त:पुर का छिद्र`, सेठ गोविन्ददास का `कुलीनता` तथा`शशिगुप्त`, उपेन्द्रनाथ अश्क का `जयपराजय`,लक्ष्मीनारायण मिश्र का `गरुड़ध्वज` तथा`वत्सराज`, लक्ष्मीनारायणलाल का `ताजमहल के आंसू`, वृन्दावनलाल

वर्मा का `बीरबल`, हरिकृष्ण प्रेमी का `स्वप्न भंग`, `रक्षाबन्धन`, `आहुति`, रामकुमार वर्मा का `ध्रुवतारिका`, `शिवाजी`, आचार्य चतुरसेन शास्त्री का `राजसिंह` और प्रो० सत्येन्द्र का `मुक्तियज्ञ` आदि हैं ।

इस युग में सबसे अधिक प्रगति एकांकी नाटकों की हुई । एकांकी लेखन के लिए यह समय अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ । आधुनिक युग में समय का इतना अभाव है कि बड़े-बड़े नाटक देखने अथवा पढ़ने की सुविधा नहीं है । संक्षिप्त सप्रयोजन और अत्यधिक प्रभावोत्पादक होने के कारण आधुनिक युग में एकांकी का प्रचलन अधिक हुआ । इनमें रामकुमारवर्मा के एकांकियों का महत्वपूर्ण स्थान है । आपके एकांकी `ध्रुवतारिका`, `सप्तकिरण`, `रजत रश्मि`` आदि नाम से संगृहीत हैं । इसके अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट का `स्त्री का हृदय`, `सेठ गोविन्ददास का `सप्त रश्मि`, उपेन्द्रनाथ अश्क का `देवताओं की छाया में`, भुवनेश्वरप्रसाद का `कारवाँ` आदि प्रमुख हैं । सद्गुरुशरण अवस्थी के एकांकी` नाटक और नायक` नामक पुस्तक में संगृहीत है । वृन्दावनलाल वर्मा के `सगुन`, `जहाँदार शाह` `लो भाई पंचों लो`, `पीले हाथ` आदि एकांकी भी उल्लेखनीय हैं ।

इस समय नाटक की अन्य अनेक विधाओं का भी प्रचलन हुआ, यथा स्वप्न नाटक, स्वोक्ति नाटक(मोनोड्रामा) तथा गीति नाट्य आदि ।स्वप्न नाटक में अश्क जी का `छठा बेटा`, गीति नाट्य में उदयशंकर भट्ट का `विश्वामित्र`, `राधा` और मोनोड्रामा में गोविन्ददास का `चतुष्पथ` उल्लेखनीय हैं । इसमें `शाप और वर` ,`अलबेला` ,`प्रलय और सृष्टि` तथा `सच्चा जीवन` चार मोनोड्रामा संगृहीत हैं ।

इसप्रकार आधुनिक युग में नाटकों की सबसे अधिक प्रगति हुई । नाटक के क्षेत्र में नवीन विधाओं का प्रचलन हुआ । रेडियो नाटक की प्रगति ने नाटक के विकास में विशेष योग दिया है ।

<u>संस्कृत नाट्यशास्त्र और हिन्दी नाटक</u>

प्राचीन नाटकों का प्रणयन नाट्यशास्त्र के अनुरूप होता था । परन्तु पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आने पर उनमें अनेक परिवर्तन हुए, परिणामस्वरूप आज प्राचीन तथा आधुनिक नाटकों में बहुत अवन्तर हो गया है ।

प्राचीन नाटक नाट्यशास्त्र के नियमों से बद्ध होते थे उनमें नान्दी, मंगलाचरण और प्रस्तावना आदि का रहना आवश्यक था। सूत्रधार नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व ही नाटक का पूर्व परिचय दे देता था। आधुनिक नाटकों में नाट्यशास्त्र के नियमों का बन्धन नहीं है। आधुनिक नाटकों के प्रारम्भ में नाटक की पृष्ठभूमि तथा वातावरण, जैसे परदा जिस कमरे में खुलता है उसका पूरा वर्णन, कमरे की सजावट, उससे दीखने वाले त्वाग का या लान का वर्णन, उसमें बैठे लोगों की आयु, उनके वस्त्र, उनके बैठने अथवा खड़े होने का ढंग, उनकी भावभंगी तथा रंगमंच की सजावट का पूरा-पूरा वर्णन रहता है। इसके अतिरिक्त नाटकों में अंक तथा दृश्य का बन्धन भी नहीं रहताहै। नाट्यशास्त्र के अनुसार पांच से दस अथवा अंक का होना आवश्यक माना जाता था, परन्तु अब तो अधिकांश नाटक एक ही अंक के होते हैं, उनमें दृश्य अवश्य अनेक रहते हैं। यह अन्तर नाटक के सभी तत्वों में परिलक्षित होता है। यदि कथानक की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि प्राचीन नाटकों के कथानक अधिकांशतः पौराणिक अथवा ऐतिहासिक होते थे, परन्तु आधुनिक नाटकों का विषय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से लिया जाता है। आज नाटक समाज की अनेक बुराइयों तथा उनकी समस्याओं आदि पर लिखे जाते हैं। प्राचीन नाटक आदर्शवादी होते थे, उनका उद्देश्य असत्य पर सत्य की विजय दिखाना या उपदेश देना होता था। उसमें कल्पना का पुट अधिक होता था, परन्तु आधुनिक नाटक यथार्थ के कठोर धरातल पर स्थित रहता है। जो कुछ जैसा है, चाहे वह सुन्दर हो या कुरूप, अपने स्वाभाविक रूप में सम्मुख आता है। आज के नाटकों में समाज के घृणित से घृणित अंग की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया जाता है। जिससे जनता उन समस्याओं को देखे उसे समझे और उसे दूर करने का प्रयत्न करे। प्राचीन नाटकों में केवल पात्रों का संघर्ष होता था, परन्तु आज व्यक्तिगत संघर्ष ने वर्ग संघर्ष का रूप ले लिया है। आधुनिक नाटकों में एक वर्ग का संघर्ष दूसरे वर्ग से दिखाया जाता है। यह संघर्ष नाटक के प्रारम्भ से अन्त तक बना रहता है, जब कि प्राचीन नाटकों में नाटक के बीच में किसी एक स्थल पर संघर्ष रहता था।

प्राचीन नाटकों के पात्र राजा होते थे या राजपरिवार से संबंधित व्यक्ति होते थे अथवा महापुरुष होते थे। ये कहह नाटक आदर्शवादी

होते थे, क्योंकि नाटक द्वारा किसी-न-किसी आदर्श की स्थापना करनी होती थी । आधुनिक नाटकों के पात्र समाज के हर वर्ग और हर क्षेत्र से लिए जाते हैं । पात्रों का आदर्श रूप ही न दिखा कर उनकेके वास्तविक रूप का चित्रण किया जाता है । उदाहरणार्थ अब नाटक के नायक निम्न वर्ग से लेकर उच्च वर्ग तक होते हैं । चोर, डाकू आदि भी नाटक के नायक बनाये जा सकते हैं । नाटक में नायक के गुण ही नहीं वरन् उनके दुर्गुण भी दिखाये जाते हैं । अत: आधुनिक नाटकों के पात्र जीवन केअधिक निकट जान पड़ते हैं तथा उनका चरित्र भी स्वाभाविक लगता है । प्राचीन नाटकों में प्राप्त अस्वाभाविकता का बहिष्कार कर दिया गया, अब नाटकों में स्वाभाविकता को विशेष महत्व दिया जाने लगा ।

प्राचीन नाटकों में चरित्र-चित्रण पर कम ध्यान दिया जाता था उनमें न्याय और सिद्धान्त की रक्षा के लिएलेखक जैसा चाहता था पात्रों के चरित्रों का निर्माण कर लेता था । परन्तु आधुनिक नाटकों में चरित्र-चित्रण पर अधिक ध्यान दिया जाता है । पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व तथा उनका आन्तरिक संघर्ष ही उनके चरित्र का विश्लेषण करते हैं, अत: आधुनिक नाटकों में संघर्ष का होना अनिवार्य माना गया है ।

प्राचीन नाटकों में कथोपकथन पद्य में होते थे अथवा पात्र गद्य में बोलते-बोलते अकस्मात् पद्य में बोलने लगते हैं थे । इनमें गीतों का बाहुल्य रहता था । परन्तु आधुनिक नाटकों से गीत तथा पद्य का पूर्ण बहिष्कार हो गया ।

नाट्य शास्त्र के अनुसार कुछ दृश्य जैसे युद्ध, मृत्यु आदि का चित्रण नाटक के लिए वर्जित था । अत: नाटक सदैव सुखान्त ही होते थे, परन्तु आधुनिक नाटकों में ऐसा कोई बन्धन नहीं है । नाटक में युद्ध और मृत्यु आदि के दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं और नाटक आवश्यकतानुसार सुखान्त और दु:खान्त दोनों प्रकार के लिखे जाते हैं ।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकों में रस पर विशेष ध्यान दिया जाता था, परन्तु आधुनिक नाटकों में मनोवैज्ञानिक चित्रण तथा संघर्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है ।

इससे स्पष्ट है कि आधुनिक नाटक प्राचीन नाटक से भिन्न हैं । आज के नाटक यथार्थ नाटक हैं ,अत: उनमें स्वाभाविकता भी है। नाटक के पात्र हमारे समान ही गुणों और दुर्गुणों से युक्त प्राणी हैं ।डा० रामकुमार वर्मा ने आधुनिक नाटकों के विषय में लिखा है --`आधुनिक काल में आदर्शवाद के नाम पर यथार्थ और स्वाभाविकता की हत्या, नाटक-लेखकों और समालोचकों को किसी प्रकार भी मान्य नहीं हुई । जीवन की स्वाभाविकता और `रस` की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक संघर्ष ही आधुनिक नाटककारों को स्वीकार हुआ । जीवन की स्वाभाविकता लाने के लिए मृत्यु और पराभव के दृश्य दिखलाने की आवश्यकता भी पड़ी, जो दृश्य संस्कृत नाटक में वर्जित समझे गये थे । इस प्रकार आधुनिक नाटक प्राचीन नाटकों से बिल्कुल ही भिन्न शैली पर लिखे जाने लगे[१] ।`

आधुनिक नाटकों की शैली तो अवश्य परिवर्तित हो गई,परन्तु आन्तरिक दृष्टि से आधुनिक नाटकों और संस्कृत नाटकों में एकत्व बना रहा । भारतीय जीवन की मान्यताएं,आदर्श,नीति, धार्मिकता,दार्शनिकता, ईश्वर तथा देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा और विश्वास आज भी ज्यों-के-त्यों इन नाटकों में देखे जा सकते हैं । आधुनिक नाटकों के पात्र यथार्थवादी अवश्य हो गये,पर उनमें भारतीयता के वे सभी गुण विद्यमान हैं जो संस्कृत नाटकों के पात्रों में होते थे, अन्तर इतना हुआ कि अब उन गुणों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन होने लगा है ।

नाटकों के अभाव के कारण

संस्कृत नाट्य परम्परा के ह्रास के पश्चात् हिन्दी नाटकों का प्रारम्भ बहुत बाद में हुआ । इस बीच नाटक, जननाटक, अ० रासलीला और रामलीला के रूप में विद्यमान था । हिन्दी नाटकों का प्रचलन तेरहवीं से सत्रहवीं

---

१ `शिवा जी ` : डा० रामकुमार वर्मा-भूमिका,पृ०७ ।

शताब्दी के बीच प्रारम्भ हुआ, परन्तु उसका पूर्ण विकास नहीं हो सका। नाटक का अभाव पूर्ववत् बना रहा। जो नाटक लिखे भी गये वे नाटक के अन्धकारमय जीवन में खद्योत के प्रकाश के समान थे। नाटक के अभाव का कारण क्या था, इस विषय में अनेक विद्वानों ने अनेक मत दिये हैं।

प्रो० सत्येन्द्र का विचार है कि ऐतिहासिक अनिश्चितता सामर्थ्यवान गद्य का अभाव, नटों के प्रति घृणा, साम्प्रदायिक मतों की प्रधानता तथा काव्य के प्रति आकर्षण आदि अनेक कारण नाटकों के अभाव के मूल में विद्यमान हैं।[1] बाबू गुलाबराय ने नाटकों के अभाव का कारण जातीय उत्साह की कमी, मुसलमानों द्वारा प्रोत्साहन का न मिलना तथा गद्य का सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित न होना माना है।[2] डा० एस०पी० खत्री के अनुसार राष्ट्रीय रंगमंच का अभाव मनोवैज्ञानिक अध्ययन की उपेक्षा, अभिनय के प्रति समाज की उदासीनता, स्त्री वर्ग का असहयोग तथा सिनेमा का व्यापक प्रचार और समाज की गरीबी अनेक रूपों में नाटकों के अभाव का कारण हुई।[3]

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उपन्यासों की ओर लोगों की बढ़ती हुई प्रवृत्ति तथा अभिनयशालाओं के अभाव को नाटक के अभाव का कारण माना है।[4] पं० सीताराम चतुर्वेदी ने भी हिन्दी नाटकों के अभाव का कारण रंगमंच का अभाव माना है।[5] "हमारे देश में नाटकों के समुचित विकास और नाट्य साहित्य के उचित संवर्धन न होने का कारण यही रहा है कि हमारे यहाँ व्यवस्थित रंगशालाओं का बड़ा अभाव रहा है।"[5] डा० रामचरण महेन्द्र ने भी हिन्दी नाटकों के अभाव के कारणों में रंगमंच का अभाव तथा अभिनय के प्रति उपेक्षा को मुख्य कारण माना है। आपके अनुसार --" नाटक में अभिनय करना

---

१ 'एकांकी नाटक' : प्रो० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण, पृ०६

२ 'हिन्दी नाट्य विमर्श' : गुलाबराय, पृ०६५

३ 'नाटक की परख' : एस०पी० खत्री, तृतीय संस्करण, पृ०१२२

४ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : रामचन्द्र शुक्ल, पृ०५३६-४०

५ 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' : पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ०४

हीन दृष्टि से देखा जाने लगा था । समाज की यह उपेक्षा भी नाट्यकला के लिए हानिकारक सिद्ध हुई ।[1]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटकों के अभाव के मुख्य कारण रंगशालाओं का अभाव, राजनैतिक अनिश्चितता, गद्य का अभाव तथा अभिनय के प्रति उपेक्षा है । राजनैतिक अनिश्चितता ने नाटक को सबसे अधिक क्षति पहुंचाई । राजनैतिक उथल-पुथल से उत्पन्न सामाजिक अव्यवस्था तथा अशांत वातावरण के कारण नाटक उपेक्षित रह गया । 'हिन्दी साहित्य एक सहस्र वर्ष प्राचीन हो चुका है, पर उसका ध्यान केवल अशान्तिमय वातावरण के कारण नाटकों की ओर नहीं जा सका ।'[2]

भारतीय राजनैतिक उथल-पुथल के मध्य भारतीय जनता जीवन के प्रति इतनी संघर्षरत थी कि उसका ध्यान मनोरंजन की ओर आकृष्ट न हो सका । इसके अतिरिक्त मुगलकाल में नाटक को धर्मविरुद्ध मानकर मुगल शासकों ने इसका पूर्णत: निषेध कर दिया । उन्होंने पुरानी रंगशालाओं को तोड़-फोड़ डाला । सीतावेंगा और जोगीमारा की गुफाओं में छिपी हुई नाट्यशालाएं स्पष्ट बता रही हैं कि दिल्ली से दूर इस क्रूर शासनकाल में नाट्य गृहों की परम्परा बच सकती थी ।[3] मुगल शासन की क्रूर दृष्टि से जो नाट्यशालाएं बच गईं थीं वह भी नाटकों के प्रति उपेक्षा के कारण नष्ट हो गयीं । मुगलकाल में अन्य सभी ललित कलाओं की उन्नति हुई और उन्हें राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ परन्तु नाटक सर्वथा उपेक्षित रहा । राज्याश्रय न प्राप्त होने तथा जनमानस की नाटक की ओर से उदासीनता के कारण नाटक की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट न हो सका । नाटकों के प्रति उदासीनता का एक मुख्य कारण भाषा की भिन्नता भी था । उस समय की साहित्यिक भाषा संस्कृत थी और बोलचाल की भाषा अपभ्रंश थी । नाटक रचना संस्कृत में होती था, अत: सर्वसाधारण के लिए उसका रसास्वादन कठिन

---

१ 'हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास' : रामचरण महेन्द्र, पृ०८८

२ 'हिन्दी नाट्य साहित्य' : ब्रजरत्नदास, चतुर्थ संस्करण, पृ०२

३ 'मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परम्परा और भारतेन्दु' : श्री कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, पृ० २१ ।

हो गया । साहित्यिक भाषा और जनभाषा के बीच की बढ़ती हुई खाई ने भी नाटकों को क्षति पहुंचाई । इसके अतिरिक्त भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त 'सर्वसाधारण के लिए' नाटक हो, को लोग भूलने लगे थे,अत: सर्व-साधारण के लिए नाटक का समझना अथवा उसका रसास्वादन दुष्कर होता जा रहा था ।

इस प्रकार नाटकों के अभाव में के मूल में अनेक कारण थे,जिनके फलस्वरूप नाटक का विकास अवरुद्ध हो गया था ।

हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ ही भारत में एक नवीन जागृति की लहर व्याप्त हो गई,जिसने साहित्यिक,धार्मिक,सामाजिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों को आप्लावित किया । परिणामस्वरूप पुरातन रूढ़ियां तथा परम्परायें ध्वस्त हो गईं और नयी चेतना का प्रादुर्भाव हुआ । हिन्दी साहित्य में भी नवीन क्रान्ति का समावेश हुआ । वैसे पाश्चात्य प्रभाव हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं पर पड़ा,परन्तु नाटक विशेषरूप से प्रभावित हुआ,क्योंकि आधुनिक नाटक अभी अपने शैशवावस्था में था,अत: नाटक के अधिक प्रयोग नहीं हुए थे जो हो रहे थे उनपर पाश्चात्य प्रभाव का गहरा प्रभाव पड़ा ।

हमारे देश के नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव कुछ तो बंगला नाटकों द्वारा और कुछ सीधे अंग्रेजी से आया । बंगला के नाटककार माइकल मधुसूदनदत्त, द्विजेन्द्रलाल राय तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं से हिन्दी नाटकों को विशेष प्रेरणा मिली । इनपर शेक्सपियर की स्वच्छंदता-वादिता का तथा पश्चिमी प्रतीकवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है । बंगला के इन नाटककारों की रचनाओं के माध्यम से यह प्रभाव हिन्दी नाटकों पर भी आया ।

हमारे देश और साहित्य पर प्रत्यक्षरूप से पाश्चात्य प्रभाव अनेक स्रोतों से आया । जिनमें मुख्य है-- सभ्यता तथा संस्कृति का

आदान-प्रदान, अंग्रेजी शिक्षा, ईसाई पादरियों द्वारा किया गया प्रचार, मुद्रण कला, अंग्रेज सरकार की प्रचारात्मक नीति, यातायात के नवीन साधन, नवीनता के प्रति हमारे साहित्यिकों का आकर्षण, तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं तथा पारसी कम्पनियों द्वारा प्रदर्शित अंग्रेजी नाटकों का प्रदर्शन ।

अंग्रेजों के आगमन के साथ ही उनकी संस्कृति तथा सभ्यता का आगमन भी हुआ । सम्पर्क में आने के कारण दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करने लगे । यह प्रभाव बाह्य ही नहीं था, वरन् इसने भारतीय जन-मानस को भीप्रभावित किया । विभिन्न शिक्षण संस्थाओं ने भी इसमें योगदान दिया । सन् १८००ई० में कम्पनी सरकार ने कम्पनी के कर्मचारियों की शिक्षा के लिए शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की । जिनमें अनेक अंग्रेजी नाटककारों के नाटक पाठ्यक्रम में निर्धारित थे । अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य केक अध्ययन द्वारा वहां की साहित्यिक विशेषताओं का ज्ञान हुआ जिसे भारतीय साहित्य में भी अपनाया गया । इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म के प्रचारकों ने हिन्दी गद्य के विकास का लाभ उठाया और हिन्दी में बाइबिल का अनुवाद किया । इसप्रकार वे अपने धर्म का प्रचार करने लगे जिससे अनेक लोगों ने ईसाई धर्म से प्रभावित हो उसे ग्रहण किया । इन पादरियों ने ईसाई धर्मावलंबियों को शिक्षित करनेह के लिए शिक्षण संस्थाएं खोलीं तथा अंग्रेजी पढ़ने वालों को अनेक सुविधाएं प्रदान कीं । मुद्रण कला के प्रचार से भी पाश्चात्य प्रभाव साहित्य पर आया ।मुद्रण यंत्र के भारत में आने पर कुछ संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत ग्रन्थों की सुरक्षा के लिए टाइप के अक्षरों को जोड़कर इस यंत्र की स्थापना का प्रयत्न किया ।शनैः शनैः अनेक छापाखानों का प्रारम्भ हुआ, जिनमें कई छापाखाने तो ईसाई प्रचारकों द्वारा स्थापित किये गये । इससे अंग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रचार में विशेष सहायता मिली । अंग्रेज सरकार ने अंग्रेजी पढ़ने वालों को छात्रवृत्ति दी तथा सरकारी नौकरी के लिए भी अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक कर दिया, फलतः अंग्रेजी भाषा का प्रचार अधिक हो गया । इस प्रकार अंग्रेजी साहित्य के पठन-पाठन ने हिन्दी साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया । आवागमन की सुविधा से भी पाश्चात्य भाषा तथा साहित्य का प्रचार हुआ । उस समय तक शेक्सपियर के

नाटकों की धूम मच रही थी,अत: भारतीय नाटककारों की रुचि भी उनके नाटकों की ओर आकर्षित हुई । उन दिनों पाश्चात्य साहित्य में जीवन और जगत के प्रति सर्वथा नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया जा रहा था । हिन्दी साहित्यकार भी इससे अछूते न रहे । फलत: उनकी रचनाओं के भाव भाषा, आदर्श सभी कुछ परिवर्तित हो गये और उन पर अंग्रेजी का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होने लगा । इस प्रभावस्वरूप हिन्दी नाटकों में दु:खान्तकों का समावेश हुआ,भाषा भी परिमार्जित हुई तथा गद्य का महत्व बढ़ गया और नाटकों में यथार्थवाद का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी अंग्रेजी प्रभाव हिन्दी पर आया । उस समय प्रचलित पत्रिकाओं में हिन्दी के साथ ही अंग्रेजी के लेख भी छपते थे,उनमें अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी नि:संकोच भाव से होता था,जिनके द्वारा हिन्दी भाषी जनता को अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त होता था । प्रचलित पारसी कम्पनियों ने अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद कर उसे अभिनीत किया । इनमें शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद तथा अभिनय अधिक हुआ । शेक्सपियर के जिन नाटकों का अनुवाद इन पारसी रंगमंचों के लिए किया गया, उनमें प्रमुख हैं-- १८६० में किया गया रोमियो एण्ड जूलियट का अनुवाद `बज्मेफानी`, १८६५ में किया गया `सिम्बेलीन` का अनुवाद `मीठा जहर` , १८६५ में दिविंटर्स टेल का `मुरादेशोक`, १८६८ में `हैमलेट`का `खूने - नाहक`, १८६८ में `अथेलो` का `शहीदेवफा`, १९०० में `दि मर्चेण्ट आफ वेनिस` का `दिल फरोश`, १९०० में `दि मेजर फार मेजर` का `शहीदेनाज`, १९०२ में `किंगलियर` का `हारजीत`, १९०५ में `द ट्वेल्फ्थ नाइट` का `भूल-भुलैया`, १९०६ में `एण्टोनी एण्ड क्लियोपेट्रा` का `काली नागिन`,१९१२ में `ए कमेडी आफ एरर्स` का `गोरखधंधा` आदि । इसके अतिरिक्त अनेक अन्य पाश्चात्य विद्वानों के नाटकों का अनुवाद और प्रदर्शन पारसी कम्पनियों द्वारा हुआ,जिनका प्रभाव हिन्दी भाषा और साहित्य पर पड़ा । इस विषय में विश्वनाथ प्र मिश्र ने लिखा है--`इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिन्दी नाटक में पाश्चात्य प्रभाव का प्रारम्भ इसी व्यावसायिक

पारसी रंगमंच से हुआ[१]।"

साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव अधिक पड़ा । उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के प्राय: सभी नाटकों पर यह प्रभाव परिलक्षित होता है । हिन्दी नाटकों में यह अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है,यथा-- स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद,स्वाभाविकता-वाद,प्रतीकवाद और अभिव्यंजनावाद आदि ।

स्वच्छन्दतावाद -- स्वच्छन्दतावाद पुरातन शास्त्रीय पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया है । पुरानी मान्यताओं को धराशायी कर नवीन की स्थापना स्वच्छन्दतावाद की मूल प्रेरणा है । नाटकों में स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन करने वाले शेक्सपियर हैं । सर्वप्रथम आपने नाटकों में जीवन की यथार्थता की अपेक्षा रोमांटिक वातावरण तथा प्राकृतिक चित्रण को मुख्य स्थान दिया । स्वच्छन्दतावादी नाटककार सभी पुरातन बन्धनों को तोड़कर स्वतन्त्र रूप से प्रकृति की गोद में विचरण करता है । उसको यथार्थ जीवन की अपेक्षा प्रकृति का प्रांगण अधिक सुखकर ज्ञात होता है ।ऐसे नाटककार प्रकृति-चित्रण को नाटक में मुख्य स्थान देते हैं । स्वच्छन्दतावादी नाटककार वर्तमान को छोड़ कर भविष्य में विचरण करते रहते हैं । प्रसाद जी पर इसका प्रभाव अधिक है,जिसके फलस्वरूप वे भविष्य के गौरव को कल्पना की तूलिका से रंग कर हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं । इन नाटककारों की रचनाओं में सर्वत्र पीड़ा व्याप्त रहती है । स्वच्छन्दतावाद का विशेष प्रभाव आपके `कामना` नाटक में देखने को मिलता है ।

यथार्थवाद -- स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध सर्वप्रथम फ्रांस में आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में यथार्थवादी नाटकों का प्रारम्भ हुआ । इन यथार्थवादी नाटकों में भावुकता के स्थान पर बुद्धि का प्राधान्य हो गया और व्यक्तिगत संघर्ष ने वर्ग संघर्ष का रूप धारण कर लिया । इन नाटकों में निम्नवर्ग,उपेक्षित वर्ग तथा पीड़ित व्यक्तियों की समस्याओं को यथार्थरूप में प्रस्तुत किया जाने लगा । समाज की विकृतियों,विवाह तथा प्रेम की समस्याओं आदि को प्रमुखता प्रदान की गई । सरल तथा संक्षिप्त संवादों का प्रचलन हुआ

१ `हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव`:विश्वनाथ मिश्र,प्रथम संस्करण,पृ०१५

तथा पात्र साधारण व्यक्ति होने लगे जो मानवीय दुर्बलताओं से युक्त होते हैं। हिन्दी में सर्वप्रथम लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस बुद्धिवादी यथार्थ को अपनाया। आपने जीवन के मिथ्याचार तथा बाह्याडम्बर के उद्घाटन को कलाकृतियों का प्रमुख लक्ष्य माना है--' जिन्दगी को चहारदीवारी के चारों ओर घूम आना यह तो शायद कला नहीं है..... उसे कहीं न कहीं से तोड़कर उसके अन्दर घुसना होता है, उसके भीतर घुस जाने पर .... ओफ ! कितना भ्रम और कितना आडम्बर ! कितना भुलावा और कितनी आत्मवंचना सचाई को छिपा देने के लिए सभ्यता, संस्कार, शिक्षा, नियम और कानून एक के बाद दूसरे अनेक पर्दे[1]।

स्वाभाविकतावाद -- यह यथार्थवाद का ही एक रूप है। इन स्वाभाविकवादी नाटकों में कथानक का विशेष महत्व नहीं रहता है। संवाद उखड़े-उखड़े तथा अस्त व्यस्त रहते हैं। इनमें बोलचाल की भाषा का भी प्रयोग होता है। इन नाटकों में समाज की बुराइयों को ही नाटक का विषय बनाया जाता है। जैसे हत्या, ईर्ष्या, व्यभिचार आदि। डा० एस०पी० खत्री के अनुसार --' प्रकृतिवादी नाटककारों ने सामयिक घटनाओं तथा दिन प्रतिदिन के अनुभवों विशेषत: निम्न से निम्न वर्ग के व्यक्तियों तथा परिवारों के पाशविक जीवन, लालसाओं तथा विवेकहीन कार्यों के अनगिनत चित्र खींचे[2]।' इन नाटकों में कल्पना का अभाव तथा तर्क की प्रधानता रहती है। साथ ही इनमें दु:ख यातना और क्लेश का वर्णन मिलता है। इनमें विवाह तथा तलाक संबंधी समस्याओं की प्रमुखता रहती है। इन नाटकों में प्राय: दो पुरुष एक नारी अथवा दो नारी और एक पुरुष पात्र होता है, जिसमें से एक को मार कर दूसरे दोनों का संयोग दिखाया जाता है। 'सुहागबिन्दी' तथा 'आधीरात' इसी प्रकार के नाटक हैं।

प्रतीकवाद -- यथार्थवाद तथा स्वाभाविकतावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतीकवादी नाटकों का प्रचलन हुआ। जब साधारण भाषा, सामाजिक समस्याओं तथा मानसिक उलझनों को व्यक्त करने में असमर्थ हो गई तब उन्हें स्पष्ट करने के लिए

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : राक्षस का मन्दिर की भूमिका का लेख-'मेरा दृष्टिकोण', पृ०१

२ 'नाटक की परख' : डा० एस०पी० खत्री, तृतीय संस्करण, पृ०६३

प्रतीकों का सहारा लेना पड़ा और इस प्रकार प्रतीकवाद का आरम्भ हुआ । श्री विश्वनाथ मिश्र के अनुसार --"प्रतीकवादी साहित्यकार किसी प्रकार के सादृश्य अथवा साधर्म्य के आधार पर अपने मानस में प्रस्तुत जीवन के स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए अप्रस्तुत की योजना करता है।"[१] प्रतीकवाद का प्रभाव सुमित्रानन्दन पन्त के नाटक 'ज्योत्स्ना', प्रसाद जी के 'कामना' और 'एक घूंट' में देखने को मिलता है । कुछ नाटककारों ने सामाजिक प्रतीकवाद का भी प्रयोग किया है । इन नाटकों में एक व्यक्ति समाज के एक वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करता है । जैसे उपेन्द्रनाथ अश्क का 'स्वर्ग की झलक' । इसमें रघु के भाई रूढ़िवादी वर्ग का, उनकी पत्नी बुद्धिवादी सजग नारी वर्ग का और रघु अनिश्चयवादी युवक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है ।

अभिव्यंजनावाद -- इस प्रकार के नाटकों में व्यक्ति के अवचेतन तथा अर्धचेतन मन की बातों तथा उनकी कुंठाओं का चित्रण किया जाता है । इनके पात्रों के चरित्र दोहरे होते हैं अर्थात् वे जो कुछ दिखायी देते हैं, वे वास्तव में वैसे नहीं होते हैं । कुछ नाटकों में एक ही पात्र प्रमुख रहता है और उसके अन्तर का संघर्ष ही नाटक का मुख्य विषय होता है । सेठ गोविन्ददास के 'चतुष्पथ' में संगृहीत चारों नाटकों में पात्रों के आन्तरिक संघर्ष को अभिव्यक्त किया गया है । यह प्रभाव फ्रायड के मनोविश्लेषण के फलस्वरूप आया । फ्रायड मनोचिकित्सक था,अत: मानव मनोविज्ञान का उसे अत्यधिक अनुभव था । अपने अनुभव के आधार पर उसने मनुष्य की सभी क्रियाओं के पीछे अप्रत्यक्ष रूप से अन्तश्चेतना में चले रहे 'द्वन्द्व' तथा 'कामवृत्ति' को कारण माना । फ्रायड ने अपने मनोविश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि काम भावना के दमन के कारण ही मानव के व्यवहार में अनेक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न होती हैं । बहुधा ये दमित भावनायें स्वप्न के माध्यम से व्यक्त होती हैं । इसी आधार पर नाटकों में स्वप्न चित्रण तथा आन्तरिक स्वगत कथन की प्रणाली का प्रचलन हुआ । यह प्रभाव सेठ गोविन्ददास के 'चतुष्पथ', 'कर्ण', 'गरीबी और अमीरी' के पात्रों के मानसिक संघर्ष के रूपमें परिलक्षित होता है ।

---

१ 'हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव' : विश्वनाथ मिश्र,पृ०११७

कार्लमार्क्स के समाजवाद का प्रभाव भी हिन्दी-नाटकों पर पर्याप्त रूप से पड़ा। इसका मूल आधार भौतिकतावाद है। हिन्दी में यह प्रभाव वर्ग संघर्ष के रूप में परिलक्षित होता है। इससे ज्ञात होता है कि पाश्चात्य प्रभाव हिन्दी नाटकों पर अनेक रूपों में पड़ा। पाश्चात्य नाटककार इब्सन गाल्सवर्दी, बर्नार्ड शा आदि का प्रभाव हिन्दी नाटकों पर विशेषरूप से पड़ा[१]।

पूर्व प्रसाद नाटकों में पाश्चात्य प्रभाव

इस युग के नाटकों पर यद्यपि पाश्चात्य प्रभाव पड़ रहा था तथापि ये नाटक संस्कृत नाट्य प्रणाली से सम्बद्ध थे। अत: इन नाटकों में भारतीय तथा पाश्चात्य प्रभाव का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। इस युग में सबसे अधिक प्रभाव शेक्सपियर, इब्सन और बर्नार्ड शा का पड़ा, परन्तु शेक्सपियर का प्रभाव अधिक है। जिसके फलस्वरूप नाटक में रोमांटिक वातावरण, अन्तर्द्वन्द्व, सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य, प्रतीकों का प्रयोग, संस्कृत नाट्यशास्त्र में वर्जित दृश्यों का वर्णन और यथार्थ के प्रति मोह उत्पन्न हुआ। संस्कृत नाट्यशास्त्र के बन्धन शिथिल हो गये, फलत: पाँच से दस अंक के स्थान पर नाटक में अंकों की संख्या कम हो गई। अन्तर्द्वन्द्व का समावेश पाश्चात्य प्रभाव का ज्वलन्त उदाहरण है। अनेक हिन्दी -नाटकों में इसकी अभिव्यक्ति पायी जाती है। प्रेमचन्द जी के 'संग्राम' में भी सबलसिंह अपने भाई कंचनसिंह की हत्या से पूर्व मानसिक संघर्ष का शिकार होता है। सामाजिक बुराइयों पर व्यंग्य करने का सबसे सुन्दर माध्यम प्रहसन है और प्रहसन पाश्चात्य साहित्य की देन है। बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षा दान या जैसा काम वैसा परिणाम' भी समाज- सुधार पर किया गया व्यंग्य है। बदरीनाथ भट्ट के अन्य नाटकों में

---

१ 'नई धारा', अप्रैल -मई, १९५२, रंगमंच विशेषांक, पृ० १७

'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन' आदि में भी व्यंग्याघात स्पष्ट देखने को मिलता है। शेक्सपियर के प्रतीक योजना का भी प्रभाव हिन्दी-नाटकों पर पड़ा। ज्ञानदत्त सिंह के 'मायावी' में मदिरा तथा फैशन का मानवीकरण किया गया है। इसी प्रकार 'रणधीर और प्रेममोहिनी' में भी प्रेममोहिनी का स्वप्न में हंस देखना और उसका उड़ जाना, रणधीर का उससे वियोग होगा, इस बात का प्रतीक है। पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप संस्कृत नाट्यशास्त्र में वर्जित दृश्य जैसे मृत्यु, बध, हत्या, युद्ध, आत्महत्या आदि का चित्रण नाटकों में होने लगा। प्रेमचन्द के नाटक 'संग्राम' में सबल सिंह की पत्नी ज्ञानी का हारा की कनी चाट कर मरना, ढोंगी साधु चेतनदास का जल में डूब कर मरना, सबल सिंह का आत्महत्या का प्रयत्न करना आदि इसके उदाहरण हैं। मोलियर के हास्य प्रधान नाटकों के प्रभावस्वरूप हिन्दी में भी अनेक हास्य-व्यंग्यपूर्ण नाटक लिखे गए। जैसे बदरीनाथ भट्ट का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट', 'मिस अमेरिकन', जी०पी०श्रीवास्तव का 'दुमदार आदमी', 'भूल चूक', बालकृष्ण भट्ट का 'कलिराज की सभा' आदि। इब्सन और जार्ज बर्नार्ड शा के प्रभाव स्वरूप नाटकों में नारी जागृति को स्थान प्राप्त हुआ। प्रेमचन्द के नाटक 'प्रेम की वेदी' की जैनी नारी जागृति की प्रतीक है। उसका विचार है कि नारी भोग्या नहीं, वरन् जीवन सहचरी है। उसकी माँ, विलियम्स से उसका विवाह करना चाहती है, परन्तु वह विलियम्स को पसन्द नहीं करती, अतः उससे विवाह नहीं करती और अपनी सहेली के पति योगराज से प्रेम करती है, परन्तु उसके चरित्र से अवगत होने पर उसे भी त्याग देती है। जैनी के शब्दों में नारी जागृति का रूप स्पष्ट हो जाता है। वह कहती है--"स्त्री ने जरा भी स्वेच्छा आत्मसम्मान का परिचय दिया तो वह त्याज्य है, कुलटा है। पुरुष उसे क्षमा नहीं कर सकता। पुरुष कितना ही दुराचारी हो, स्त्री जबान नहीं हिला सकती। .... मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकती।"[१]

---

१ 'प्रेम की वेदी' : प्रेमचन्द, पृ०१७

इस प्रकार इस युग के हिन्दी नाटकों में पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप अनेक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। यद्यपि इस समय तक नाटकों पर इब्सन और शा का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा था तथापि शेक्सपियर का प्रभाव ही अधिक पड़ा।

प्रसादयुगीन नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव

इस युग के नाटकों पर शेक्सपियर के अतिरिक्त बर्नार्ड शा और इब्सन का प्रभाव पड़ा। बर्नार्ड शा के 'मैन एण्ड सुपर मैन' इब्सन के 'डाल्सहाउस', 'घोस्ट', और 'वाइल्ड डक' के प्रभावस्वरूप हिन्दी नाटकों में भी नारी समस्या को स्थान मिला। इसके अतिरिक्त इब्सन गाल्सवर्दी और मैथ्यूआरनाल्ड के प्रभाव स्वरूप बुद्धिवाद का प्रचार हुआ। बर्नार्ड शा के तर्क पद्धति और रंगनिर्देश का प्रभाव भी हिन्दी नाटकों पर पड़ा। नाटकों में स्वप्न की अवतारणा मैटरलिंक का प्रभाव है।

इस युग के नाटकों में भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों की पूर्ण अवहेलना हुई। नान्दी, सूत्रधार, भरतवाक्य आदि का प्रचलन समाप्त हो गया। जो दो-एक नाटकों में नान्दी भरतवाक्य आदि प्राप्त होते हैं वे अपवाद हैं। नाटकों में यथार्थ तथा संघर्ष का समावेश हुआ। सेठ गोविन्ददास की इन संघर्षों के प्रति विशेष रुचि है। इनकी अभिव्यक्ति वे दो रूपों में मानते हैं-- बाह्य संघर्ष तथा आन्तरिक संघर्ष। आपके अनुसार --"संघर्ष बाह्य और आन्तरिक दोनों ही आवश्यक हैं। बाह्य संघर्ष एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति या समाज से, एक वर्ग का दूसरे वर्ग से हो सकता है। आन्तरिक संघर्ष एक ही व्यक्ति के हृदय का संघर्ष है। इसका महत्व बाह्य संघर्ष की अपेक्षा अधिक है। यह संघर्ष एक भाव का दूसरे भाव से होता है और प्रतिक्षण इसमें परिवर्तन होता रहता है। नाटक में यहीं मनोविज्ञान को अपना कार्य करने का अवसर मिलता है।"[1] रामकुमार वर्मा ने भी नाटक में संघर्ष की इन दोनों प्रणालियों का उल्लेख किया है-- "यह

---

१ 'नाट्य कला मीमांसा' : सेठ गोविन्ददास, संस्करण १९३५, पृ० १४-१५

संघर्ष या तो आन्तरिक हो या बाह्य । आन्तरिक संघर्ष हृदय के रहस्यों को प्रकाश में लाने में सहायक होता है ।....बाह्य संघर्ष में शारीरिक शक्ति प्रदर्शन अथवा द्वन्द्व युद्ध की अधिक प्रधानता है और यह स्थिति रंगमंच पर मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करने में सफल होती है।[1]" इस युग के अधिकांश नाटकों में संघर्ष देखने को मिलता है। प्रसाद जी के 'अजातशत्रु' में सम्पूर्ण नाटक में द्वन्द्व तथा संघर्ष प्राप्त होता है। विरुद्धक और अजातशत्रु दोनों के हृदय कोष में विरोधी भावों का वात्याचक्र चलता रहता है। 'स्कन्दगुप्त' में आदि से अन्त तक बाह्य तथा आन्तरिक संघर्ष दोनों प्राप्त होते है। स्कन्दगुप्त के कथन से उसके मानसिक संघर्ष का ज्ञान होता है। वह कहता है-- "इस साम्राज्य का बोझ किसलिए ? हृदय में अशान्ति, परिवार में अशान्ति, केवल मेरे अस्तित्व से। मालूम होता है..... शान्ति रजनी में ही धूमकेतु हूँ[2]। यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से आनन्द से चलता।" इसी प्रकार देवसेना के हृदय में कर्तव्य और प्रेम का संघर्ष चलता रहता है और अन्त में वह कर्तव्य पर प्रेम का बलिदान कर देती है और कहती है--"हृदय की कोमल कल्पना, सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए अच्छी बात है[3]।" चन्द्रगुप्त में भी चन्द्रगुप्त कहता है--"संघर्ष ! युद्ध देखना चाहती हो, तो मेरा हृदय फाड़ कर देखो मालविका ! आशा और निराशा का युद्ध ! भावों का अभाव से द्वन्द्व कोई कमी नहीं[4]।" गोविन्द वल्लभ पंत के 'राजमुकुट' में भी जब पन्ना अपने पुत्र चन्दन को उदय के स्थान पर सुलाती है उस समय उसके हृदय में भी कर्तव्य और पुत्र प्रेम का भीषण संघर्ष देखने को मिलता है। आपके 'अंतःपुर का छिद्र' में भी पद्मावती और मागंधी का परस्पर संघर्ष दिखाया गया है।

---

१ 'पृथ्वीराज की आँखें' : डा० रामकुमार वर्मा, पूर्वरंग, प्रथम संस्करण, पृ०११-१२

२ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, तृतीय संस्करण, पृ०८६।

३ वही, पृ०१५३

४ 'चन्द्रगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, चतुर्थ संस्करण, पृ०१६०

लक्ष्मीनारायण मिश्र के `सिन्दूर की होली` में भी माहिरअली तथा मुरारीलाल अपने कुकर्मों के लिए पश्चाताप करते हैं तथा उनके हृदय में भीषण संघर्ष होता है । इस विषय में डा० एस०पी० खत्री का कहना है कि `प्राचीनकाल के नाटकों का नायक नियति से उलझता था,मध्यकालीन युग का नायक अपने चरित्र के वैषम्य से होड़ लेता था और आज का नायक प्रस्तुत परिस्थिति के अखाड़े में युद्ध करता है ।`[1]

शेक्सपियर के प्रभावस्वरूप नाटकों में आकस्मिक घटना तथा संयोग की अवतारणा हुई । प्रसाद के नाटकों में इसका प्रभाव स्पष्ट है । आपके `स्कन्दगुप्त` में स्कन्द संयोग से ही कुंभा की लहरों से बच जाता है । प्रपंचबुद्धि द्वारा देवसेना को बलि देने के समय आकस्मिक रूप से स्कन्दगुप्त वहाँ पहुंच जाता है और देवसेना की प्राणरक्षा करता है । आपके नाटक `राज्यश्री` में भी विकटघोष ह्वेनसांग को बलि देने की तैयारी करता है तभी अकस्मात् तेज आंधी आती है और चतुर्दिक अंधकार छा जा जाता है,जिसमें ह्वेनसांग को भाग निकलने का अवसर मिल जाता है ।

अंधविश्वास और जादू-टोने पर विश्वास को नाटक में स्थान देना और उनका कुपरिणाम दिखाना भी पाश्चात्य प्रभाव का प्रतीक है । यह प्रभाव भी शेक्सपियर के नाटकों द्वारा हिन्दी नाटकों में आया । प्रसाद जी के `विशाख` में एक बौद्ध भिक्षु तरला को धोखा देकर जादू से उसके आभूषण दुगने करने का लोभ देकर उसके सारे आभूषण लेकर भाग जाता है ।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुकूल नायक राजपरिवार का तथा सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए,परन्तु पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप नायक निम्नवर्ग के दोषों से युक्त पुरुष होने लगे । प्रसाद के `अजातशत्रु` का नायक क्रोधी, पितृ द्रोही, कपटी और द्वेषी है । लक्ष्मीनारायण मिश्र के प्राय: सभी सामाजिक नाटकों के पात्र साधारण वर्ग के पुरुष हैं,जो मानवीय दुर्बलताओं से युक्त हैं ।

---

१ `नाटक की परख` : डा० एस०पी० खत्री,तृतीय संस्करण,पृ०६४

शेक्सपियर ने स्वच्छन्दतावाद की शैली को अपना कर नाटकों में संकलनत्रय की उपेक्षा की अभिव्यंजना प्रणाली का सूत्रपात किया[1]। शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावादी नाटकों के प्रभाव स्वरूप नाटक में उन्मुक्त प्रेम का वर्णन होने लगा। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक `सन्यासी` में किरणमयी और मालती का प्रेम तथा आपके `मुक्ति का रहस्य` की आशा देवी का प्रेम उन्मुक्त प्रेम का उदाहरण है। `राजयोग` में बिहारी लाल की पत्नी का अपने नौकर से अनैतिक सम्बन्ध, स्वच्छन्दतावाद का स्पष्ट प्रभाव है।

इस युग के नाटकों पर इब्सन का प्रभाव अधिक पड़ा। इब्सन के प्रभाव स्वरूप नाटकों में बुद्धिवादी यथार्थवाद का प्रचलन हुआ। इस विषय में रामचरण महेन्द्र का कहना है कि `इब्सन ने १९ वीं शताब्दी के अंग्रेजी नाटकों को अतिभावुक, जीवन से दूरी, कल्पना तथा जीर्ण शीर्ण मान्यताओं से मुक्त कर नये प्रकार के स्वाभाविक यथार्थवाद घरेलू नाटक की नींव डाली। उनके नाट्य साहित्य में भावुकतापूर्ण सौन्दर्य, कल्पनाजन्य साहित्य साधना के स्थान पर वर्तमान सामाजिक संघर्ष से उत्पन्न जटिलताएं नये युग की समस्याएं और नग्न यथार्थवादी जीवन की झांकियां दिखाई गईं। कृत्रिमता के विरुद्ध आवाज ऊंची की गई। उन्होंने यथार्थवाद का प्रचार किया। पुरानी बनावटी प्रणाली, काव्यमय कथोपकथन, पुराना रंगमंच आदि अस्वाभाविकताओं का बहिष्कार किया और नये यथार्थवादी आदर्शों का प्रचार किया[2]। `डा० नगेन्द्र के अनुसार हिन्दी नाटकों में इब्सन के प्रभावस्वरूप निम्न परिवर्तन परिलक्षित होते हैं-- नाटक समस्या प्रधान हो गये तथा इनमें मनोविश्लेषण की शैली को स्थान मिला। कथा तथा उसकी गति पर किसी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं रह गया। नाटक का अन्त दु:ख या अनिश्चय में होने लगा। स्वगत, अर्ध स्वगत, अश्राव्य, नियत श्राव्य आदि रूपान्तरित होकर आने लगे। रंग संकेत लम्बे होने

---

१ `हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव` : विश्वनाथ मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०१४
२ `हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास` : रामचरण महेन्द्र, पृ०६२

लगे तथा अंकों में दृश्यों का कोई निश्चित विधान नहीं रह गया । चित्रों में बारीकी आ गई, परन्तु रंगमंच का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण इनमें कहीं-कहीं त्रुटियां भी मिलती हैं । गीति नाट्य का अभाव हो गया[१]।

डा० एस०पी० खत्री के अनुसार --' यों तो अठारहवीं शताब्दी के नाटककारों ने इस विषय पर अनगिनत नाटकों की रचना की, परन्तु जिस दृष्टिकोण से आधुनिक नाटककारों ने इब्सन से प्रभावित होकर वैवाहिक जीवन के प्रश्नों को सुलझाया वह नितान्त नूतन तथा मौलिक है[२]।'

इस प्रकार इब्सन के यथार्थवाद के परिणामस्वरूप हिन्दी नाटकों में धर्म और भावुकता के स्थान पर तर्क तथा बुद्धि का प्राधान्य हो गया । समाज के उपेक्षित तथा निम्न वर्ग के दु:खों, यातनाओं तथा कष्टों का यथार्थ चित्रण किया जाने लगा । सामाजिक समस्याओं तथा वर्ण संघर्ष और व्यक्तिगत संघर्ष को नाटक में स्थान प्राप्त हुआ । समस्या के अन्तर्गत विवाह और प्रेम की समस्याओं को प्रमुखता प्रदान की गई । संक्षिप्त तथा सरल संवादों का प्रचलन हुआ पात्र भी आदर्श पुरुष न होकर साधारण पुरुष होने लगे । डा० एस०पी० खत्री ने भी यथार्थवादी नाटकों का उद्देश्य 'दैनिक जीवन का प्रदर्शन तथा सामयिक समस्याओं का अनुशीलन' माना है[३]।

इब्सन के बुद्धिवादी यथार्थवाद को सर्वप्रथम लक्ष्मीनारायण-मिश्र ने अपनाया । बुद्धिवादी नाटकों के विषय में डा० एस०पी० खत्री का विचार है कि --' बुद्धिवादी नाटक परम्परा के अन्तर्गत एक विशेष प्रकार के नाटक का जन्म हुआ । इनमें किसी समस्या-(राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक) पर एक वाद-विवाद के रूप में प्रकाश डालते हुए पक्ष और विपक्ष दोनों का समर्थन किया गया । समस्यात्मक रचनाशैली को अनेक आधुनिक नाटककारों ने अपनाया और इनकी परम्परा अंग्रेजी नाटककारों ने चलाई[४]।'

---

१ 'आधुनिक हिन्दी नाटक' : डा० नगेन्द्र, चतुर्थ संस्करण, पृ०४७

२ 'नाटक की परख' : डा० एस०पी० खत्री, तृतीय संस्करण, पृ०६८

३ वही, पृ०८०

४ वही, पृ० ६२-६३

इब्सन के प्रभावस्वरूप हिन्दी नाटकों में नारी जागृति तथा नारी समस्या को स्थान मिला तथा उसे पुरुषों के समान पूर्ण और स्वतन्त्र दिखाया गया। इसी प्रभाव के कारण प्रसाद के चन्द्रगुप्त में कल्याणी पुरुष वेश में युद्ध-भूमि में आती है और अलका युद्ध में अनेक आक्रमणकारियों का वध करती है। कार्नेलिया विवाहित स्त्रियों के विषय में कहती है-- 'धनियों के प्रमोद का कटा-छंटा हुआ शोभा वृक्ष। कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी, कुतर दी गई, माली के मन से संवरे हुए गोल मटोल खड़े रहो।'[1] 'ध्रुवस्वामिनी तथा कोमा दोनों ही नारी जागृति की प्रतीक हैं। रामगुप्त द्वारा शकराज के शिविर में भेजे जाने का समाचार पाकर ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त से रक्षा का अनुरोध करती है,परन्तु जब रक्षा का आश्वासन नहीं मिलता तब स्वयं अपनी रक्षा में सन्नद्ध होती है। वह कहती है--' नहीं मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी। मैं उपहार में देने की वस्तु शीतलमणि नहीं हूं। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूंगी'[2]। कोमा भी स्त्री जाति के अपमान को उचित नहीं समझती है। वह शकराज को, ध्रुवस्वामिनी का अपमान करने से रोकती है और उसके न मानने पर उसे छोड़कर चली जाती है। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में सरमा भी अपने पति से कहती है कि उसे सारे अधिकार हैं,परन्तु उसकी सहज स्वतन्त्रता का अपहरण करने का अधिकार नहीं है[3]। इसी प्रकार उदयशंकर भट्ट ने नाटक 'विक्रमादित्य' में चन्द्रलेखा और अनंगमुद्रा का स्त्री होकर भी युद्ध-भूमि में जाने का उल्लेख मिलता है।

पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप युद्ध मृत्यु आदि वर्जित दृश्यों का वर्णन होने लगा। प्रसाद के सभी ऐतिहासिक नाटकों में युद्ध,वध,हत्या आदि का वर्णन मिलता है। गोविन्द वल्लभ पंत के 'वरमाला' और 'राजमुकुट' में भी युद्ध,हत्या और वध का वर्णन है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'मुक्ति का रहस्

---

१ 'चन्द्रगुप्त' : जयशंकर प्रसाद,पृ०२४६

२ 'ध्रुवस्वामिनी': जयशंकर प्रसाद, इक्कीसवां संस्करण,पृ०१८८

३ 'जनमेजय का नाग यज्ञ' : जयशंकर प्रसाद, आठवां संस्करण,पृ०३६

में उमाशंकर की पत्नी की मृत्यु और `सिन्दूर की होली` में मनोजशंकर के पिता तथा रजनीकान्त की हत्या के दृश्य चित्रित किए गए हैं। उदयशंकर भट्ट के नाटक विक्रमादित्य में चन्द्रलेखा तथा सोमेश्वर की मृत्यु दिखायी गयी है। आपके नाटक `अम्बा` में भी अम्बा गंगा के अथाह जल में कूद कर प्राण विसर्जन करती है।

इस युग के समस्या-नाटकों पर फ्रायड के काम भावना के सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का प्रत्येक कार्य काम भावना से प्रेरित होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटकों पर इसका स्पष्ट प्रभाव है। आपके नाटक `सन्यासी` में किरणमयी का विवाह एक वृद्ध से हो जाता है,परन्तु वह मुरलीधर से अपना शारीरिक सम्बन्ध रखती है। मुरलीधर भी इसी भावना के वशीभूत हो किरणमयी का कौमार्य भंग करता है। `राक्षस का मन्दिर` में भी वेश्या समस्या को नाटक का विषय बनाया गया है। असगरी नाम की वेश्या से रामलाल और उनका पुत्र रघुनाथ दोनों ही प्रेम करते हैं। आपके नाटक `आधीरात` में मायावती तीन पुरुषों से प्रेम करती है।

इस प्रकार प्रसाद-युग में पाश्चात्य प्रभाव का अधिक स्पष्ट तथा प्रखर रूप दृष्टिगोचर होता है।

प्रसादोत्तर नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव

पाश्चात्य साहित्यिक विचारधारा का अमिट प्रभाव प्रसादोत्तरकालीन नाटकों पर पड़ा। इस युग के नाटकों पर पाश्चात्य उपयोगितावाद का बहुत प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप नाटकों में लोकमंगल की भावना, नारी के प्रति उच्च भावना और शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति की भावना का उदय हुआ। इसके अतिरिक्त इस युग के नाटकों में प्रसादकालीन पाश्चात्य प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक `नारद की वीणा` में सहशिक्षा तथा स्त्री पुरुष संबंध की समस्या पायी जाती है। `कर्ण` में भी अविवाहित कुन्ती के पुत्र कर्ण की समाज में क्या स्थिति है, इसका चित्रण मिलता है। उपेन्द्रनाथ अश्क के `कैद` नाटक में स्त्रीपुरुष समस्या उठाई गई है। अप्पी दिलीप को प्यार करती है,परन्तु उसे प्राणनाथ से विवाह करना पड़ता है। वह अपने जीवन में घुटती

रहती है । इब्सन के बुद्धिवाद के प्रभावस्वरूप आपके 'उड़ान' नाटक में नारी को भोग्या सम्पत्ति और पूज्य न मान कर उसे सहचरी बताया गया है । माया कहती है कि ऊँचे शिखर और अँधेरे गड्ढे उसके आदर्श नहीं है वह समतल धरती चाहती है ।

इसके अतिरिक्त पृथ्वीनाथ शर्मा के 'अपराधी' में अपराध का मनोवैज्ञानिक चित्रण है । इस मनोविज्ञान का प्रभाव वृन्दावन लाल वर्मा के 'खिलौने की खोज' में भी दृष्टिगत होता है । इसमें दमित इच्छा का कुपरिणाम दिखाया गया है । सलिल और सरूपा का प्रेम सफल नहीं हो पाता, फलस्वरूप सरूपा की शादी सलिल से नहीं होती । सलिल सरूपा के चित्रों से अपने को बहलाता है परन्तु सरूपा को दमित इच्छा के फलस्वरूप उसे क्षय जैसा रोग हो जाता है ।

पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप ही हरिकृष्ण प्रेमी के 'बन्धन' नाटक में मिल मजदूरों के हड़ताल और सत्याग्रह आदि के चित्रण किये गये हैं । इसमें मिल मजदूर की अवस्था का यथार्थ चित्रण हुआ है । अश्क जी के नाटक 'छठा बेटा' में भी एक वृद्ध पिता की जिसे उसके पुत्र अवहेलना करते हैं, का यथार्थ चित्रण किया गया है । जीवन का यह यथार्थ चित्रण आधुनिक नाटकों की विशेषता है । डा० रामकुमार वर्मा ने जीवन की वास्तविकता को आधुनिक नाटक का आधार माना है[1] । ~~डा० एस०पी० खत्री ने भी यथार्थवादी नाटकों का उद्देश्य 'दैनिक जीवन का प्रदर्शन तथा सामयिक समस्याओं का अनुशीलन' माना है ।~~

इसके अतिरिक्त अनेक वर्जित दृश्यों का चित्रण भी इस युग के नाटकों में प्राप्त होता है । युद्ध, हत्या, मृत्यु आदि का वर्णन अनेक नाटकों जैसे लक्ष्मी-नारायण मिश्र के 'दशाश्वमेध', सेठ गोविन्ददास के 'सेवापथ', हरिकृष्ण प्रेमी के 'स्वप्नभंग', उपेन्द्रनाथ अश्क के 'जयपराजय' आदि में देखने को मिलते हैं ।

पाश्चात्य प्रभावस्वरूप हिन्दी नाटकों में छाया नाटक, ध्वनि-नाटक, स्वोक्ति नाटक आदि का प्रचलन प्रारम्भ हुआ । हिन्दी नाटककारों पर इब्सन, शा, ~~मार्क्सवादी~~ साम्यवादी, बर्टेण्ड रसेल, स्ट्रिण्डबर्ग, मार्क्स, मेटरलिंक आदि का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है । उपेन्द्रनाथ अश्क के अनुसार आधुनिक गम्भीर एकांकियों पर स्ट्रिंडबर्ग

---

1 'रेशमी टाई' : डा० रामकुमार वर्मा, चतुर्थ संस्करण, मेरा अनुभव, पृ०१०

~~2 नाटक की परख : डा० एस०पी० खत्री, तृतीय संस्करण, पृ०८०~~

के 'द स्ट्रौगंर' ओ' नोल के 'विफोर द ब्रेक' और बैरो के विल का प्रभाव पड़ा । प्रहसन पर अनातोले फ्रांस के 'अ मैन टू मैरिड अ डम्ब वाइफ', स्टैनले हाउटन के 'डियर डिपार्टेड' ए०ए० मिल्ने के 'मिस्टर पिन पासेज बाई' और चेखव के 'रोछ' जिसे 'गंवार' नाम से भी जाना जाता है, का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है[1]। सेठ गोविन्ददास ने भी अपने मोनोड्रामा पर ब्राउनिंग स्ट्रेण्डबर्ग और ओ'नोल का प्रभाव माना है[2]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी नाटकों के सभी तत्वों को पाश्चात्य प्रभाव ने प्रभावित किया । इसके अतिरिक्त तर्क प्रधान यथार्थ बुद्धिवाद का प्रारम्भ भी पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही हुआ । सामाजिक समस्या नाटकों के प्रादुर्भाव में बुद्धिवाद का विशेष योग रहा है । इस प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी नाटक यथार्थ जीवन से अधिकाधिक सम्बन्धित होता जा रहा है,उसमें जीवन का यथार्थ चित्रण होता है,जिसका प्रभाव अधिक होता है । इस तरह पाश्चात्य प्रभाव द्वारा नाटकों में यथार्थता तथा प्रभावोत्पादकता का समावेश हुआ ।

हिन्दी एकांकी

एकांकी के जन्म का कारण था अवकाश का अभाव । आज के वैज्ञानिक युग में किसी के पास इतना समय नहीं है कि बड़े-बड़े नाटक देख सके अथवा पढ़ सके । इसके अतिरिक्त 'दर्शकों की रुचि भी आफिस से लौटे क्लर्कों की तरह उत्साहहीन और शिथिल हैं । इसलिए बड़े नाटकों का अभिनय भी कठिन हो गया है । वर खोजने की भांति नाटक ~~नाटक~~ खोजे जाते हैं और उनका अभिनय भी कन्या के विवाह की भांति ही कष्टसाध्य है[3]।' इसलिए किसी ऐसे साधन की आवश्यकता प्रतीत हुई जो कम समय में अधिक से अधिक मनोरंजन दे सके । फलत: एकांकी का जन्म हुआ जो अपने लघु रूप के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय बन गया । नन्ददुलारे वाजपेयी ने एकांकी का प्रणयन उन्हीं प्रेरणाओं के फलस्वरूप माना है,जिनके

---

१ २५ श्रेष्ठ एकांकियां, उपेन्द्रनाथ अश्क, प्रथम संस्करण,पृ०१५

२ 'चतुष्पथ की भूमिका' : सेठ गोविन्ददास

३ 'आजकल', अगस्त १९५१ : डा० रामकुमार वर्मा

फलस्वरूप उपन्यासों के स्थान पर लघु कहानी का प्रणयन प्रारम्भ हुआ[1]। जगदीश-चन्द्र माथुर ने भी छोटी कहानियों के समान ही छोटे एकांकी को समय की मांग माना है[2]। डा० नगेन्द्र ने एकांकी के प्रणयन के मूल में नवीन शैली के आकर्षण के साथ-साथ मंच का आग्रह भी माना है,क्योंकि आजकल कालेज और क्लब के स्टेज पर उसकी मांग बढ़ती जा रही है[3]।

पहले नाटक प्रारम्भ होने में देर होती थी, उस समय का सदुपयोग करने के लिए छोटे-छोटे प्रहसन अथवा नाटक खेले जाते थे। कालान्तर में इन्होंने ही एकांकी का रूप धारण कर लिया। बाबू गुलाबराय के शब्दों में--"प्रधान नाटक के आरम्भ के पूर्व कुछ छोटे नाटकीय दृश्य दिखाये जाते थे। लोग उन्हें अधिक पसन्द करने लगे। आधुनिक एकांकी नाटकों का इन्हीं से उदय हुआ। ये नाटक समय की बचत करने वाली मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल हुए[4]।"

हिन्दी एकांकी के उद्भव के विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों ने इसे संस्कृत नाट्यशैली से उद्भूत माना है और कुछ अन्य ने इसे पाश्चात्य नाटकों की देन माना है।

हिन्दी एकांकी को पश्चिम का देन मानने वाले विद्वानों का मत है कि हिन्दी एकांकी सर्वथा नई विधा है जो पश्चिम से यहां आयी है। डा० नगेन्द्र इस विषय में कहते हैं कि " ----- हमें सत्य की रक्षा के लिए थोड़ी देर अपने देश-प्रेम को दबाकर स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी का एकांकी उसकी कहानी की तरह पश्चिम से ही आया है[5]।" प्रो० अमरनाथ गुप्त ने भी हिन्दी एकांकी को पाश्चात्य साहित्य की देन माना है --" हिन्दी साहित्य में एकांकी अभी हाल ही में लिखे जाने लगे हैं। अंग्रेजों के आने से पहले एकांकी न थे[6]।" डा० रामकुमार वर्मा के

---

१ 'वीणा',अगस्त १९४०ई० : नन्ददुलारे वाजपेयी
२ 'आलोचना',जनवरी १९५३ई०, पृ०२९
३ 'एकांकी' : सम्पा० डा० नगेन्द्र,'हिन्दी एकांकी',पृ०६
४ 'हिन्दी नाट्य विमर्श' : बाबू गुलाबराय,पृ०७६
५ 'आधुनिक हिन्दी नाटक' : डा० नगेन्द्र,चतुर्थ संस्करण,पृ०११९
६ 'एकांकी नाटक' : प्रो० अमरनाथ गुप्त, पृ०३८ ।

अनुसार एकांकी का प्रारम्भ कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में हुआ है, कुछ तो पाश्चात्य नाट्य कला के प्रभाव से और कुछ असुविधाजनक रंगमंच के कारण एकांकी का प्रणयन प्रारम्भ हुआ[1]। डा० एस०पी०खत्री के अनुसार एकांकी अंग्रेजी साहित्य की देन है। आपने अपने विचार का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "एकांकी जब २० वीं शताब्दी में शुरू हुआ तो स्पष्ट है कि उसपर अंग्रेजी का प्रभाव है न कि संस्कृत का[2]।"

इसके विपरीत दूसरा मत है कि एकांकी संस्कृत की देन है। इस विषय में पं० सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि "योरोपीय साहित्य में चोलपट के आविष्कार की प्रतिक्रिया के रूप में एकांकी नाटकों की सृष्टि हुई। जिन्होंने संस्कृत साहित्य का अध्ययन नहीं किया है, उनका यही विश्वास है कि एकांकी नाटक भी वैज्ञानिक आविष्कारों के समान ही बीसवीं शताब्दी की देन है। किन्तु एकांकी नाटक का प्रारम्भ ईसा से बहुत पहले भास ने कर दिया था जिसका 'मध्यम व्यायोग' उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है[3]।" पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार -- "जो एक व्यक्ति अंग्रेजी में एक अंक वाले आधुनिक नाटक देख उन्हीं के ढंग के दो-एक एकांकी नाटक लिखकर उन्हें बिल्कुल नई चीज कहते हुए सामने लाए। ऐसे लोगों को जान रखना चाहिए कि एक अंक वाले कई उपरूपक हमारे यहाँ बहुत पहले से माने गये हैं[4]।" सद्गुरुशरण अवस्थी का कहना है कि "यह न समझना चाहिए कि भारतवर्ष में एकांकी थे ही नहीं[5]।" डा० रामचरण महेन्द्र ने हिन्दी एकांकी का आदिरूप वैदिक साहित्य में प्राप्त संवाद सूक्तों को माना है[6]। आपका विचार है कि हिन्दी एकांकी संस्कृत से नाटकीय शिल्प, हिन्दी कवियों से कथोपकथन और समाज में प्रचलित लोक नाटकों से अभिनय और रंगमंच लेकर विकसित हुई है[7]। डा० दशरथ ओझा के अनुसार "एकांकी नाट्य शैली यूरोप से

---

१ 'रजत रश्मि' : डा० रामकुमार वर्मा, भूमिका, 'इन नाटकों की शैली', पृ०६
२ 'नाटक की परख' : डा० एस०पी० खत्री, तृतीय संस्करण, पृ०२६१
३ 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' : पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ०११०
४ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : पं० रामचन्द्र शुक्ल, आठवां संस्करण, पृ०५
५ 'नाटक और नायक' : श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, पृ०४
६ 'हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास' : रामचरण महेन्द्र, प्रथम संस्करण, पृ०३
७ वही, पृ०२१

गोद की हुई नहीं,प्रत्युत अपने ही वंश में उत्पन्न हुई है[1]। "डा०लक्ष्मीनारायण लाल ने भी हिन्दी एकांकी को स्वजातीय माना है । आपके अनुसार --"जिस साहित्यिक परम्परा, जिन सहज शक्तियों से हिन्दी एकांकी की उपलब्धि हुई है वे विशुद्धरूप से अपनी हैं, स्वजातीय हैं,उसके सारे संस्कार अपने हैं,वे सारे स्वर अपने हैं[2]।"डाक्टर सोमनाथ गुप्त ने भी हिन्दी एकांकी का जन्म संस्कृत की परम्परा से माना है । अपने एकांकियों के रूप को देखते हुए तो यही कहना पड़ेगा कि हिन्दी एकांकी का जन्म संस्कृत की परम्पराओं के अनुकरण द्वारा भारतेन्दु से हुआ और अपने विकास की वर्तमान अवस्था में उसपर अंगरेजी और पश्चिम की देन है नितान्त भ्रमपूर्ण है[3]।"

इससे स्पष्ट है कि हिन्दी एकांकी का जन्म संस्कृत परम्परा से हुआ है । पहले भी संस्कृत में एक अंक के नाटक जैसे भाण,व्यायोग, अंक वीथी आदि लिखे जाते रहे हैं । एकांकी को इन्हीं का परिवर्तित रूप कहा जा सकता है । इस प्रकार के अनेक एकांकी भारतेन्दु जी ने भी लिखे हैं । श्रीपति शर्मा के अनुसार -- "भारतेन्दु ने जिस समय अपने नाटकों का लिखना प्रारम्भ किया, उस समय तो योरोप में भी एकांकियों का जन्म नहीं हुआ था उसका नाम भी कोई नहीं जानता रहा होगा । फलत: उनके आधार पर हिन्दी में एकांकी कैसे लिखे जा सकते हैं[4]।"

अत: यह स्वयं सिद्ध है कि हिन्दी एकांकी भारतीय उपरूपकों की परम्परा से प्रारम्भ हुआ । इनका प्रचलित रूप जननाटकों तथा रास आदि में मिलता है । ओझा जी के अनुसार --"हिन्दी एकांकी की प्रथम अवस्था जैन लघु रास में तथा दूसरी अवस्था वैष्णव रास में है । वैष्णव रास सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक निरन्तर गतिशील रहे । बीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु के हाथ में आकर एकांकी ने विविध वेश धारण किया । कभी वह संस्कृत के 'भाण' का रूप धारण करता और कभी रास की पद्धति पर एक नये वेश में प्रगट होता[5]।"आपने रास का विकसित रूप गीतिनाट्य को माना है और गीति नाट्य को हिन्दी का प्रारंभिक

---

१ 'हिन्दी नाटक' : उद्भव और विकास' : डा० दशरथ ओझा,प्रथम संस्करण, पृ०४८८ ।

२ 'भारतीय नाट्य साहित्य' ०,सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ,सम्पा०डा० नगेन्द्र, डा० लक्ष्मीनारायणलाल -'हिन्दी में एकांकी का स्वरूप',पृ०६६ ।

३ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' : डा० सोमनाथ गुप्त,चतुर्थ संस्करण,पृ०२०२।

४ 'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव': श्रीपति शर्मा,पृ०२६२

५ 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' : डा० दशरथ ओझा,प्रथम संस्करण,पृ०४८८ ।

एकांकी नाटक माना है[१]। रामचरण महेन्द्र के अनुसार --"इन सभी धार्मिक जन नाटकों ने एकांकी के विकास तथा उनकी लोकप्रियता में महत्वपूर्ण भाग लिया है[२]।" आपने लोकप्रचलित स्वांग को हिन्दी एकांकी का पूर्वज माना है --"मेरा विचार है कि स्वांग तथा नौटंकी का आज तक चली आती हुई लोकप्रियता यह सिद्ध करती है कि स्वांग एकांकी का पूर्वज है[३]।" इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि एकांकी का जन्म पाश्चात्य नाट्य साहित्य से न होकर संस्कृत नाट्य साहित्य से हुआ। हिन्दी एकांकी संस्कृत रूपकों का विकसित रूप है। आधुनिक एकांकियों के पाश्चात् कलेवर को जिसे उसने पाश्चात्य प्रभावस्वरूप गृहण किया है,देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि एकांकी का जन्म भी पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप हुआ।

जिस प्रकार एकांकी के जन्म के विषय में मतभेद है,उसी प्रकार प्रथम एकांकीकारम्भ किसे माना जाय, इस विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। प्रो० सत्येन्द्र ने भारतेन्दु जी को एकांकी का जन्मदाता माना है। आपका कथन है कि "उन्होंने भाण लिखा एक नाट्य रासक लिखा, एक सट्टक लिखा। ये तीनों ही एकांकी नाटक हैं और अनुवाद नहीं है। इससे यह कहा जा सकता है कि नाटकों का ही नहीं एकांकी नाटकों का भी आरम्भ भारतेन्दु जी ने किया[४]।" डाक्टर दशरथ ओझा ने भी भारतेन्दु जी को ही एकांकी का जन्मदाता माना है। आपके विचार से --"भारतेन्दु के नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'नील देवी' को एकांकी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए[५]।" परन्तु कुछ अन्य विद्वानों ने प्रसाद जी को प्रथम एकांकीकार तथा उनके नाटक 'एक घूंट' को प्रथम एकांकी माना है। डा० रामचरण महेन्द्र के अनुसार --"नई शैली के वास्तविक हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूंट' से होता है। वर्तमान एकांकी टेकनीक का इसमें पूर्ण निर्वाह हुआ है तथा इसी कारण यह एक सफल

---

१ 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास': डा० दशरथ ओझा,प्रथम संस्करण,पृ०८४

२ 'हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास' : रामचरण महेन्द्र,पृ०८

३ वही, पृ०६

४ 'हिन्दी एकांकी' : प्रो० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण,पृ०१०

५ 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' : डा० दशरथ ओझा,प्रथम संस्करण,पृ०४८५

एकांकी है[1]।' डा० नगेन्द्र का विचार है कि --' प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है इसीलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते,यह बात मान्य नहीं । एकांकी की टेक्नीक का 'एक घूंट' में पूरा निर्वाह है[2]।' बच्चन सिंह के अनुसार --' हिन्दी एकांकी का विकास क्रम निर्धारित करने के लिए 'एक घूंट' को प्रथम हिन्दी एकांकी मान लेना असंगत न होगा[3]।' डा० दशरथ ओझा ने भी 'एक घूंट' को ही हिन्दी का प्रथम एकांकी माना है[4]। डा० बच्चन त्रिपाठी ने भी इसका समर्थन किया है[5]। इस प्रकार हिन्दी एकांकियों का प्रारम्भ प्रसाद जी से मान लेना अत्युक्ति न होगी ।

हिन्दी एकांकी का पथ प्रदर्शक डा० रामकुमार वर्मा को माना जाता है । कुछ विद्वान उन्हें एकांकी का जनक और एकांकी का सम्राट भी कहते हैं । परन्तु कुछ लोग इससे सहमत नहीं हैं । प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त का कहना है कि --' वर्मा जी को पथ प्रदर्शक के रूप में में हम नहीं देख सके ...... एकांकी नाटक को अथवा हिन्दी साहित्य को यहाँ कोई नया पथ नहीं सुझाया गया । सरस भाषा और भावुकता जो उनके नाटकों के प्रधान गुण हैं,वर्मा जी की निजी सम्पत्ति है । टेक्नीक इत्यादि में वर्मा जी ने कुछ नया अन्वेषण नहीं किया[6]।' हिन्दी एकांकी की परम्परा भारतेन्दु से प्रारम्भ अवश्य हुई थी,परन्तु डा० रामकुमार वर्मा के प्रादुर्भाव से पूर्व कुछ गिने चुने ननटक ही लिखे गये थे । संस्कृत की शैली के आधार पर एकांकियों में नवीनता का समावेश कर उसे नवीन रूप में लाने का कार्य वर्मा जी ने किया अत: उन्हें एकांकी का पथ प्रदर्शक मान लेने में कोई हानि नहीं है । 'एकांकी उस समय हिन्दी में स्वयं ही साहित्य का

---

१ 'हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास' : रामचरण महेन्द्र,पृ०११७

२ 'आधुनिक हिन्दी नाटक' : डा० नगेन्द्र, चतुर्थ संस्करण,पृ०१२३

३ 'हिन्दी नाटक' : बच्चन सिंह,द्वितीय संस्करण,पृ०२१६

४ 'सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ' (भारतीय नाट्य साहित्य) :सम्पा०डा० नगेन्द्र,लेखक - दशरथ ओझा, पृ०९६ ।

५ 'हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण मिश्र : डा० बच्चन त्रिपाठी,प्रथम संस्करण, पृ०११२ ।

६ 'एकांकी नाटक' : प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, हंस ,मई,१९३२,पृ०७२३

नयी शाखा थी, अत: उसमें नयी टेक्नीक से प्रणीत: युक्त एकांकी प्रस्तुत करना भी पथ-प्रदर्शक कहा जा सकता है[1]।' एक अन्य स्थान पर आपने कहा है कि --' यद्यपि कोई भी व्यक्ति एकांकियों का पथ प्रदर्शक माना जा सकता है तो उसमें वर्मा जी का ही नाम लिया जायेगा[2]।' श्रीपति शर्मा ने माना है कि -- 'वस्तुत: पश्चिम के ढंग के एकांकियों का सूत्रपात डा० रामकुमार वर्मा ने किया[3]।' प्रो० अमरनाथ गुप्त के अनुसार --' रामकुमार वर्मा ने आधुनिक ढंग के एकांकी लिखने की नींव डाली[4]।' 'प्रसाद ने 'एक घूंट' की रचना में भारतीयनाट्य शास्त्र की पद्धति का ही अनुसरण किया है । अपने नाटक में उन्होंने आधुनिक पाश्चात्य ढंग के एकांकी के प्रयोगों पर ध्यान नहीं दिया है । जिस अर्थ में आधुनिक एकांकी का प्रयोग हुआ वह हिन्दी में सर्वप्रथम डा० वर्मा द्वारा ही सम्पन्न हुआ है[5]।'

निष्कर्ष यह है कि एकांकी का जन्म संस्कृत प्रणाली से हुआ और हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद जी के 'एक घूंट' से हुआ तथा आधुनिक नवीन टेक्नीक से युक्त एकांकियों का प्रणयन डा० रामकुमार वर्मा ने प्रारम्भ किया ।

एकांकी का विकास

हिन्दी एकांकी के विकास की चार अवस्थाएं मानी जाती हैं-- प्रथम अवस्था भारतेन्दु जी के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' से प्रारम्भ होता है । इस समय नाटकों पर संस्कृत प्रभाव तो था ही साथ ही पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ रहा था । इन सब के साथ हिन्दी नाटक जन रंगमंच से भी प्रभाव ग्रहण कर रहा था । अत: इस समय तीन प्रकार के एकांकी प्राप्त होते हैं । एक तो वे जो नाट्य-शास्त्र के अनुकूल थे,दूसरे पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित तथा तीसरे जन रंगमंच से प्रभावित । इस समय एकांकी के चार रूप मिलते हैं-- राष्ट्रीय ऐतिहासिक,

---

१ 'हिन्दी एकांकी' : प्रो० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण,पृ०४६

२ वही, पृ०४६

३ 'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव' : श्रीपति शर्मा, प्रथम संस्करण,पृ०४२३

४ 'एकांकी नाटक' : प्रो० अमरनाथ गुप्त, पृ०७३

५ 'हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास' : रामचरण महेन्द्र,पृ०१३६

सामाजिक, पौराणिक तथा हास्य व्यंग्य प्रधान । इन नाटकों पर बंगला और अंग्रेजी का प्रभाव पड़ रहा था परन्तु उनकी आत्मा संस्कृत शैली से अनुप्राणित थी ।

एकांकी की दूसरी अवस्था प्रसादकाल को मान सकते हैं । इस समय का प्रथम एकांकी प्रसाद जी का 'एक घूंट' है । अब तक छोटे नाटक ही एकांकी कहे जाते थे, परन्तु इस समय तक हिन्दी एकांकी ने अपना स्वतन्त्र रूप बना लिया था । इस समय के एकांकियों को देखने से ज्ञात होता है कि कुछ एकांकीकार अपनी कल्पना से किसी कथानक को एकांकी का रूप दे देते थे । वे नाटक और एकांकी में अन्तर नहीं करते थे । कुछ अन्य एकांकीकारों ने एकांकी की टेक्नीक के साथ-साथ कथानक भी पाश्चात्य से ग्रहण किया । कुछ एकांकीकार ऐसे भी हैं, जिन्होंने एकांकी की पाश्चात्य टेक्नीक को उसी रूप में न अपना कर आत्मसात् किया और पुन: अपनी कल्पना के संयोग से उसे एक नवीन रूप प्रदान किया ।

अपने विकास की तीसरी अवस्था तक आते-आते हिन्दी एकांकी पूर्णरूपेण विकसित हो चुका था । इस समय के एकांकियों में पाश्चात्य प्रभाव इस प्रकार घुल-मिलकर एकाकार हो गया कि उसमें भेद करना असम्भव हो गया । उस समय के एकांकियों में बुद्धिवाद की प्रधानता हो गई ।

विकास की चौथी अवस्था में हिन्दी एकांकी द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका से पुन: प्रभावित हुआ । फलस्वरूप इस समय एकांकी के विषय राष्ट्रीय आन्दोलन, राजनीतिक घटनाएं, भुखमरी, युद्ध की विभीषिका आदि होने लगे । साथ ही इन सब के प्रति विद्रोह तथा आक्रोश की भावना की प्रमुखता हो गई । इनके अतिरिक्त कुछ मानवतावादी एकांकी भी लिखे गये जिनका विषय पारिवारिक विषमताओं एवं सामाजिक रूढ़ियों आदि को बनाया गया ।

इस समय कुछ ऐसे एकांकी भी लिखे गये जिनमें नाटकीयता की अपेक्षा काव्यात्मकता की प्रधानता है । इन्हें भाव नाट्य का नाम दिया गया । भाव नाट्यों में भावनाओं, अनुभूतियों तथा आन्तरिक संघर्षों की प्रधानता रहती है । भाव नाट्यों का प्रयोग सर्वप्रथम उदयशंकर भट्ट ने किया ।

गीति नाट्य और भावनाट्य का अन्तर भी आपकी रचनाओं द्वारा ही प्रकट हुआ। गीतिनाट्य में स्वर और गेय तत्वों की प्रधानता होने के कारण मानसिक संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व अपने सुचारु रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पाता है। भावनाट्य में स्वर का बन्धन नहीं रहता, अत: मानसिक संघर्ष अपेक्षाकृत अधिक सफलता से व्यक्त किया जा सकता है। गीतिनाट्यों में प्रसाद जी का 'करुणालय' मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' तथा भावनाट्य में उदयशंकर भट्ट का 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'विक्रमोर्वशी', 'मेघदूत' आदि विशेष उल्लेखनीय है।

इस समय पद्य एकांकी भी लिखे गये, जिनका माध्यम पद्य होता है। इसके अतिरिक्त रेडियो एकांकियों का इस युग में विशेष प्रचलन हुआ।

एकांकी की विशेषता

एकांकी की अपनी कुछ विशेषतायें होती हैं जो उसे नाटक से पृथक् करती हैं। विभिन्न विद्वानों ने एकांकी की विभिन्न विशेषताएं बतायी हैं। डा० दशरथ ओझा के शब्दों में --" आज के एकांकी नाटकों का विश्लेषण करके हम कह सकते हैं कि जो नाटक एक अंक में समाप्त होने वाला, एक सुनिश्चित लक्ष्य वाला, एक ही घटना, एक ही परिस्थिति और एक ही समस्या वाला हो, जिसके प्रवेश में कौतूहल और वेग गति में विद्युत सक्रियता और तेजी, विकास में एकाग्रता और आकस्मिकता के साथ चरम सीमा तक पहुंचने की व्यग्रता हो और जिसका पर्यवसान चरमसीमा पर ही प्रभाव की तीव्रता के साथ हो जाता हो, जिसमें प्रासंगिक कथाओं का प्राय: निषेध, घटनाओं की विविधता का निवारण तथा चारित्रिक प्रस्फुटन में आदि, मध्य और अवसान का वर्जन हो, उसे एकांकी कहना चाहिए। तात्पर्य यह कि जिस नाटक में नायक जीवन के एक ही लक्ष्य को प्रमुखता देने के लिए उत्तेजक, सूचक अथवा प्रभाव व्यंजक पात्रों की सहायता से घटनाओं तथा भाव विचारों की तहें खोलता हुआ हमारी जिज्ञासा को उभार कर या तो संतुष्ट कर देता है अथवा किसी उलझन में ही छोड़ देता है,

वह एक अंक में समाप्त होने वाला नाटक एकांकी है[1]।'

संक्षिप्तता एकांकी की अपनी विशेषता होती है । एकांकी गागर में सागर की उपमा को चरितार्थ करता है।उसके छोटे कलेवर में जो इतनी प्रभावोत्पादकता तथा मनोरंजन की क्षमता होती है,जितनी बड़े नाटकों में भी सम्भव नहीं है,क्योंकि एकांकी संक्षिप्त होने के कारण विशृंखलता तथा विस्तार और उलझाव के दोषों से मुक्त होता है । अपने सुगठित गठन के कारण ही इसमें अधिक प्रभावोत्पादकता उपलब्ध होती है । इस विषय में उपेन्द्रनाथ अश्क ने लिखा है --' एकांकी जीवन के एक अंश का पृथक, विच्छिन्न चित्र उपस्थित करता है । जीवन की झांकी मात्र देता है । विभिन्नता के बदले एकीकरण विशृंखलता के बदले एकाग्रता, पूर्णता के बदले अपूर्णता, फैलाव के बदले सिमटाव, विस्तार के बदले संक्षिप्तता इसके गुण हैं[2]।' इस बात की पुष्टि प्रो० सत्येन्द्र ने भी की है । आपके शब्दों में --' एकांकी नाटक का सुनिश्चित और सुकल्पित एक लक्ष्य होता है । उसमें केवल एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या प्रबल होती है । कार्य कारण की घटनावली अथवा कोई गौण परिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का उसमें स्थान नहीं होता । एकांकी नाटक के वेग सम्पन्न प्रवाह में किसी प्रकार का अन्तर प्रवाह के लिए अवकाश नहीं होता । वह तो समूचा ही केन्द्रोमुख आकर्षण है[3]।' डा० नगेन्द्र के अनुसार --' एकांकी में हमें जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर उसके एक पहलू, एक महत्वपूर्ण घटना,एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलता है[4]।' सेठ गोविन्द-दास ने माना है कि एकांकी में सर्वप्रथम किसी एक मूल विचार की आवश्यकता है । विचार से आपका आशय किसी समस्या से है । विचार के पश्चात् संघर्ष अनिवार्य है।

---

१ 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' : डा० दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण,पृ०४७६।

२ 'प्रतिनिधि एकांकी', संकलनकर्ता- उपेन्द्रनाथ अश्क,आमुख,पृ०१६

३ 'हिन्दी एकांकी'; प्रो० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण,पृ०११८-११६ ।

४ 'एकांकी' : सम्पा० डा० नगेन्द्र, 'हिन्दी में एकांकी',पृ०३

यह संघर्ष आन्तरिक तथा बाह्य दोनों हो सकता है । आन्तरिक संघर्ष का अधिक महत्व है,क्योंकि इसमें मनोवैज्ञानिक चित्रण का समावेश हो सकता है । विचार और मनोरंजन को सम्बद्ध करने के लिए कथानक का निर्माण होता है । जो एकांकी जितने मनोरंजक और सुगठित कथानक के आधार पर लिखी जायगी और जिसमें जितना हो अधिक संघर्ष होगा तथा कथोपकथन जितने अधिक स्वाभाविक होंगे वह रचना उतनी ही श्रेष्ठ होगी[१]। एकांकी में कार्य व्यापार की सघनता तथा अन्विति आवश्यक है । उसका संक्षिप्त होना उसका प्रमुख विशेषता है । एकांकी जीवन की किसी एक समस्या या प्रसंग तक ही अपने को सीमित रखता है । सिद्धनाथ कुमार के अनुसार -- 'एकांकी एक या अनेक दृश्यों वाला वह संक्षिप्त नाट्य रूप है जो जीवन के किसी एक प्रसंग को अपना विषय बनाकर अपनी सघनता और अन्विति से अपने दर्शकों में पांच मिनट से लेकर एक घण्टे की अभिनय अवधि में ही अपेक्षित संवेग जगा पाता है[२]।'

एकांकी का विशेषता बताते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि --' एकांकी नाटक में एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा तक पहुंचती है । उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता । एक एक वाक्य और एक एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं । पात्र चार या पांच होते हैं । वहां केवल मनोरंजन के लिए अनावश्यक पात्र की गुंजाइश नहीं । प्रत्येक व्यक्ति की रूप-रेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भांति स्पष्ट और गहरी होती है । विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भांति खिल कर पुष्प का भांति विकसित हो उठती है । उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं[३]।'

संकलनत्रय का एकांकी में विशेष महत्व है । संकलनत्रय का अर्थ है कार्य संकलन, काल संकलन और स्थान संकलन । एकांकी में संकलनत्रय की

---

१ 'नाट्यकला मीमांसा' : सेठ गोविन्ददास,पृ०१५

२ 'हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास' : सिद्धनाथ कुमार,संस्करण १९६६, पृ०३२ ।

३ 'पृथ्वीराज की आंखें पूर्व रंग : डा० रामकुमार वर्मा,पृ०१५

आवश्यकता को रामचरण महेन्द्र ने भी माना है[१]। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि --" मेरी दृष्टि से एकांकी में `संकलनत्रय` का महत्वपूर्ण स्थान है। एक सम्पूर्ण कार्य एक स्थान पर एक ही समय में हो जाना, मैं एकांकी के लिए अनिवार्य समझता हूं[२]।" सिद्धनाथ कुमार[३] तथा उपेन्द्रनाथ अश्क[४] ने भी संकलनत्रय को एकांकी का बहुत बड़ा गुण माना है। परन्तु लक्ष्मीनारायणलाल का विचार है कि एकांकी में " संकलनत्रय संकलन-द्वय की सीमा और मर्यादा का कोई बन्धन नहीं है। सबकी अपेक्षा है और अमान्य स्थितियों में सब अग्राह्य भी है,केवल परम आवश्यक है एकांकी में एकाग्रता और एकान्त प्रभाव। इसकी प्राप्ति के लिए एकांकीकार जो भी तंत्र उसमें प्रस्तुत करता है,वस्तुत: वही एकांकी की शिल्प विधि है और वही एकांकीकार की अपनी मौलिकता की छाप है[५]।" डा० नगेन्द्र ने भी एकांकी के लिए एकता एवं एकाग्रता को अनिवार्य माना है। संकलनत्रय इसमें सहायक हो सकता है। परन्तु अनिवार्य नहीं[६]।

इससे ज्ञात होता है कि एकांकी में एक ही घटना प्रमुख होती है। यह घटना दैनिक जीवन से ली जाती है और उसका यथार्थ चित्रण होता है। संघर्ष एकांकी के लिए आवश्यक है। इसमें मनोवैज्ञानिक चित्रण को अधिक महत्व दिया जाता है। कौतूहल एकांकी का प्राण है। इसका अन्त चरम सीमा पर होता है। एकांकी का एक सुनिश्चित लक्ष्य होता है जहां तक कथा अत्यन्त तीव्र गति से चलती है। एकांकी में जीवन की गहन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न रहता है। इसमें कथोपकथन अत्यन्त संक्षिप्त होते हैं, पात्र उतना ही बोलता है जिससे कहानी आगे बढ़े तथा पात्रों के भावों और विचारों का परिचय मिल जाय।

---

१ `नई धारा`,अप्रैल १९५९ई०,पृ०१०१

२ `ऋतुराज`(पूर्वार्द्ध) : डा० रामकुमार वर्मा `,परिचय`,पृ०१८

३ `हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास` : सिद्धनाथ कुमार,संस्करण १९६६,पृ०५६ ।

४ `प्रतिनिधि एकांकी`,संकलनकर्ता उपेन्द्रनाथ अश्क,पृ०२२ ।

५ `भारतीय नाट्य साहित्य` : सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ ,सम्पा०डा० नगेन्द्र,`हिन्दी में एकांकी का स्वरूप` : लक्ष्मीनारायणलाल,पृ०१०२।

६ `एकांकी` सम्पा० डा० नगेन्द्र, `हिन्दी में एकांकी`,पृ०३ ।

कथोपकथन अत्यन्त स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी होते हैं। एकांकी की प्रमुख विशेषता उसकी संक्षिप्तता है।

एकांकी का वर्गीकरण

विभिन्न विद्वानों ने एकांकी के विभिन्न भेद किये हैं। डा० महेन्द्र के अनुसार एकांकी को निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं--(१) सुखान्त एकांकी, (२) दु:खान्त एकांकी, (३) प्रहसन, (४) फैंटेसी ,(६) झांकी, (७) संवाद या सम्भाषण, (८) स्वोक्ति रूपक या मोनोड्रामा, (६) रेडियो प्ले आदि।[१]

सुखान्त या दु:खान्त एकांकी में किसी आनन्ददायक अथवा दु:खपूर्ण क्षण की अभिव्यक्ति की जाती है। इसमें समाज की समस्याओं को एकांकी का विषय बनाया जाता है। प्रहसन में किसी सामाजिक बुराई पर व्यंग्य किया जाता है। इसका उद्देश्य समाज-सुधार करना होता है। फैंटेसी एकांकी रोमाण्टिक एकांकी होता है। इसमें स्वप्न के आधार पर किसी अत्यन्त रोमाण्टिक विषय का प्रतिपादन किया जाता है। गीतिनाट्य में गीत की प्रधानता होती है। गीत के माध्यम से नाटक प्रस्तुत किया जाता है। झांकी में किसी एक क्षण का विशेष का वर्णन रहता है। सम्भाषण में दो पात्रों के परस्पर वाद-विवाद द्वारा एकांकी का विकास होता चलता है। मोनोड्रामा में एक ही पात्र बोलता है। रेडियो प्ले में ध्वनि के उतार-चढ़ाव पर बल दिया जाता है।

विषय की दृष्टि से डा० महेन्द्र ने निम्न वर्गीकरण किया है-- (१) सामाजिक, (२) पौराणिक, (३) ऐतिहासिक, (४) राजनीतिक और (५) साहित्यिक।[२] मूल प्रवृत्ति के आधार पर प्रो० सत्येन्द्र ने निम्न भेद किए हैं[३]--

---

१ 'हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास': रामचरण महेन्द्र,प्रथम संस्करण,पृ०३८

२ वही,पृ०३६

३ 'हिन्दी एकांकी' : प्रो० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण,पृ०१५०-१५३

(१) आलोचक एकांकी जो केवल समाज की बुराइयों को उभारते हैं,(२)विवेकवान एकांकी,जिनमें आलोचना-प्रत्यालोचना होती है,(३) भावुक एकांकी--इनमें भावुकता की अधिकता होती है ,(४)समस्या एकांकी, (५) अनुभूतिमय एकांकी--इसमें हृदय की कोई अनुभूति अपने सौन्दर्य,ज्ञान तथा कल्याण की भावना से ओत-प्रोत हो कलामय ढंग से प्रस्तुत की जाती है । (६) व्याख्यामूलक एकांकी--इसमें लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं कहता है । जो कुछ वह जानता है या समाज जिसे जानता है उसी बात को उसी ढंग से कह देता है । इन एकांकियों का विषय अधिकांशत: इतिहास या पुराण से लिया जाता है ।(७) आदर्शमूलक एकांकी,इसके द्वारा किसी आदर्श की स्थापना की जाती है । इसमें भावुकता और भक्ति का समावेश होता है ।(८) प्रगति मूलक एकांकी में समाज की किसी भी घटना का नग्न चित्र होता है । इसमें भुखमरी,हड़ताल, छात्र विद्रोह आदि को एकांकी का विषय बनाया जा सकता है ।

प्रो० अमरनाथ गुप्त ने भी एकांकी का वर्गीकरण इन्हीं रूपों में किया है[१]। इसके अतिरिक्त 'काकनी' एकांकी जो मजदूरों की विकृत भाषा में लिखा जाता है, स्वांग एकांकी ,जो स्वांग की पद्धति पर लिखा जाता है तथा व्यंग्यात्मक एकांकी जिसमें किसी देश के रीति -रिवाज आदि पर कटाक्ष किया जाता है, का भी उल्लेख मिलता है ।

उपरोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि प्राय: सभी विद्वानों ने थोड़े-बहुत अन्तर में एक समान ही वर्गीकरण किया है । अत: मुख्यत: एकांकियों का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं-- सुखान्त एकांकी,दु:खान्त एकांकी,प्रहसन, फैंटेसी, झांकी, संवाद या सम्भाषण, स्वोक्ति रूपक या मोनोड्रामा,रेडियो प्ले, फीचर तथा काकनी एकांकी आदि । इसके अतिरिक्त एकांकियों के क्षेत्र में एक नये प्रकार के एकांकी का प्रचलन हुआ,जिसे काव्य एकांकी कहते हैं । इस एकांकी में नाटकीयता और काव्य का सम्मिश्रण रहता है । इसमें अतीत की उन

---

१ 'एकांकी नाटक' : अमरनाथ गुप्त, पृ०२५-२६

घटनाओं को विषय बनाया जाता है जो अपनी मार्मिकता के कारण जन-मन में बसी रहती है । काव्य एकांकियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है -- (१) भाव नाट्य, (२) गीति नाट्य, (३) अतुकान्त पद्य[1]। भावनाट्य भावप्रधान होता है । इसमें पात्र के आन्तरिक संघर्ष को व्यक्त किया जाता है । इसमें बाह्य संघर्ष का अस्तित्व भी आन्तरिक संघर्ष को तीव्र करने के लिए ही होता है । इसमें उदयशंकर भट्ट के मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, कालिदास, मेघदूत और विक्रमोर्वशी का उल्लेख किया जा सकता है । गीति नाट्य में गेय तत्व प्रमुख रहता है । इसमें पात्रों के भाव, उनके आन्तरिक उद्वेग आदि को गीत के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है । अतुकान्त पद्य में, गद्य के स्थान पर एकांकी पद्य में लिखा जाता है ।

वास्तव में एकांकी की प्रगति भारतेन्दु-युग से ही प्रारम्भ हो गयी थी । प्रारम्भ में उसपर संस्कृत का प्रभाव था, परन्तु क्रमशः वह संस्कृत नाट्य शैली से दूर होता गया और पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करता गया । शनैः शनैः इन एकांकियों ने साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया । अंग्रेजी के प्रभाव-स्वरूप इनमें स्वप्न नाटक, कल्पना नाटक, समस्या नाटक और लघु नाटक आदि का प्रादुर्भाव हुआ ।

रेडियो नाटक

रेडियो नाटक अभी अपनी शैशवावस्था में है, परन्तु इसका प्रचलन आज के युग में बहुत अधिक हो रहा है । साधारण नाटकों और रेडियो नाटक में अनेक अन्तर हैं । कुछ लोगों का विचार है कि स्टेज के नाटकों में थोड़ा परिवर्तन करके रेडियो के उपयुक्त बनाया जा सकता है । परन्तु बात ऐसी नहीं है । रेडियो नाटक, नाटक होते हुए भी श्रव्य काव्य है । रंगमंच पर जो कुछ अंग-संचालन द्वारा सम्मुख देखा जा सकता है, रेडियो पर उन भावों की संयोजना ध्वनि द्वारा की जाती है । रेडियो नाटकों में ध्वनि का विशेष महत्व है । इसका प्रारम्भ अंग्रेजी प्रभाव के कारण माना जाता है । ओझा जी ने इसे

---

१ 'हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास' : रामचरण महेन्द्र, पृ०३६३ ।

पश्चिम की देन माना है और हिन्दी का प्रथम रेडियो नाटक `राधा कृष्ण` को माना है[1]।

रेडियो नाटक का स्वरूप जानने के लिए रंगमंचीय नाटक और रेडियो नाटक का अन्तर जान लेना आवश्यक है। रेडियो नाटक को रंगमंचीय नाटक का लघु रूप मानना उचित नहीं है, क्योंकि रेडियो नाटक और रंगमंचीय नाटकों में पर्याप्त भिन्नता है। रेडियो नाटक रंगमंच की सीमाओं से मुक्त है। इसमें स्वर्ग-नर्क, आकाश-पाताल, पहाड़, सागर सभी दृश्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। रेडियो नाटक में मानवेतर प्राणियों तथा प्रकृति को पात्र के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। रंगमंचीय नाटकों में यह सुविधा नहीं रहती है। रंगमंचीय नाटकों के सदृश्य रेडियो नाटक में संकलनत्रय की आवश्यकता नहीं होती है। एक नाटक में अनेक वर्षों का अन्तराल अथवा अनेक स्थानों पर घटित घटनाओं को सहजता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। रंगमंच पर पात्रों के हृदय की भावना उनके अंग संचालन द्वारा व्यक्त होती है, जैसे क्रोध अथवा घृणा का भाव प्रेम अथवा ममता का भाव पात्रों की भावभंगिमा द्वारा स्पष्ट हो जाता है, परन्तु रेडियो नाटक में यह सुविधा नहीं रहती है। रेडियो नाटक में ध्वनि संयोजना द्वारा उपयुक्त वातावरण की सृष्टि की जाती है। अनेक दृश्यों को भी ध्वनि के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जाता है। जैसे समुद्र की गर्जन से समुद्र का, डांड चलाने की ध्वनि से नदी में तैरती नाव का अथवा घोड़ों के टापों से उनके दौड़ने का चित्र उपस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त भीड़ भाड़, विवाह अथवा पिकनिक आदि के दृश्य भी ध्वनि द्वारा सरलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है। पात्रों के मंच पर आने अथवा जाने का दृश्य भी रेडियो नाटक में ध्वनि द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है।

रेडियो नाटक में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत द्वारा दृश्य-परिवर्तन का आभास मिलता है। वातावरण तथा भावों का सृजन भी संगीत द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, जैसे विषादपूर्ण संगीत को सुनकर पात्रों के दु:खपूर्ण मनोभाव तथा बोझिल वातावरण का ज्ञान होता है और आह्लादपूर्ण

---

१ `हिन्दी नाटक उद्भव और विकास` : डा० दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण, पृ०४६५

संगीत द्वारा पात्रों की प्रसन्नता का बोध होता है । इसके अतिरिक्त नाटक का प्रारम्भ और अन्त भी संगीत द्वारा प्रस्तुत किया जाता है ।

रंगमंचीयनाटकों की अपेक्षा रेडियो नाटक में दृश्य-परिवर्तन की अधिक सुविधा रहती है । रेडियो नाटक में जितना शीघ्र चाहें दृश्य-परिवर्तन कर सकते हैं । आकस्मिक दृश्य परिवर्तन के लिए एक या दो सेकेण्ड की शान्ति का भी उपयोग किया जाता है । रेडियो नाटक रंगमंचीय नाटकों की अपेक्षा स्वच्छन्द तथा मुक्त होता है । रेडियो नाटक अंक के बन्धन से मुक्त होता है । इसमें छोटे-बड़े अनेक दृश्य भी हो सकते हैं और सम्पूर्ण नाटक एक दृश्य में भी प्रस्तुत किया जा सकता है । रेडियो नाटक में एक सुविधा यह भी है कि एक ही पात्र आवाज बदल कर कई पात्रों का अभिनय कर सकता है । रेडियो नाटक में स्वप्न सम्भाषण तथा अश्राव्य कथन स्वाभाविक जान पड़ते हैं जब कि रंगमंच पर यह अस्वाभाविक लगते हैं । रेडियो नाटक में प्रतीकात्मक पात्रों की कल्पना तथा जड़ वस्तुओं का मानवीकरण कर सकते हैं । इसमें पात्रों के हृदय का संघर्ष व्यक्त करने में सुविधा होती है । इसमें हृदय और बुद्धि का मानवीकरण कर उसे दो पात्रों के रूप में उपस्थित किया जाता है,जिनके परस्पर वार्तालाप द्वारा पात्र के मानसिक उलझन तथा संघर्ष को व्यक्त किया जाता है ।

रंगमंचीयनाटकों की अपेक्षा रेडियो नाटक में पात्रों की संख्या अल्प होती है,क्योंकि रंगमंच पर पात्रों को देखकर उसे पहचान सकते हैं, परन्तु रेडियो नाटक में यह सुविधा नहीं रहती है । रेडियो नाटक में कथानक सरल, चुस्त तथा स्वाभाविक होता है । इसमें संवाद पर विशेष बल दिया जाता है,क्योंकि संवाद द्वारा ही पूरा नाटक प्रस्तुत करना व रहता है,अत: रेडियो नाटक का आधार सफल संवाद है । इन संवादों का संक्षिप्त,सशक्त तथा अभिव्यंजक होना आवश्यक है। कभी-कभी इसमें नैरेटर का भी सहारा लेना पड़ता है,जो नाटक का पूर्व परिचय देता है तथा बीच-बीच में अन्य दृश्यों तथा घटनाओं का सम्बन्ध भी स्पष्ट करता चलता है । कभी-कभी वह वातावरण पात्र और कथा के विषय में आवश्यक सूचना भी देता है । उपरोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि रंगमंचीय नाटक और रेडियो नाटक में पर्याप्त भिन्नता है ।

रेडियो नाटक का वर्गीकरण अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया है । डा० दशरथ ओझा ने रेडियो नाटकों के निम्नवर्ग किये हैं-- रेडियो रूपक, फीचर, ध्वनि नाटक, स्वोक्ति, फैण्टेसी, ध्वनिगीति रूपक, रिपोतार्ज, जन-नाटक और व्यंग्य[1] । शान्तिगोपाल पुरोहित के अनुसार रेडियो नाटक के निम्न भेद किये जा सकते हैं-- रेडियो रूपक, फीचर, ध्वनिनाट्य, स्वोक्ति, फैण्टेसी, व्यंग्य, ध्वनि गीति रूपक, रिपोतार्ज जन नाटक और डाकूमेण्टरी[2] । रामचरण महेन्द्र ने रेडियो नाटकों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है-- बड़े एकांकी, रूपक, रूपान्तर, फैंटेसी, मोनोलाग संगीत रूपक और फलकियां[3] । सिद्धनाथ कुमार के अनुसार रेडियो नाटक के निम्न प्रकार हैं-- नाटक, रूपक, रूपान्तर फैंटेसी, मोनोलाग, संगीत रूपक और फलकियां[4] । इन विभिन्न वर्गीकरणों को देखते हुए रेडियो नाटक का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-- रेडियो ~~का~~ रूपक, बड़े एकांकी, रूपान्तर, ध्वनि नाट्य, स्वोक्ति या मोनोलाग, फैंटेसी, संगीत रूपक, रिपोतार्ज, जन नाटक, व्यंग्य, फलकियां तथा डाकूमेण्टरी ।

रेडियो रूपक में संकलनत्रय का बंधन नहीं रहता । किसी भी समय और काल की घटनाओं का वर्णन किया जा सकता है । इनमें दृश्यों का बन्धन भी नहीं रहता । किसी भी घटना को नाटक का विषय बनाया जा सकता है, इसमें दो या दो से अधिक नैरेटर होते हैं जो घटना का वर्णन करते हैं साथ ही दोनों नैरेटरों द्वारा वर्णित घटना का परस्पर संबंध भी स्थापित करते चलते हैं । इन नाटकों का उद्देश्य सूचना देना, शिक्षा का उपदेश देना, किसी व्यक्ति के जीवन अथवा उसके व्यक्तित्व का परिचय देना, किसी घटना या स्थिति का परिचय देना अथवा प्रचार करना होता है ।

बड़े एकांकी में एकांकी का रूप परिवर्तित नहीं करते हैं, वरन् उसे उसी रूपमें प्रस्तुत करते हैं । जो घटनाएं प्रत्यक्ष देखे बिना समझ में नहीं

---

१ `हिन्दी नाटक उद्भव और विकास` : डा० दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण, पृ०४९७

२ `हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन` : शान्तिगोपाल पुरोहित, प्रथम संस्करण, पृ०३३४ ।

३ `हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास` : रामचरण महेन्द्र, पृ०३३६

४ `रेडियो नाट्य शिल्प` : ~~सिद्धान्त~~ सिद्धनाथ कुमार, प्रथम संस्करण, पृ०६१

आ सकती, जैसे किसी वस्तु का फेंका जाना अथवा किसी का गिरना या भयभीत होना आदि के लिए ध्वनि का प्रयोग करते हैं ।

रेडियो रूपान्तर में नाटक, उपन्यास अथवा कहानी के रूप में परिवर्तन कर उसे रेडियो के उपयुक्त बना लेते हैं । इस रूपान्तर में नाटक या कहानी का रूप अवश्य परिवर्तित हो जाता है,परन्तु भाव वही रहते हैं । जो दृश्य बिना रंगमंच के प्रस्तुत नहीं किये जा सकते, उसको हटा देते हैं तथा अनावश्यक वर्णन और विस्तार भी कम कर देते हैं । कहानी या नाटक को संक्षिप्त करने में जो विशृंखलता आ जाती है उसमें परस्पर संबंध स्थापित करने के लिए नैरेटर होते हैं । जो दृश्य आवश्यक है परन्तु उन्हें देखकर ही समझा जा सकता है, उसे ध्वनि द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है,जैसे किसी चीज के गिरने या टूटने का, फेंकने आदि का दृश्य । गुलेरी जी की कहानी `उसने कहा था` प्रसाद जी का `ममता` और `पुरस्कार` भगवती-चरण वर्मा का `चित्रलेखा` , प्रेमचन्द का`गोदान`आदि का रेडियो रूपान्तर रेडियो पर प्रसारित हो चुका है । इसके अतिरिक्त `कामायनी`,`उर्वशी`, `आषाढ़ का एक दिन`,`कोणार्क` आदि का भी रेडियो रूपान्तर प्रसारित किया गया है ।

ध्वनि नाट्य में कथानक का विशेष महत्व है । इसमें पात्रों के सम्भाषण और ध्वनि के उतार -चढ़ाव द्वारा नाटक का आवश्यक प्रभाव उत्पन्न किया जाता है । विष्णु प्रभाकर का `बीमार` इसी प्रकार का नाटक है ।

स्वोक्ति नाटक एकपात्रीय नाटक है । एक ही पात्र पूरी कथा को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करता है । इसके लिए कथा का सुसम्बद्ध तथा चुस्त होना आवश्यक है । इस नाटक का पात्र विरोधी भावनाओं के संघर्ष से त्रस्त रहता है । ध्वनि द्वारा उस संघर्ष को साकार करने का प्रयत्न करते हैं । संलापों द्वारा पात्र के हृदय और मस्तिष्क में हो रहे संघर्ष को व्यक्त किया जाता है । `नये पुराने`,`सड़क`,`कांच का टुकड़ा` आदि उल्लेखनीय स्वोक्ति रेडियो नाटक हैं ।

रेडियो फेंटेसो भाव नाट्य है । इसमें भी पात्रों के मानसिक संघर्ष का प्रस्तुतीकरण किया जाता है । कभी-कभी इसमें ऐसी घटनाओं का भी चित्रण किया जाता है, जिसका संसार में घटित होना असम्भव है । जैसे मृत व्यक्ति की आत्मा से बात करना अथवा किसी ऐसे व्यक्ति से बात करना, जिसका अस्तित्व असम्भव हो, उदाहरणार्थ मूर्तियों का परस्पर वार्तालाप करना अथवा नदी और पर्वत का मानवीकरण कर उसे पात्र रूप में प्रस्तुत करना आदि । इन कल्पित घटनाओं द्वारा किसी विचार या अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है । रेडियो फेंटेसो में सेठ गोविन्ददास का `विकास`, विष्णु-प्रभाकर का `अर्धनारीश्वर`, `शलभ और ज्योति`, रामचन्द्र तिवारी का `वन्दिनी` और `स्वाधीनता` आदि लोकप्रिय रेडियो फेंटेसी हैं ।

संगीत रूपक गीत प्रधान होता है । इसमें दो व्यक्ति कविता के रूप में घटनाओं का वर्णन करते हैं । इसमें भी आन्तरिक संघर्ष का चित्रण रहता है । इसमें प्रकृति के सुन्दर दृश्य, कोमल भावनाएं, अनुभूति, कल्पना और सरसता का ही समावेश होता है । शुष्क, नीरस और वास्तविक घटनाओं के लिए संगीत रूपक में स्थान नहीं है । इसमें वाद्य संगीत का विशेष महत्व है । सुमित्रानन्दन पन्त का `मानसी`, `शरद यामिनी` तथा अन्य रूपक जैसे `मधुमिलन` `प्रथम दर्शन`, `जीवनसाथी` आदि विशेष उल्लेखनीय संगीत रूपक हैं ।

रिपोतार्ज में एक व्यक्ति किसी घटना और किसी व्यक्ति के विषय में इस प्रकार वर्णन करता है, मानो वह घटना उसकी आंखों के सामने घटित हो रही है । कभी-कभी किसी घटना या समारोह का वर्णन भी उसी रूप में करता है, जिस रूप में वह घटित होता रहता है साथ ही किसी का वक्तव्य भी उसी के शब्दों में सुनाता जाता है, जैसे क्रिकेट मैच का अथवा छब्बीस जनवरी के परेड का आंखों देखा हाल आदि ।

जननाटक में रास, व्यंग्य, आल्हा, नौटंकी और मजदूरों का कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता है । आकाशवाणी इलाहाबाद से इस प्रकार के कार्यक्रम ~~नियमित~~ प्रतिदिन प्रसारित किये जाते हैं ।

व्यंग्य को रेडियो प्रहसन भी कहते हैं । इसके द्वारा अनेकानेक कुरीतियों तथा बाह्याडम्बरों पर व्यंग्याघात किया जाता है । उपेन्द्रनाथ अश्क का `बतसिया` एवं `तौलिए` तथा अमृतलाल नागर का `बाकेमल` आदि सफल रेडियो प्रहसन हैं ।

फलकों में प्रतिदिन के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं की फलक दिखायी जाती है । इन घटनाओं का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया जाता है । किसी विशेष जाति अथवा वर्ग के जीवन की फलक दिखाने के लिए उनके जीवन में घटित अनेक छोटी-छोटी असम्बद्ध घटनाओं का वर्णन किया जाता है,जिनमें नरेटर सम्बन्ध स्थापित करता चलता है और इस प्रकार उस वर्ग विशेष का यथार्थ रूप प्रस्तुत किया जाता है । ये फलकियां मनोरंजक होती हैं, जिनमें हास्य और व्यंग्य का पुट रहता है । रेडियो पर प्रसारित होने वाले `रंगारंग`,`इन्द्रधनुष`,`लहरें`,`रंगतरंग` प्रोग्राम आदि इसी प्रकार के प्रोग्राम हैं । इनमें विविध भारती से प्रसारित होने वाला `हवामहल` कार्यक्रम विशेष लोकप्रिय है ।

डाकूमेण्टरी में किसी विषय पर एक छोटी मनोरंजक नाटिका का निर्माण कर उसे मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है । इसका उद्देश्य प्रस्तुत विषय का प्रचार तथा प्रसार करना एवं उसे प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचाना और उन्हें उस विषय का ज्ञान कराना होता है ।

रेडियो नाटक के अन्तर्गत उपेन्द्रनाथ अश्क का `तुलसीदास`, `कबीर`,`उर्मिला`,`निर्मला`, उदयशंकर भट्ट का `आदिमयुग`,`कुमार सम्भव`, `आत्मदान`,`गिरती दीवारें`, डा० रामकुमार वर्मा का `प्रतिशोध`,`दुर्गावती`, `कौमुदी महोत्सव`,`औरंगजेब की आखिरी रात`,`ऋतुराज`,`भरत का भाग्य`, कृष्णचन्द्र का `इन्तजार`,`कबूतरी`,`बेबकतरा`, चन्द्रकिशोर जैन का `नींद`, `रानी`,`इन्साफ`, `सोने का टुकड़ा`, विष्णुप्रभाकर का `युगसंधि`,`विषम-रेखा`,`सवेरा`,`वीरपूजा`,`मुरब्बा`, रामवृक्ष बेनीपुरी का `गांव के देवता`, `अमरज्योति`, हरिश्चन्द्र खन्ना का `आदमखोर`,`खण्डहर`, प्रभाकर माचवे का

'पंचकन्या', करतार सिंह दुग्गल का 'झूठे टुकड़े', चिरंजीत का 'महाश्वेता', भारत भूषण अग्रवाल का 'परछाईं', गिरिजाकुमार माथुर का 'जन्मकैद', विश्वम्भर मानव का 'दो फूल', भगवत शरण उपाध्याय का 'रानी दिद्दा', 'गोपा', हंस कुमार तिवारी का 'अन्धकार', ब्रजकिशोर नारायण का 'चन्द्रावली', 'तीसरी दुनिया', कणादि ऋषि का 'कोनस', 'सफर के साथी', प्रफुल्लचन्द ओझा का 'पुकार', 'बुढ़िया', सिद्धनाथ कुमार का 'टूटा हुआ आदमी', 'अभिशप्त', अज्ञेय का 'जयदोल', अमृतलाल नागर का 'उजाले से पहले' लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'कावेरी के कमल', 'पत्थर के प्राण' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार रेडियो नाटक ने अत्यन्त अल्पकाल में आशातीत सफलता प्राप्त की है।

निष्कर्ष

नाटक मानव जीवन की अनुकृति है। नाटक का जन्म भी मानव जीवन के साथ हुआ और उसी के साथ वह विकसित होता गया। प्राचीनकाल में भारत में अनेक संस्कृत नाटकों की रचना हुई। कालान्तर में विशेष सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के कारण संस्कृत नाटकों का ह्रास हो गया, परन्तु उसका एक रूप लोक-नाटकों के भाण, तमाशा, भवाई, रामलीला तथा रासलीला आदि के रूप में जीवित रहा। अनुकूल समय पाकर भारतेन्दुयुग में हिन्दी-नाटकों का पुनः प्रचलन हुआ और प्रसाद-युग में इनका पूर्ण विकास हुआ तथा इनमें अनेक नवीनताओं का समावेश हुआ, फलस्वरूप हिन्दी-नाटक संस्कृत नाट्य प्रणाली के अनुरूप न होकर उनसे भिन्न हो गये। प्रसाद-युग हिन्दी-नाटकों का स्वर्ण-युग प्रमाणित हुआ। प्रसादोत्तर नाटकों पर पर्याप्त पाश्चात्य प्रभाव पड़ा तथा अनेक नवीन विधाओं यथा एकांकी, रेडियो नाटक एवं स्वोक्ति नाटक आदि का प्रचलन हुआ। एकांकी नाटक आधुनिक युग के अधिक अनुकूल सिद्ध हुए, क्योंकि ये एक अंक के नाटक कम समय में देखे तथा पढ़े जा सकते हैं। प्रभावोत्पादन तथा मनोरंजन की दृष्टि से

भी एकांकी नाटक अधिक प्रभावशाली प्रमाणित हुए हैं । आधुनिक युग में एकांकी की ओर बढ़ती हुई रुचि इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है । रेडियो नाटक ने भी अल्पकाल में ही अत्यधिक उन्नति की तथा इसका प्रचार और प्रसार हुआ ।नाटक के विकास में रंगमंच का विशेष महत्व है । भारतेन्दु-युग में पारसी व्यावसायिक रंगमंच की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी अव्यावसायिक रंगमंच की नींव डाली गई, जिसका उत्तरोत्तर विकास होता गया । आधुनिक युग में बड़े शहरों में स्थापित अनेक रंगमंच नाटकों के विकास में सहयोग प्रदान कर रहे हैं । इस प्रकार नाटकों का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है ।

-0-

तृतीय अध्याय

-0-

प्रसादपूर्व नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप

हिन्दी नाटकों का उन्नयन कब से हुआ, इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है। परन्तु १३ वीं से १६ वीं शताब्दी के बीच हिन्दी नाटकों का उद्भव-काल माना जाता है। इस काल में रचे गए नाटकों को कुछ विद्वानों ने तो नाटक की श्रेणी में रखा है और कुछ ने उन्हें नाटक माना ही नहीं, क्योंकि उस समय नाटक ब्रजभाषा में लिखे जाते थे और उनमें काव्यात्मकता अधिक रहती थी। अत: उन्हें नाटक के स्थान पर नाटकीय काव्य की श्रेणी में रखा गया। साहित्यिक नाटकों का प्रचलन तो वास्तव में भारतेन्दु जी के समय से हुआ। आपने नाटक साहित्य के अभाव को अनुभव किया और नाटक-लेखन की ओर अग्रसर हुए। आपने सामाजिक कुरीतियों तथा देश के पतन के अन्य कारणों को नाटक का विषय बनाया। उस समय के कुछ अन्य लेखकों ने भी इस प्रयत्न में सहयोग दिया और सामाजिक,धार्मिक,राष्ट्रीय एवं राजनैतिक नाटकों की रचना की। परन्तु पारसी कम्पनियों के प्रभाव तथा उपयुक्त रंगमंच के अभाव के कारण इस प्रयत्न में आशानुकूल सफलता न मिल सकी। सामाजिक कुरीतियों पर नाटककारों द्वारा अनेक व्यंग्य बाण छोड़े गये। इसके लिए `प्रहसन` को उपयुक्त समझा गया। इस समय भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही नाट्य-पद्धतियों के अनुसार नाटक की रचना हो रही थी। भारतेन्दु जी ने भी दोनों पद्धतियों का अनुसरण किया। आपने दोनों के समन्वय का भी प्रयत्न किया। उनमें अधिकांश नाटकों का बाह्य रूप तो पाश्चात्य से प्रभावित है, पर आन्तरिक रूप से वे पूर्णत: भारतीय हैं।

साहित्यिक नाटकों को सबसे अधिक आघात पहुंचाया पारसी रंगमंच ने । इस पर कुरुचिपूर्ण,भद्दे और अपरिष्कृत नाटक खेले जाते थे और इन्हीं के उपयुक्त नाटकों की रचना भी होती थी । सच पूछा जाय तो इन्हीं की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी साहित्यिक नाटकों का विशेष प्रचलन हुआ । इन नाटकों द्वारा सोई हुई भारतीय आत्मा को पुनर्जागृत करने का प्रयत्न किया गया । इस समय पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों का विशेष प्रचलन हुआ । सामाजिक नाटक भी लिखे गये,जिनमें बाल विवाह,वृद्ध विवाह, मद्यपान आदि कुरीतियों पर व्यंग्य किया गया तथा इनके बुरे परिणाम दिखाए गए । इस समय राजनैतिक नाटकों का भी प्रचलन हुआ,जिनके द्वारा देश-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम की भावना जागृत करने का प्रयत्न किया गया । इन नाटकों के ● माध्यम से भारतीय संस्कृति का स्वरूप भी दिखाया गया ।

इस युग के नाटकों में स्थान-स्थान पर भारतीय संस्कृति का रूप परिलक्षित होता है । इन नाटकों में दया,अहिंसा,करुणा, मानवता आदि का चित्रण अनायास और सायास दोनों प्रकार से आया है । इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन,आत्मा का स्थान, मोक्ष, ईश्वर के प्रति विश्वास, धार्मिक सहिष्णुता, उदारता तथा त्याग आदि का वर्णन भी इन नाटकों में मिलता है ।

आत्मा का स्वरूप

भारतीय संस्कृति में आत्मा को अनादि तथा अनन्त माना गया है । शरीर की मृत्यु का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है । यह अजर,अमर,नित्य,निर्विकार,निर्विकल्पक,निर्गुण,मुक्त और शाश्वत है । इस बात की पुष्टि अनेक हिन्दी नाटकों में की गई है ।

राधेश्याम कथावाचक के नाटक 'वीर अभिमन्यु' में महाभारत युद्ध के समय अर्जुन को मोह उत्पन्न हो जाता है । उस समय कृष्ण उन्हें समझाते हैं और कहते हैं कि यहां न कोई अपना है और न पराया । यह तो सब ब्रह्म का रूप है जो घट घट में विद्यमान है । वे पुन: कहते हैं--

'पंच तत्व दश इन्द्रियाँ, यह सर्वत्र समान ।
देह सदा जड़ रूप है, देही चेतन जान ।।
पंचतत्व मध्य चैतन्य एक, जिसका प्रकाश सारों में है ।
जैसे सूरज का गुप्त तेज, चन्द्रमा और तारों में है ।।
उस ही प्रकाश द्वारा शरीर, चैतन्य दिखाई देता है ।
वह व्यापक वह चैतन्य-तत्व, सम्पूर्ण सृष्टि का नेता है ।।

....

व्यवहार जगत में कर्म लिप्त वास्तव में वह निष्कर्मी है ।
उसका यह पद है -- 'सर्व खल्विदं' ब्रह्म ही है ।।

....

उसमें ही विविध शरीर सदा, बनते हैं मिटते जाते हैं ।
जिस तरह पुराने होने पर, वस्त्रादि बदलते जाते हैं ।।'[1]

अर्जुन के अतिरिक्त चक्रव्यूह भेदन का कला केवल उसका पुत्र अभिमन्यु जानता है परन्तु उसे बाहर आने की कला ज्ञात नहीं है,फिर भी वह युद्ध में जाने को तत्पर है । उस समय उसको माँ सुभद्रा कहता है --'बेटा आत्मा अमर है, उसको कोई मार नहीं सकता । वह अकाट्य है, उसको कोई काट नहीं सकता । हमारे इन्हीं स्वर्ण-वाक्यों पर स्थित हो जाओ । और जाओ चक्रव्यूह तोड़कर संग्राम में सूर्य की तरह अपना प्रकाश फैलाओ[2]।'

दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक 'देशोद्धार' में भी आत्मा को अजर और अमर माना गया है । हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप के घोड़े चेतक की मृत्यु से राणा प्रताप दु:खी हैं । उन्हें सान्त्वना देते हुए शक्तसिंह कहता है कि आप श्रीकृष्ण के इस उपदेश को न भूलिए कि --

'...

मन ही है दुख सुख का करता जीव दु:ख भरता नहीं ।
तन है जीता और मरता आत्मा कभी मरता नहीं ।।'[3]

---

१ 'वीर अभिमन्यु' : राधेश्याम कथावाचक, ग्यारहवां संस्करण,पृ०६
२ वही, पृ०४६
३ 'देशोद्धार' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, प्रथम संस्करण,पृ०६६

इसी प्रकार `प्रताप`नाटक में चित्तौड़ के राजा समरसिंह देशद्रोही हैं। उनके राज्य में एक कवि देशप्रेम के गीत गाते हुए बन्दी बना लिया जाता है। राजा उसे प्राणदण्ड का भय दिखाते हैं। जिसे सुनकर कवि कहता है --`विद्वानों को मृत्यु का भय दिखाना भारी मूर्खता है। तुम मारोगे किसको ? शरीर को या आत्मा को ? शरीर रथ है आत्मा रथी। रथ नष्ट हो जाने पर रथी अन्य रथ पर सवार होकर अपना कार्य करने लगता है। और आत्मा अजर अमर है, न वह काटा जा सकता है, न बिंध सकता है, न जलाया जा सकता है और न सुखाया जा सकता है[१]।`

ब्रह्म तथा माया का स्वरूप

ब्रह्म निर्गुण,निर्विकार तथा जितेन्द्रिय है। ब्रह्म का आधा शक्ति माया है जो संसार में जीवन रूप में विद्यमान है। सर्वप्रथम ब्रह्म अकेला था। जब उसे सृष्टि करने की इच्छा हुई तब उसने अपने आधे अंग को से माया रूपी प्रकृति को उत्पन्न किया जो जगत में जीवन का संचार करती है।

ब्रह्म तथा माया के इस रूप की पुष्टि `प्रभास मिलन` नाटक में की गई है। नारद मुनि रुक्मिणी से कृष्ण और राधा के सम्बन्ध की बात बता देते हैं। रुक्मिणी कृष्ण से राधा के विषय में पूछती है तब कृष्ण कहते हैं --` हे प्रिये ! यह संसार पुरुष और प्रकृति के विहार का स्थान है। पुरुष से प्रकृति उत्पन्न होती है। यह पुरुष परे से परे और सार का भी सार है। जितेन्द्रिय ऋषि मुनिगण उसको ज्योतिर्मय ब्रह्म कह कर पुकारते हैं।....... जगत के उत्पन्न होने से पहले जब केवल ब्रह्म सनातन स्वयं प्रकाशित होकर विराजमान हो रहे थे, तब उन्होंने सृष्टि की कामना की और दो रूप में प्रकाशित हुए परम पुरुष और दूसरा प्रकृति। परमब्रह्म के बायें अंग से आधी शक्ति महामाया त्रिगुण धारिणी प्रकृति की उत्पत्ति हुई। पुरुष का आधा अंग होने से उसका राधा नाम हुआ यह राधा ही जगत की जीवन रूप है[२]।`

---

१ `प्रताप नाटक` : बलदेव शास्त्री, पृ०३८

२ `प्रभास मिलन नाटक`: बलदेव प्रसाद मिश्र,संस्करण १९०३,पृ०५७

जीवन की नश्वरता

भारतीय संस्कृति में आत्मा को अमर और जीवन को नश्वर माना गया है। यह जीवन पानी के बुलबुले के समान है जो कुछ देर पश्चात् नष्ट हो जाता है। संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है, अतः अस्थिरता ही जीवन है। इसके अनेक उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी उपलब्ध होते हैं।

दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक 'भक्त प्रह्लाद' में एक महन्त कहता है —' मैं मरने के लिए तो उसी दिन से तैयार हूं जिस दिन से पृथ्वी पै जन्म लिया है। कारण , जो फला है वह फरेगा और जो जन्मा है वह मरेगा।'[1] राधेश्याम कथावाचक के नाटक 'श्रवण कुमार' में भी मृत्यु को अनिवार्य बतलाया गया है। श्रवणकुमार अपने माता-पिता के लिए पानी लेने सरयू के किनारे जाते हैं और राजा दशरथ द्वारा मारे गये शब्द भेदी बाण से घायल हो जाते हैं। यह देखकर राजा दशरथ पश्चाताप करते हैं। तब श्रवणकुमार कहते हैं— ' महाराज, शिकार के धोखे में आपने बाण मारा तो आप दोषी नहीं। संसार में जो जन्म लेता है, वह अवश्य ही मरता है।'[2]

जीवन की नश्वरता का एक अन्य उदाहरण 'महात्मा राम' में भी देखने को मिलता है। एक स्थान पर जाम्बवान कहते हैं —' ... आखिर एक दिन मरना तो है ही कल न मरे आज मरे।'[3] 'विरव' के नाटक 'भीष्म-प्रतिज्ञा' में भी पाण्डवों को जब ज्ञात होता है कि महाभारत युद्ध में उनकी विजय का उपाय भीष्म की मृत्यु है, तब युधिष्ठिर कहते हैं कि वह नहीं चाहते कि उनका हित चाहने वाला व्यक्ति इस संसार से उठ जाय। यह सुनकर भीष्म कहते हैं --' नहीं धर्मराज ! यह संसार अनित्य है, इस नश्वर शरीर को त्याग कर ईश्वर-भक्ति में लीन होना ही एकमात्र सत्य है।'[4]

इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त के नाटक 'चन्द्रहास' में कौन्तलप कहते हैं —

---

1 'भक्त प्रह्लाद' : बाबू दुर्गाप्रसाद गुप्त, द्वितीय संस्करण,पृ०४६-५०

2 'श्रवण कुमार' : राधेश्याम कथावाचक, आठवां संस्करण,पृ०१३२

3 'महात्मा राम' : स्वामी सत्य भक्त, प्रथम संस्करण,पृ०८

4 'भीष्म प्रतिज्ञा' : विरव, प्रथम संस्करण,पृ०१००

'जो जन्मता है मरता अवश्य है
जो दीखता है सब है विनश्य ।'[१]

इसी नाटक में भगवती के मन्दिर में कौन्तलप अपना राजदण्ड चन्द्रहास को सौंप कर कहते हैं --' वत्स चन्द्रहास .... अन्त में हमें वहीं जाना है । इस संसार में सदा कोई नहीं रहता ।'[२]

'संयोगिता हरण' नाटक में भी इसी बात की पुष्टि की गई है । जयचन्द राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं । इस विषय में वे कहते हैं --' ...... सब शासक मेरा महत्व स्वीकार करते हैं, इसलिए यह यज्ञ करना मेरा कर्तव्य है, क्योंकि संसार में काल बली है । दृष्ट अदृष्ट सब पदार्थ एक न एक दिन काल कवलित होते हैं, केवल कीर्ति पर काल का पंजा नहीं पड़ता ।'[३]

दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक 'भारतवर्ष' में भी जीवन की नश्वरता की पुष्टि की गई है । धर्मदत्त अपने पालित पुत्र महमद से कहते हैं -- ' बेटा महमद ! यह सच है कि जीवन की ममता बड़ी जबरदस्त होती है ...... मगर जब कूच का नक्कारा बजता है तब राजा और रंक, अमीर और फकीर सभी इस दुनियां को छोड़कर राहें अदम पै कदम धरते हैं । ...

ये दुनियां सरां है कुछ रोज इस इस जां पै बिताना है ।
सभी बिलकुल मुसाफिर है यहां से सब को जाना है ।।[४]

आगे वह पुन: कहते हैं --

'मुसाफिर जाने वाला रुक नहीं सकता है रोके से ।
बुझेगा जिन्दगी का लेम्प अजल के एक झोंके से ।।'[५]

---

१ 'चन्द्रहास' : मैथिलीशरण गुप्त, द्वितीय संस्करण, पृ०१२८
२ वही, पृ०१६२
३ 'संयोगिता हरण' : हरिदास माणिक, प्रथम संस्करण, पृ०५४
४ 'भारतवर्ष' : दुर्गादास गुप्त, प्रथम संस्करण, पृ०६-७
५ वही, पृ०७

भारतीय दर्शन के अनुसार मृत्यु को अनिवार्य मानने के कारण ही यहां लोग मृत्यु से भयभीत नहीं होते वरन् उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं । `रणधीर और प्रेममोहिनी` में एक स्थान पर रिपुदमन वन में सिंह के आक्रमण करने पर अपनी मृत्यु निकट जानकर कहता है-- `मुझे अपने मरने का कोई भय नहीं, जिसने जन्म लिया है वह एक दिन अवश्य मरेगा ।`[1]

कन्हैयालाल जी के नाटक `देश दशा` में भी मृत्यु को संसार का शाश्वत नियम माना गया है । सोहन ब को मां पन्द्रह वर्ष पश्चात् अपने पुत्र को पाकर अत्यन्त प्रसन्न होती है, परन्तु पुत्र को देखकर पति की स्मृति से विह्वल हो उठती है । उस समय उसके मृत पति की आत्मा आकर कहती है --` प्रिये ..... यह तो संसार का नियम है जो यहां आया है वह एक दिन जरूर जायगा । फिर इसके लिए पछतावा क्या ?`[2]

इस बात की पुष्टि ज्ञानदत्त सिंह के नाटक `मायावी` में भी की गई है । राजा सरल के मदिरा और फैशन के प्रेम में आकंठ डूब जाने पर मायावी उनके राज्य पर अधिकार कर लेता है तथा उन्हें बन्दी बना लेता है और उनकी पुत्रियों रमा तथा बुद्धि से विवाह करना चाहता है । कला,कौशल तथा व्यापार उनकी रक्षा करते हुए बन्दी बना लिए जाते हैं । वहां कला के अस्वस्थ होने पर कौशल उसे सान्त्वना देता है,जिसे सुनकर कला कहती है -- `हां ! किसी तरह से तो अच्छी हो ही जाऊंगी । मरे बाद भी इस पीड़ा से मुक्त हो ही जाऊंगी .... जो संसार में जन्म लेता है वह अवश्य मरता है ।`[3]

नियति

जीवन की नश्वरता ने मनुष्य को भाग्यवादी बना दिया है । वह सोचने पर विवश है कि जो होना होगा वह होगा ही । भारतीय संस्कृति में भाग्यवाद का विशेष स्थान है । मनुष्य नियति के हाथों

---

१ `रणधीर और प्रेममोहिनी` : लाला श्रीनिवास दास,तृतीय संस्करण,पृ०७

२ वही, पृ०७ देशदशा : कन्हैयालाल, प्रथम संस्करण, पृ.८९

३ `मायावी` : ज्ञानदत्त सिंह, प्रथम संस्करण,पृ०५२-५३

की कठपुतली है । अदृश्य शक्ति, अदृश्य रूप से जीव मात्र को अदृश्य भाग्य लिपि लिखती रहती है । उसके समक्ष मनुष्य अत्यन्त तुच्छ है । इस संसार में मनुष्य भूत का स्वामी और भविष्य का दास है । इसके अनेक उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी दृष्टिगोचर होते हैं ।

बालकृष्ण भट्ट के नाटक 'दमयन्ती स्वयंवर' में राजा नल कहते हैं --'प्रिये, करम की रेखा अमिट है । भाग में जो बदा रहता है वह हटाये नहीं हटता ।'[1] दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक 'नल दमयन्ती' में एक स्थान पर नल कहते हैं --'हा संयोग ! तू प्रधान है, समय तू बलवान है । भावी प्रबल है, ब्रह्मा का लेख अटल है ।'[2]

'पाण्डव प्रताप' में भी भाग्य पर विश्वास देखने को मिलता है । जरासंध कृष्ण से मल्लयुद्ध करने जाता है । उसकी पत्नी उसे बहुत रोकती है,परन्तु वह नहीं मानता तब उसकी पत्नी कहती है--'हा ! प्राणनाथ देखें क्या परिणाम होता है । विधिना ने जो हमारे ललाट में लिखा होगा वही होगा ।'[3] इसी नाटक में एक स्थल पर जरासंधने जिन अनेक राजाओं को बंदी बना रखा था, उनमें से चौंसठ की बलि देने की घोषणा करता है । बन्दी राजा कहते हैं--' अब सोच करना वृथा है,जो भाग्य में होगा ब सो ही आगे आवेगा ।'[4]

श्रीकृष्ण हसरत के नाटक 'सावित्री सत्यवान' में भी राजा अश्वपति के कोई सन्तान नहीं थी, अत: वह यज्ञ करते हैं ,जिसमें से सावित्री देवी प्रकट होती हैं और बताती हैं कि अश्वपति के भाग्य में एक भी सन्तान नहीं है,फिर भी एक कन्या का वरदान वह दे सकती है । वह पुन: कहती हैं --

' जो कुछ लिखा ललाट, होत सोई बरिआई ।
कर्म्म लेख ना टले करो कोई लाखो चतुराई ।।'[5]

---

१ 'दमयन्ती स्वयम्बर' : बालकृष्ण भट्ट, प्रथम संस्करण,पृ०५१
२ 'नल दमयन्ती' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, तृतीय संस्करण,पृ०२४
३ 'पाण्डव प्रताप' : हरिदास माणिक, प्रथम संस्करण, पृ०४२
४ वही, पृ०५१
५ 'सावित्री सत्यवान' : श्रीकृष्ण हसरत, द्वितीय संस्करण,पृ०५

सावित्री देवी के आशीर्वाद से राजा को एक कन्या-रत्न की प्राप्ति होती है, जिसका नाम देवी के नाम के आधार पर सावित्री रखा जाता है । सावित्री ने सत्यवान को अपने पति के रूप में वरण किया है, यह जानकर नारदमुनि कहते हैं कि सत्यवान की आयु तो केवल एक वर्ष ही शेष है । तब सावित्री कहती है कि अब तो वे ही मेरे सर्वस्व हैं । जो भाग्य में लिखा है वही होगा --

'कभी भूमि धुरी से टल जाय करम गति ना टले ।
चाहे चन्द्र सूरज हिल जाये विधिना मति ना हिले ।'[1]

इसका एक अन्य उदाहरण 'सती पार्वती' में भी देखने को मिलता है । ब्रह्मा ने दक्ष को सृष्टि का कार्य भार सौंप दिया । उस दिन समारोह में ध्यानमग्न होने के कारण शंकर भगवान कुछ विलम्ब से पहुंचे, अत: अभिमानी दक्ष ने इसे अपना अपमान समझ कर उनसे शत्रुता ठान ली और अपनी कन्या सती के स्वयंवर में उन्हें आमंत्रित नहीं किया । दक्ष की पत्नी प्रसूति तथा नारदमुनि ने उन्हें अनेक प्रकार से समझाया और कहा कि इसका परिणाम भयंकर होगा । दक्ष के न मानने पर प्रसूति कहती है--

'........... ....

अब वही होगा जो कर्तार का सोचा हुआ ।
मिट नहीं सकता कभी भी भाग्य का लिक्खा हुआ ।'[2]

इसी प्रकार 'वीर अभिमन्यु' में भी नियति की प्रबलता को स्वीकार किया गया है । महाभारत युद्ध में अभिमन्यु की मृत्यु हो जाने पर उनकी पत्नी उत्तरा कृष्ण से पूछती है कि उनके रहते हुए अभिमन्यु की यह दशा क्यों हुई ? यह सुन कर कृष्ण कहते हैं --' बेटी, मैं ...... मैं तो संसप्तकों की ओर था । और मैं होता भी तो क्या होता ? जो होतव्य होता है वही होता है । विधाता के विधान में कौन परिवर्तन कर सकता है ।'[3]

---

१ 'सावित्री सत्यवान' : श्रीकृष्ण हसरत, द्वितीय संस्करण,पृ०५६
२ 'सती पार्वती' : राधेश्याम कथावाचक, प्रथम संस्करण,पृ०६४
३ 'वीर अभिमन्यु' : राधेश्याम कथावाचक, ग्यारहवां संस्करण,पृ०१४४

जमुनादास मेहरा के नाटक 'भक्त चन्द्रहास' में विधि के विधान को अटल बताया गया है । नाटक का नायक चन्द्रहास कहता है--

'लेख जो विधना लिखे, कोई न मेटनहार ।
कौन है जग में सुखी, दुखिया तो सब संसार[1] ।।'

एक अन्य नाटक 'सती चिन्ता' में भी दैव इच्छा को ही प्रबल माना गया है । राजा श्री वत्स के राज्य में लक्ष्मी जी और शनी देव आते हैं और पूछते हैं कि दोनों में श्रेष्ठ कौन है ? राजा यह सुनकर चिंतित हो जाते हैं,क्योंकि जिसे श्रेष्ठ नहीं बताया जायगा वही रुष्ट होगा, अत: दोनों ही तरफ से अनिष्ट है । उनकी रानी चिन्ता कहती है कि कुछ भी हो राजा को न्याय पर दृढ़ रहना चाहिए । तब राजा कहते हैं --' ऐसा ही होगा । मुझे भविष्य के दु:ख या सुख का तनिक भी सोच नहीं,क्योंकि --

'दैव इच्छा से पृथक, कुछ भी नहीं होना कभी
कर्म में जो जो लिखा है बैठे हैं है होना सभी[2] ।'

उमाशंकर मेहता के नाटक ' अंजना सुन्दरी' में रावण और वरुण में युद्ध होता है,जिसमें रावण की सहायता के लिए पवनजय युद्ध में जाने को तत्पर है । यह देखकर उसके पिता प्रह्लादराज चिन्तित हैं,उन्हें समझाते हुए पवनजय कहता है--' विकल होने का कोई काम नहीं । विधि के लिखे लेख किसी के मेटे नहीं मिटते । यदि मेरे भाग्य में युद्ध में मरना ही बदा होगा, तो उसे मेट ही कौन सकता है[3] ।'पवनजय के युद्ध -भूमि में चले जाने पर उसकी माँ उसकी पत्नी अंजना पर झूठा लांछन लगाकर उसको दासी वसन्त कुमारी के साथ उसे गर्भावस्था में वन में भेज देता है । जब सारथी उन्हें छोड़कर जाने लगता है तब बसन्तकुमारी पूछती है कि

---

१ 'भक्त चन्द्रहास' : जमुनादास मेहरा, तृतीय संस्करण,पृ०२२
२ 'सती चिन्ता' : जमुनादास मेहरा, द्वितीय संस्करण,पृ०२१
३ 'अंजना सुन्दरी' : पं० उमाशंकर मेहता, संस्करण सं०१९८६वि०,पृ०३१

क्या वह इस घोर जंगल में छोड़कर चला जायेगा ? यह सुनकर अंजना कहती है --' वसन्त ! इसमें किसी का दोष नहीं, दोष तो केवल मेरे नसीब का है।'[1] अंजना की इस दशा का ज्ञान जब उसकी माँ को होता है, तब वह कहती है--' हा अंजना एक बार तो अपना वह कोमल वदन मुझे दिखा जा ।.... हाथ की रेखाएँ क्या कभी भी मिटाने से मिट जाती हैं ?..... हाय रे भावी बड़ी प्रबल है।'[2]

भाग्य की प्रबलता तुलसीदत्त 'शैदा' के नाटक 'जनक-नन्दिनी' में भी दृष्टिगोचर होता है । सीता को रावण के यहाँ से लाकर रखने के कारण प्रजा में जो असन्तोष व्याप्त हो रहा है, उसका समाचार राम को दुर्मुख द्वारा ज्ञात होता है,अत: राम सीता को त्याग देने का निश्चय कर लेते हैं । परन्तु निर्दोष सीता का त्याग करते हुए राम अत्यन्त उद्विग्न हो रहे हैं । उनकी यह दशा देखकर कर्म प्रकट होकर कहता है कि इसमें उसका कोई दोष नहीं है वह स्वयं यह सब नहीं कर रहा है । तब राम कहते हैं --

'कर्म को औरस नहीं होता है बर तदबीर से ।
मात खाती है सदा तदबीर ही तकदीर से ।
लाख सर पटके मगर होनी कभी टलती नहीं ।
कर्म के आगे तो ब्रह्मा की भी कुछ चलती नहीं।'[3]

मैथिलीशरण गुप्त के नाटक 'चन्द्रहास' में भी बताया गया है कि विधि का विधान कभी नहीं टलता है । एक स्थान पर कुन्तलपुर का राज्य मंत्री धृष्ट बुद्धि कहता है कि उसने प्रत्यक्ष देख लिया है कि --

'विधि विधान कभी टलता नहीं
हठ किसी जन का चलता नहीं ।'[4]

इसी प्रकार राधाकृष्ण दास के नाटक 'महाराणा प्रताप सिंह' में महाराणा मंत्री भामाशाह से कहते हैं--' पर भामाशा, तुम

---

१ 'अंजना सुन्दरी' : पं० उमाशंकर मेहता, संस्करण,सं०१६८६वि०,पृ०६५
२ वही, पृ०६२
३ 'जनक नन्दिनी' : तुलसीदत्त'शैदा',प्रथम संस्करण,पृ०४५
४ 'चन्द्रहास' : मैथिलीशरण गुप्त, द्वितीय संस्करण,पृ०८

इसको क्या करोगे, जो भाग्य में होता है, वही होता है[1]।' 'संयोगिता हरण' में भी करमगति को प्रधान माना गया है । संयोगिता ने पृथ्वीराज को अपना पति मान लिया है,परन्तु जयचन्द संयोगिता के इस निर्णय से क्रोधित हो उसे एकान्तवास का दण्ड देते हैं । उसे दु:खी देख कर उसकी एक सहेली कहती है -- 'अंधा आरसी नहीं देख सकता बहरा संगीत नहीं सुन सकता है और निर्बल सबल पर जय नहीं पा सकता है । इसी तरह करम लिखी के सामने किसी की बुद्धि विद्या एक नहीं चलती[2]।'

प्रेमचन्द के नाटक 'कर्बला' में भी यही भाव देखने को मिलते हैं । हुसैन मदीने से जाना चाहते हैं परन्तु वहां के लोग उन्हें जाने देना नहीं चाहते । तब हुसैन कहते हैं --' मेरे प्यारे दोस्तो, मैं यहां से खुद नहीं जा रहा हूं । मुझे तक़दीर लिए जा रही है[3]।' वे पुन: कहते हैं --' मेरे लिए ज़रा भी गम न करो, मैं वहीं जाता हूं,जहां खुदा की मरज़ी लिए जाती है[4]।' उनके साथ उनका सारा परिवार भी जाने को तैयार है यह देखकर वह दु:खी होकर कहते हैं --'हाय, अगर मेरी तक़दीर की मंशा है कि मेरे जिगर के टुकड़े मेरी आंखों के सामने तड़पे तो मेरा क्या बस है । अगर खुदा को यही मंज़ूर है कि मेरा बाग मेरी नज़रों के सामने उजाड़ा जाय, तो मेरा क्या चारा है[5]।' एक अन्य स्थल पर कूफे वाले यजीद की बैयत लेने को तैयार नहीं है,अत: वे हुसैन को बैयत देने के लिए बुलवाते हैं । सर्वसम्मति से यह निश्चय होता है कि पहले मुस्लिम कूफे जाकर वहां की परिस्थिति का ज्ञान करें । कूफे में मुस्लिम का स्वागत होता है,परन्तु यज़ीद द्वारा नगर में आज्ञा प्रसारित कर दी जाती है कि जो भी मुस्लिम को आश्रय देगा उसे दण्ड मिलेगा । ऐसी परिस्थिति में भी तौआ नाम की एक स्त्री उन्हें शरण देती है,परन्तु उसका लड़का मुस्लिम का पता बता देता है,फलत: मुस्लिम को बन्दी बना लिया जाता है । इससे दु:खी

---

१ 'महाराणा प्रताप सिंह' : राधाकृष्णदास, छठां संस्करण,पृ०११६

२ 'संयोगिता हरण' : हरिदास माणिक,प्रथम संस्करण,पृ०६८

३ 'कर्बला' : प्रेमचन्द, पृ०४६

४ वही, पृ० ६ ५०

५ वही, पृ० ५१

ही तौवा कहती है कि यदि उसे ज्ञात होता है कि उसका बेटा ऐसा दुष्ट होगा तो वह पहले ही उसका गला दबा देती । यह सुनकर मुस्लिम कहते हैं-- ' नेक बीबी,शरमिन्दा न हो । तेरे बेटे की ख़ता नहीं, सब कुछ वही हो रहा है,जो तकदीर में था और जिसकी मुझे खबर थी ।'[1]

भाग्य की प्रबलता का एक अन्य उदाहरण 'धर्मविजय' में भी उपलब्ध होता है । एक स्थल पर श्रीपाल कहते हैं --

'कर्म की लीला निहारी ईश के अनुराग में ।

मिट नहीं सकता किसी से जो लिखा है भाग में ।'[2]

इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर अजयपाल, श्रीपाल की वधू गोमती को धोखे से बन्दी बना लेता है और उससे विवाह करना चाहता है । दासियों से इस बात की चर्चा सुनकर गोमती कहती है--' ......यह मेरे भाग्य का दोष है, आज मेरा दिन ऐसा है कि धर्म करते भी पाप होता है ।'[3]

बृजनन्दन सहाय के नाटक 'उद्धारिणी' में भी चुन्नीलाल की माँ कहती है-- ' .... अब तो जो बदा है,अदा होगा । हाय ! 'करम गति टारे नाहिं टरे' ।'[4] बलदेवप्रसाद मिश्र के नाटक 'समाज सेवक' में भी इसी बात की पुष्टि की गई है । करुणाशंकर अपनी पत्नी तथा पुत्री राधा के साथ कुम्भ में स्नान करने जाते हैं,जहाँ उनकी पुत्री राधा पानी में बह जाती है । उस समय करुणाशंकर कहते हैं --'हाय ! नियति के आगे मनुष्य कितना बेबस है ।'[5]

अनासक्त कर्मयोग

अनासक्त कर्मयोग भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है । कृष्ण ने गीता में इसी अनासक्त कर्मयोग का उपदेश दिया है । इसमें बताया गया है कि आसक्ति से मोह उत्पन्न होता है और यह मोह ही सारे दुःखों का

---

१ 'कर्बला' : प्रेमचन्द,पृ०११२

२ 'धर्मविजय : कुंजीलाल जैन, प्रथम संस्करण,पृ०६

३ वही, पृ०१६

४ 'उद्धारिणी' : बृजनन्दनसहाय, प्रथम संस्करण,पृ०१८

५ 'समाज सेवक' : बलदेवप्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण,पृ०८०

कारण है । फल की इच्छा से रहित हो कर किया गया कार्य अनासक्त कर्म है । ईश्वर को अर्पण करके किये गये कार्य से मनुष्य बन्धनों में नहीं पड़ता और बन्धन से मुक्त होकर ही वह मोक्ष प्राप्त करता है । इसीलिए भारतीय संस्कृति में अनासक्त कर्म पर विशेष बल दिया गया है । इसके अनेक उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी उपलब्ध होते हैं ।

बलदेव प्रसाद मिश्र के नाटक 'शंकर दिग्विजय' में अनासक्त कर्मयोग को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है । एक शिष्य के पूछने पर कि कर्म करने से सांसारिक बन्धन और दृढ़ होते हैं, फिर मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है, शंकराचार्य कहते हैं -- ' बेटा ! आसक्ति रखकर किया जाने वाला कर्म बन्धन लाता है, परन्तु जो कर्म आसक्ति-रहित होकर किया जाता है, वह सच्चा लाभ पहुंचाता है ।'[1]

बेचन शर्मा 'उग्र' के नाटक 'महात्मा ईसा' में भी ईसा अपने शिष्यों से कहते हैं --' ...... पीटर ! हमें कर्म करने मात्र का अधिकार है । उसका फल हमारे अधिकार में कदापि नहीं है । अस्तु, जो काम हमें मिला है, उसे फल की चिन्ता छोड़कर पूरा करना चाहिए ।'[2] 'वीर अभिमन्यु' में भी कृष्ण अर्जुन को निष्काम कर्म का उपदेश देते हुए कहते हैं --

'तुम सच्चे बनो कर्मयोगी, निष्काम करो कर्तव्य सदा ।
निज ज्ञानानल में भस्म करो, होतव्य और भवितव्य सदा'[3] ।

कर्मफल तथा पुनर्जन्म

भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य को उसके कर्मों का फल अवश्य मिलता है और उसी के अनुरूप उसे अगला जन्म भी मिलता है । संसार की विषमता का यही कारण है । कर्मों के बन्धन तथा पुनर्जन्म के चक्र से छूटने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । कर्मफल के अनेक उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी उपलब्ध होते हैं ।

---

१ 'शंकर दिग्विजय' : बलदेवप्रसाद मिश्र, पृ०१३०
२ 'महात्मा ईसा' : बेचन शर्मा उग्र, प्रथम संस्करण, पृ०४८
३ 'वीर अभिमन्यु' : राधेश्याम कथावाचक, ग्यारहवां संस्करण, पृ०११

श्री कृष्ण 'हसरत' के नाटक 'महात्मा कबीर' में भी इस बात की पुष्टि की गई है। एक स्थान पर रकाराम कहता है कि यदि वह लोग भी धनवान होते और खुब खाते तथा दूसरों को खिलाते तो कितना अच्छा होता। यह सुनकर कबीर कहते हैं--

'जो देते हैं वह पाते हैं, जो खिलाते व वे हो खाते हैं।
ये पूर्व जन्म का सौदा, जैसा करते वैसा पाते हैं ॥'[1]

'सावित्री सत्यवान' में भी एक स्थान पर नारद मुनि कहते हैं--' ....मनुष्य के पूर्व जन्म के कर्म, दु:ख सुख के रूप में आते हैं।'[2]

बालकृष्ण भट्ट के नाटक 'दमयन्ती स्वयंवर' में दमयंती सभी देवताओं तथा यक्ष आदि की उपेक्षा कर नल का वरण करती है, अत: निराश कलियुग नल को दण्ड देने के विचार से अपने सभासदों को एकत्र कर उन्हें आदेश देता है कि वे नल को हर प्रकार से कष्ट दे। उस समय चार्वाक कहता है --' जो आज्ञा..... मनुष्य मरने के उपरान्त अपने कर्मों का स्मरण करता है और उसको पूर्व जन्म कृत पाप या पुण्य का फल भोगना होता है।'[3]

'राजा शिवि' में भी राजा शिवि की तपस्या से घबड़ा कर इन्द्र कुबेर आदि से विचार विमर्श करते हुए कहते हैं--' यह तो सभी जानते हैं, कि कर्मवीर बनने के लिए परोपकार बनाया गया है और धर्मवीर होने के लिए तप का मार्ग दिखाया गया है, किन्तु स्वार्थपूर्ण कार्यकर्ता के लिए नरक कुंड भी रचाया गया है।

' पूर्व जन्म के कर्म-धर्म से प्राणी नर-तन पाता है।
किन्तु वही नर स्वार्थ सिद्धि से ,नरक-कुंड में जाता है।'[4]

इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर मालवा का अध्यक्ष प्रजा पर अत्याचार करता है, परन्तु भूल स्वीकार कर लेने पर राजा उसे क्षमा कर देते हैं। उस समय

---

१ 'महात्मा कबीर' : श्रीकृष्ण 'हसरत', प्रथम संस्करण, पृ०३
२ 'सावित्री सत्यवान' : श्रीकृष्ण 'हसरत', द्वितीय संस्करण, पृ०१४
३ 'दमयन्ती स्वयंवर' : बालकृष्ण भट्ट, प्रथम संस्करण, पृ०४७
४ 'राजा शिवि' : बलदेव प्रसाद खरे, प्रथम संस्करण, पृ०१४

उनका अध्यक्ष कहता है --'महाराज ! यदि आपने क्षमा कर दिया तो इससे क्या लाभ ? परमपिता के दरबार में तो इस अन्याय का दण्ड पाना ही होगा[1]।' आपके नाटक 'सत्यनारायण' में भी इस जन्म के सुख-दु:ख का कारण पूर्व जन्म के पाप-पुण्य को माना गया है । साधु तथा उनका दामाद श्रीकान्त व्यापार के लिए विदेश गये थे । उनके आने पर लीलावती पूछती है कि उन्हें परदेश में कष्ट तो नहीं हुआ ? यह सुनकर श्रीकान्त कहता है--'माता जी ! सुख दु:ख तो केवल आत्मा को संतोष करने का साधन है, किन्तु पूर्व जन्म का कमाया हुआ पुन्य-पाप इस सुख-दु:ख का कारण है[2]।'

मृत्यु के उपरान्त कर्मानुसार गति मिलती है, इस बात को पुष्टि 'सती-पार्वती' नाटक में भी की गई है । शिव की स्तुति करने के कारण धनपति, एक दिगम्बर को मार डालता है । अत: दिगम्बर का पुत्र धनपति को हत्या कर देता है । दक्ष दोनों शवों का अग्निसंस्कार करा देते हैं । उनकी जलती चिता को देखकर शिव कहते हैं--'जाओ, चिताओं में जलने वालों, अपने कर्मानुसार गति पाओ[3]।' आपके नाटक 'वीर अभिमन्यु' में भी अर्जुन अपने आचार्य द्रोणाचार्य के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने को प्रस्तुत नहीं हैं । यह देखकर कृष्ण कहते हैं --

'अपने अपने कर्मानुसार, सब प्राणी सुख-दु:ख भरते हैं ।
तुम नहीं किसी को मार रहे,नर स्वयं मृत्यु से मरते हैं[4]।'

इसी प्रकार तुलसी दत्त 'शैदा' के नाटक 'जनकनंदिनी' में लंका से सीता को लाकर राम उन्हें पत्नी के रूप में ग्रहण करते हैं, इस बात से नगर में असंतोष व्याप्त हो जाता है, परन्तु राम निरपराध सीता का त्याग पाप समझते हैं । उस समय कर्म प्रकट होकर कहता है --'..... स्वर्ग और नरक पुण्य और पाप, विधाता की सृष्टि नहीं अपने कर्मों का फल है[5]।'

---

१ 'राजा शिवि' : बलदेव प्रसाद खरे, प्रथम संस्करण, पृ० १०१
२ 'सत्यनारायण' : बलदेव प्रसाद खरे, प्रथम संस्करण,पृ० ६६
३ 'सती पार्वती' : राधेश्याम कथावाचक, प्रथम संस्करण,पृ०५३
४ 'वीर अभिमन्यु' : राधेश्याम कथावाचक, ग्यारहवां संस्करण,पृ०११
५ 'जनक नन्दिनी' : तुलसीदत्त शैदा, प्रथम संस्करण,पृ०४३

दुर्गाप्रसाद गुप्त के 'नलदमयन्ती' नाटक में दमयन्ती नल से कहती है --'प्राणेश्वर ! यह समय का फेर है । संसार के सब कार्य ऐसे ही चलते हैं, सुख दुःख सब कर्म अनुसार मिलते हैं।[1]' किशनचन्द जैन के नाटक 'पत्नी प्रताप' में भी नारद जी कहते हैं --' न्यून से न्यून कर्म भी जीव को अपना फल दिये बगैर नहीं छोड़ता ।[2]' इसी प्रकार 'राजा दिलीप नाटक' में राजा दिलीप पुत्र प्राप्ति हेतु नन्दिनी गाय की सेवा करते हैं । उनका सेवक हुताशन भी उनके साथ रहने की आज्ञा चाहता है । उस समय राजा कहते हैं--' ..... भारी आहुति दिये बिना किसी को पुत्रप्राप्ति नहीं होती । तूने गत जन्म में कोई बड़ा भारी पुण्य कार्य किया होगा,इसीलिए तू इस जन्म में पुत्र पुत्रीवान हुआ है ।[3]'

इसी प्रकार पं० उमाशंकर मेहता के नाटक' अंजना सुन्द में अंजना को वन में भटकते हुए देखकर शंकर भगवान कहते हैं --'यह तो दानवा-धिपति रावण और वरुण के बीच मैत्री कराने वाले प्रहलादराज के पुत्र पवनज की पत्नी मालूम पड़ती है । अपने पूर्व जन्म के कृत्यों के कारण इसकी यह दशा हुई है । इसका इसमें कुछ भी दोष नहीं है ।[4]' इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर प्रहसित पवनञ्जय से कहता है--' ईश्वर निर्दोष पर लगाये गये दोष को सहन नहीं करता । वह किसी न किसी रूप में उसका प्रतिफल देता ही है । आपने जैसा किया, आज वैसा ही फल चख रहे हैं ।[5]'

विश्व के नाटक 'भीष्म प्रतिज्ञा' में भी राजा चौलवह् अपनी रानी के कहने से वशिष्ठ मुनि की गाय चुरा लाते हैं, अत: वशिष्ठ मुनि उन्हें श्राप देते हैं --' जा दुष्ट तूने स्त्री के वशीभूत होकर यह पाप किया है । अतएव तू मृत्युलोक में स्त्री से वंचित रहकर ही अपने पापों का प्रायश्चित करेगा

---

१ 'नलदमयन्ती' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, तृतीय संस्करण,पृ०५७

२ 'पत्नी प्रताप' : किशनचन्द जैन, प्रथम संस्करण,पृ०१२३

३ 'राजा दिलीप नाटक' : 'गोपाल दामोदर तामस्कर,प्रथम संस्करण,पृ०६१

४ 'अंजना सुन्दरी' : पं० उमाशंकर मेहता, संस्करण सं०१९८६वि०,पृ०८

५ वही, पृ० ६६

जैसा किया है वैसा भरेगा[१]।' यही बात 'पूर्व भारत' नाटक में भी कही गई है। कौरव, पुरोचन के नेतृत्व में वारणावत में एक लाक्षागृह बनवाते हैं और उसमें पाण्डवों को उनकी मां कुन्ती के साथ रखने की व्यवस्था करते हैं। विदुर इस लाक्षागृह का भेद युधिष्ठिर से बता देते हैं, अत: पाण्डव छिपकर लाक्षागृह से बाहर निकल जाते हैं और उसमें आग लगा देते हैं, जिससे पुरोचन अपने सहायकों के साथ उसमें जल जाता है। वह जलता हुआ कहता है --'हाय यह क्या हुआ .... हे ईश्वर! मैंने जैसे कुकर्म किए हैं, उनका तूने उचित ही फल दिया[२]।' वह पुन: कहता है--' हे ईश्वर! मेरे अपराध क्षमा करो। अरे मैंने अपने कर्मों का प्रत्यक्ष फल पाया[३]।'

ईश्वरी प्रसाद शर्मा के नाटक 'रानी सुन्दरी' में एक स्थान पर योगिनी कहती है--' जिस भाई के लिए आपने इतना बड़ा त्याग कर दिया, उसकी जान के गाहक क्यों बनते हैं? राजन! इस संसार में सभी अपने कर्मों का फल पाते हैं। इसने जैसा किया, वैसा पाया और आगे पायेगा[४]।'

जमनादास मेहरा के नाटक 'हिन्दु कन्या' में भी इस जन्म के दु:ख का कारण पूर्वजन्म के पाप को माना गया है। राधा के श्वसुर उसे निम्न जाति की कन्या कहकर त्याग देते हैं। उसका पति रमण उसे स्वीकार करना चाहता है और वह उससे मिलने का आश्वासन भी देता है। यह सुनकर वह कहती है--' अहो भाग्य...... यदि घोर दु:ख और असह्य वियोग के कारण मेरा जीवन प्रदीप बुझ जाय, तो मेरी मृत्यु पर आंसू न बहाना, क्योंकि यह मेरे किसी जन्म के पापों का फल होगा[५]।'

'सत्य का सैनिक' नाटक में भी बताया गया है कि मनुष्यों के कर्मों का दायित्व मनुष्यों पर ही होता है। विजय की जमींदारी में अबरक की खान पाये जाने का समाचार पाकर गोवर्धन कहता है कि भगवान

---

१ 'भीष्म प्रतिज्ञा' : विश्व, प्रथम संस्करण, पृ०११

२ 'पूर्व भारत' : मिश्रबन्धु, चौथा संस्करण, पृ०५१

३ वही, पृ०५१

४ 'रानी सुन्दरी' : ईश्वरीप्रसाद शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०११७

५ 'हिन्दु कन्या' : जमनादास मेहरा, प्रथम संस्करण, पृ०४४

भी अन्याय करता है । धनवानों को ही धन देता है । यह सुनकर दामोदर कहता है --' तुम स्वीकार करते हो न कि कर्मों के करने वाले तुम हो, ईश्वर नहीं, तब उसके भले बुरे का दायित्व भगवान पर कैसे चला जायेगा ? जो किया है सो पा रहे हो और जैसा करोगे वैसा पाओगे[1]।' इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर विजय के सन्यास ग्रहण करने के पश्चात् उसका नया मुनीम उसके पुत्र अजय की हत्या का प्रयत्न करता है, परन्तु असफल रहता है । उस समय विजय की पत्नी अंजली कहती है --' भगवान् को दोष क्यों दूं ? सब अपने कर्म का भोग है[2]।' बेचन शर्मा 'उग्र' के नाटक 'महात्मा ईसा' में भी ईसा अपने शिष्य एंड्रूज से कहते हैं --' .... एंड्रूज परमात्मा सबको अपने कर्म का फलाफल देता है[3]।'

बलदेव प्रसाद मिश्र के नाटक 'मीरा बाई' में कृष्ण-भक्त मीराबाई एक वैष्णव मन्दिर की स्थापना करती हैं, जिसमें वे कृष्णभक्ति के गीत गाया करती हैं । उनके गीत सुनने को लालायित अकबर एक दिन वैष्णव बन कर आता है और अपनी मुक्ता की माला भगवान की मूर्ति के गले में डाल देता है । भोजनदास यह बात मीरा के पति महाराणा कुंभा से बताता है, परन्तु राजा उसे इस अपराध के दण्डस्वरूप बन्दी बना लेते हैं । कारागार में वह कहता है--' ..... कर्म का फल जरूर मिलता है, पराये लिए गढ़ा खोदे तो उसमें अपने आप ही गिरना पड़ता है[4]।' भोजनदास की बातों से राजा के हृदय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है, अत: वे मीरा को राज्य से निष्कासित कर देते हैं । सत्यता का ज्ञान होने पर उन्हें घोर पश्चात्ताप होता है और वे सर्वत्र उन्हें ढूढ़ने का प्रयत्न करते हैं और न पाकर कहते हैं --' हा महारानी !.. .. बन २ जंगल जंगल, देश देश और पहाड़ पहाड़ पर रानी को देखा परन्तु कहीं भी उसका पता नहीं लगता । जैसा कार्य मैंने किया वैसा ही अब फल मिल रहा है[5]।'

---

१ 'सत्य का सैनिक' : नारायण प्रसाद 'बिन्दु', प्रथम संस्करण, पृ०३१
२ वही, पृ०१४०
३ 'महात्मा ईसा' : बेचन शर्मा 'उग्र', प्रथम संस्करण, पृ०११८
४ 'मीराबाई' : बलदेव प्रसाद मिश्र, संस्करण संवत्१९९८, पृ०३०-३१
५ वही, पृ०८०

स्वर्ग नर्क की कल्पना

भारतीय संस्कृति के अनुसार ऐसा माना जाता है कि मनुष्य मरने के बाद अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग तथा नर्क के सुख अथवा दु:ख पाता है । भारतीय जनजीवन इस विश्वास से अत्यधिक प्रभावित है । यह प्रभाव हिंदी नाटकों में भी देखने को मिलता है ।

जमनादास मेहरा के नाटक `कन्या विक्रय` में वृद्ध लोटन मल अपनी सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए रामदास की युवती कन्या से विवाह करना चाहते हैं । उनकी यह अनीति देखकर वैद्य जी कहते हैं --`... धन का उत्तराधिकार ..... परन्तु इस पाप कामना में लग कर नरक कुंड में न जाओ[१] ।`

`कर्बला` नाटक में इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हज़रत मोहम्मद के नवासे हुसैन को धर्म प्रवर्तक न मान कर, यज़ीद सबकी बैयत स्वयं लेना चाहता है । इस कारण वह हुसैन की हत्या कराना चाहता है । उसकी बेगम हिन्दा, उसे इस दुष्कर्म से रोकना चाहती है,परन्तु वह उसे चुप रहने का आदेश देता है । जिसे सुनकर हिन्दा कहती है --`कैसे ख़ामोश रहूं । आपको अपनी आंखों से जहन्नुम के गार में गिरते देख कर ख़ामोश नहीं रह सकती । आपको मालूम नहीं कि रसूल की आत्मा स्वर्ग में बैठा हुई आपके इस अन्याय को देख कर आपको लानत दे रही होगी । और, हिसाब के दिन आप अपना मुंह उन्हें न दिखा सकेंगे । क्या आप नहीं जानते, आप अपनी नजात का दरवाजा बन्द कर रहे हैं[२] ।`

मोक्ष

मोक्ष जीवन का परम उद्देश्य है । मोक्ष प्राप्ति का अर्थ है जीव का देवलोक में वास । जिसे देवलोक की अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है,वह आवागमन के चक्र से छूट कर अनन्त विश्राम करता है । इस विषय में रेवतीनन्दन`भूषण` के नाटक `कर्मवीर` में शुकदेव राजा परीक्षित से कहते हैं-- `राजन् !..... मृत्यु कोई भयानक वस्तु नहीं केवल इस लोक से उ दूसरे लोक में जाने की साधारण अवस्था का नाम है । जो मनुष्य इस मायामय संसार में रह

---

१ `कन्या विक्रय` : जमनादास मेहरा, प्रथम संस्करण,पृ०२१

२ `कर्बला` : प्रेमचन्द, पृ०३१

कर शुभ कर्मों द्वारा अपने जीवन को आदर्श बनाते हैं,वह मरने पर देवलोक में जाते हैं, जहाँ से लौट कर आवागमन के चक्कर में नहीं आते हैं[1]।"

मोह माया का त्याग

मोक्ष प्राप्ति के लिए मोहमाया का त्याग करना आवश्यक है,क्योंकि माया ही बंधन है और माया ही दु:खों का कारण है । बलदेव प्रसाद मिश्र के नाटक 'शंकरदिग्विजय' में शंकराचार्य अपनी माता को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताते हुए कहते हैं --"माता संसार की आसक्ति छोड़ दो । मोक्ष तो रखा हुआ है । मोक्ष कोई बाहरी वस्तु नहीं है । जीव तो स्वयं मुक्त है, परन्तु इस अज्ञान, इस मोह के ही कारण वह अपने को बद्ध समझता है[2]।" 'धर्मविजय' नाटक में भी मोक्ष प्राप्ति के लिए समस्त इच्छाओं के त्याग को आवश्यक बताया गया है । एक स्थान पर श्रीपाल की वधू अजयपाल से जो उससे प्रणय निवेदन करता है, कहती है कि उसे चाहिए कि वह अपनी इन कुत्सित इच्छाओं का त्याग कर दे,क्योंकि --" ..... इच्छा दु:ख है । दु:ख का मोक्ष में निवास नहीं । इसीलिए इच्छुक पुरुष मोक्षात्मा नहीं हो सकता, यह न्याय का वाक्य है[3]।"

धर्म पर विश्वास

भारतीय संस्कृति में धर्म पर अटूट श्रद्धा व्यक्त की गई है । भारतीय जीवन धर्म प्रधान है । यहाँ धर्म जीवन में इस प्रकार व्याप्त हो गया है कि अधिकांशत: कार्य धर्म के आधार पर ही होते हैं । धर्म को ईश्वर के समकक्ष माना गया है । ऐसा विश्वास है कि धर्म पर ही जगत प्रतिष्ठित है । धर्मानुसार कार्य करने में ही सबका कल्याण है । धर्म की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है,क्योंकि धर्मच्युत मनुष्य का ईश्वर भी सहायक नहीं होता है । इस प्रकार के कतिपय उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी प्राप्त होते हैं ।

---

१ 'कर्मवीर' : रेवतीनन्दन 'भूषण', प्रथम संस्करण,पृ०६४

२ 'शंकर दिग्विजय': बलदेव प्रसाद मिश्र, पृ० ११४

३ 'धर्मविजय' : कुंजीलाल जैन, प्रथम संस्करण,पृ०२२

धर्म की अनिवार्यता हरिहरशरण मिश्र के नाटक `भारतवर्ष` में भी बताई गयी है। विश्वनाथ जी के दर्शन करके आयी हुई मालती तथा शर्वाणी को धर्मराज नाम का पण्डा धोखा देकर लिंगेश्वर जी के दर्शन हेतु ले जाने का प्रयत्न करता है। मालती उसकी बातों में आकर जाने को तत्पर हो जाती है और कहती है कि उसे किसी भी मूर्ति पर अविश्वास नहीं है। परन्तु पंडे का कपट पहचान कर शर्वाणी कहती है--` किन्तु मालती ! मूर्ति से भी अधिक श्रद्धा तुम्हें अपने धर्म पर रखनी चाहिए। धर्म-विहीना नारी का ईश्वर भी सहायक नहीं होता।`[१]

प्रेमचन्द जी के नाटक `कर्बला` में अब्दुल हुसैन को बैयत लेना चाहता है, परन्तु यज़ीद की बैयत न लेने से घर, द्वार, भूमि, सम्पत्ति सभी कुछ छिन जाने का भय है। यह जानकर भी अब्दुल की पत्नी कहती है--` यह सही है मगर ईमान के मुक़ाबले जायदाद की कोई हस्ती नहीं, जिन्दगी की भी कोई हस्ती नहीं। दुनिया की चीज़ें एक दिन छूट जायेंगी, मगर ईमान तो हमेशा साथ रहेगा।`[२] `दिल की प्यास` में भी इसी बात की पुष्टि की गयी है। [illegible] कृष्णा कहती है--` अगर धर्म की रक्षा के लिए जेल भी जाना हुआ तो मैं उसे जेल नहीं, जीवन का स्वर्ग समझूंगी।`[३]

जमनादास मेहरा के नाटक `विश्वामित्र` में विश्वामित्र ब्रह्मर्षि पद प्राप्त करने के लिए अनेक उपाय करते हैं, सफल न होने पर वशिष्ठ मुनि के सौ पुत्रों को मरवा डालते हैं और स्वयं वशिष्ठ मुनि को मारने के लिए मारण यज्ञ करते हैं, जिसमें उन्हें पुरोहित बनने का आमंत्रण देते हैं। यह देख उनकी पुत्रवधू अरुंधती कहती है कि अब तो वे ही उन लोगों की रक्षा करने वाले हैं। उनके बाद उन लोगों की रक्षा कौन करेगा ? तब वशिष्ठ मुनि कहते हैं--`पुत्री ! रक्षा करने वाला एकमात्र धर्म है। धर्म के मार्ग से डिगने पर घोर अमंगल होगा, मैं धर्म के निमित्त ही यज्ञ में गमन करता हूं, और धर्म की रक्षा में तुम सबको छोड़ता हूं।`[४]

---

१ `भारतवर्ष` : हरिहर शरण मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०४५

२ `कर्बला` : प्रेमचन्द, पृ०५३

३ `दिल की प्यास` : आगा हश्र कश्मीरी, प्रथम संस्करण, पृ०६६

४ `विश्वामित्र` : जमनादास मेहरा, प्रथम संस्करण, पृ०७६

धार्मिक सामंजस्य

भारतीय संस्कृति समन्वय प्रधान संस्कृति है । अनेक धर्मों के गुणों को आत्मसात् करके यह फलती फूलती रही है । इसकी छत्र छाया में अनेक धर्म पुष्पित तथा पल्लवित होते रहे हैं । भारतीय संस्कृति में सभी धर्मों को समान रूप से आदर प्रदान किया जाता है, सभी धर्मों को पूज्य माना जाता है ।

धार्मिक सामंजस्य का एक उदाहरण बलदेव प्रसाद मिश्र के नाटक `शंकर दिग्विजय` में दृष्टिगोचर होता है । मण्डन मिश्र की पत्नी भारती उनसे कहती है कि अब उनका और कुमारिल भट्ट का, वैदिक धर्म की स्थापना का, कार्य समाप्त हो गया अब शंकराचार्य का कार्य प्रारम्भ होगा, क्योंकि --`अब सब धर्मों के तत्वों का सामंजस्य करके समाज को भली भांति संगठित करने की आवश्यकता है, व्यवहार के साथ परमार्थ का स्वरूप भली भांति प्रकट करने की आवश्यकता है[१]।`

धार्मिक समन्वय का यह रूप हरिहरशरण मिश्र के नाटक `भारतवर्ष` में भी देखने को मिलता है । शर्वाणी और मालती विश्वनाथ जी के दर्शन करने जाती है वहां जिस कूप में शंकर भगवान प्रतिष्ठित हो गये थे, उसे देखकर मालती कहती है कि उसने भगवान के कूप में प्रविष्ट होने के विषय में एक अन्य कथा सुन रखी है । यह सुनकर शर्वाणी कहती है--`तुमने जो सुना है वह मैं जानती हूं । ..... तुम मूर्ति का रहस्य अभी तक नहीं समझी हो । प्रतिमा तो भगवान पर ध्यान एकाग्र करने के लिए एक साधन मात्र है, नहीं तो मुसलमानों के अल्लाह और हिन्दुओं के शिवशंकर में तनिक भी अन्तर नहीं है[२]।` इसी नाटक का एक पात्र कादिर हिन्दू और मुस्लिम धर्म में भेद नहीं मानता तथा मुसलमान होकर भी मूर्ति-पूजा में विश्वास करता है । अत: करीम उससे घृणा करता है । उसे समझाते हुए कादिर कहता है--`करीम ! तो सुनो वह कृष्ण मेरे मौला का ही अक्स है[३]।` कादिर की कृष्णभक्ति देखकर कारुणिक उससे कृष्ण भक्ति का कारण जानना चाहते हैं । तब वह कहता है--`इसलिए कि वह जादीश्वर है-- मेरे अल्लाह का

---

१ `शंकर दिग्विजय` : बलदेव प्रसाद मिश्र, पृ०९७

२ `भारतवर्ष` : हरिहर शरण मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०४१

३ वही, पृ०५०

प्रतिबिम्ब है[1]।' कारुणिक के पूछने पर कि वह प्रतिदिन मन्दिर के द्वार पर क्यों आता है, वह उत्तर देता है--'महाराज ! मन्दिर और मस्जिद दोनों ही परमेश्वर की उपासना के केन्द्र हैं । मेरे लिए इन दोनों का महत्त्व समान है[2]।' मौलाना के कहने के से अफजल कारुणिक की हत्या करने आता है, परन्तु पकड़ा जाता है । उसे विश्वास है कि कारुणिक के शिष्य उसका वध कर देंगे,परन्तु इसके विपरीत कारुणिक द्वारा क्षमा दान पाकर उसके हृदय में हिन्दू मुसलमान की एकता की भावना उत्पन्न होती है । वह मौलाना से कहता है--' मौलाना साहिब ! अब मुझे यकीन आ गया है कि हिन्दू,मुसलमान या ईसाई जिस खुदा को परिस्तिश करते हैं, वे अलग-अलग तीन खुदा नहीं है[3]।'

कुछ इसी प्रकार के विचार दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक 'भारतवर्ष' में भी मिलते हैं । धर्मदत्त एक मुसलमान लड़के अहमद का पालन पोषण करता है । वह लड़का कहता है कि उसका रोम रोम धर्मदत्त का ऋणी है । यह सुनकर धर्मदत्त कहता है--'अहमद ! मैंने तुझे पाला यह ठीक है.... पर मैंने तुझ पर या तेरी मुसलमान जाति पर कोई एहसान नहीं किया । यह तो सिर्फ हमारा फर्ज था जिसे अदा किया है ....

नाम दो है आर्य मुस्लिम औ नहीं कुछ फर्क है ।

\+ \+ \+

हैं समझते एक ही हम कृष्ण और करीम को ।
मूर्ख है वह दो जो समझें राम और रहीम को ।'[4]

दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक 'श्रीमती मंजरी' में भी युगलकिशोर कहता है --

'मुसलमां है जो हिन्दू है, जो हिन्दू है मुसलमां है ।
समझ पर पड़ गये पत्थर कि दोनों अर्थ एक सां है ।।'[5]

---

१ 'भारतवर्ष' : हरिहरशरण मिश्र, प्रथम संस्करण,पृ०५३

२ वही, पृ०५३

३ वही, पृ०१०२

४ 'भारतवर्ष' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, प्रथम संस्करण,पृ०८

५ 'श्रीमती मंजरी' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, तृतीय संस्करण,पृ०५

इसी नाटक में एक अन्य स्थल पर सेठ जानकीदास मंजरी को घर में अकेली पाकर घुस जाता है । उसी समय जलालुद्दीन आकर मंजरी को बचा लेता है । मुसलमान होकर भी वह एक हिन्दू लड़की को बचाने का प्रयत्न करता है, यह बात जानकीदास को उचित नहीं लगती । परन्तु अन्त में जब पुलिस उसे पकड़ कर ले जाने लगती है तब वह अपनी भूल स्वीकार करता है और कहता है--

'राम हम मस्जिद में बोलें तुम शिवाले में खुदा ।
एक ब्रह्म और अल्लाह को दो घरों में हो सदा ।
अब जहाँ आये सुनें कानों के परदे खोल के ।
राम के आगे भुके हिन्दू भी अल्लाह बोल के ।'[१]

राधेश्याम कथावाचक के नाटक 'ऊषा अनिरुद्ध' में शैव और वैष्णव धर्मों के समन्वय का प्रयत्न किया गया है । बाणासुर शिव की आराधना करके अजेय रहने का वर प्राप्त कर लेता है और सब पर मनमाना अत्याचार करने लगता है । वह सभी वैष्णवों को शैव बनाने का प्रयत्न करता है । एक विष्णु भक्त व्यक्ति को जब वह शैव बनाने में सफल नहीं हो पाता तब उसे मरवा डालता है । फलत: विष्णुदास का पुत्र कृष्णदास शैवों के विरुद्ध वैष्णवों का संगठन बनाता है । इस संगठन को अनुचित बताते हुए एक वैष्णव कहता है --
'शैव सम्प्रदाय के मुकाबिले में वैष्णव संगठन खड़ा करना मनुष्य जाति का उदार उद्देश्य नहीं है । इससे मनुष्य-जाति मात्र की एकता में बाधा पड़ता है ।'[२]

प्रेमचन्द के नाटक 'कर्बला' में हिन्दू तथा इस्लाम धर्म की एकता पर बल दिया गया है । हुसैन के खेमे के पास एक योगी आता है जो मुहम्मद की समाधि का मार्ग पूछता है । हुसैन के पूछने पर कि वह कौन है? योगी कहता है-- 'साधु हूँ । उस देश से आ रहा हूँ जहाँ प्रथम ओंकार ध्वनि की सृष्टि हुई थी महर्षि मुहम्मद ने उसी ॐ ध्वनि से सम्पूर्ण जगत को निनादित कर दिया है । इनके अद्वैतवाद ने भारत के समाधि-मग्न ऋषियों को भी जागृति प्रदान कर दी है'[३]

---

१ 'श्रीमती मंजरी' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, तृतीय संस्करण,पृ०१२०
२ 'ऊषा अनिरुद्ध' : राधेश्याम कथावाचक, तृतीय संस्करण,पृ०१७
३ 'कर्बला' : प्रेमचन्द, पृ०१२६

ज़ियाद और हुसैन में युद्ध होता है । युद्ध के मध्य ज़ियाद हुसैन को नमाज़ पढ़ने का भी अवसर नहीं देता है । यह देखकर सहसराय अपने सात भाइयों के साथ हुसैन की तब तक रक्षा करते हैं जब तक हुसैन नमाज़ नहीं पढ़ लेते । नमाज़ समाप्त कर वह कहते हैं --'.... अगर्चे तुम मोमिन नहीं हो, लेकिन जिस मज़हब के पैरों ऐसे हक़परवर, ऐसे इन्साफ पर जान देने वाले, जिंदगी को इस तरह नाचीज़ समझने वाले,मज़लूमों की हिमायत में सिर कटानेवाले हों, वह सच्चा और मिनजानिब ख़ुदा है । वह मज़हब दुनियां में हमेशा क़ायम रहे,और नूरे-इस्लाम के साथ उसकी रोशनी भी चारों तरफ फैले[१]।' यह सुनकर सहसराय कहते हैं--'..... मेरी भी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि जब कभी इस्लाम को हमारे रक्त की आवश्यकता हो, तो हमारी जाति में अपना वक्ष खोल देने वालों की कमी न रहे[२]।'

अभेद की भावना

धार्मिक समानता के कारण अभेद की भावना का उदय हुआ । सभी धर्मों तथा सभी वर्गों के लोगों को समान माना जाने लगा। भारतीय संस्कृति में तो अभेद की भावना अत्यन्त प्राचीनकाल से ही विद्यमान रही है । वैदिक दर्शन के अनुसार कीट पतंग,जीव जन्तु सभी में एकत्व है,क्योंकि सभी में ब्रह्म का रूप परिलक्षित होता है । प्राणीमात्र परमात्मा का अंश है, अत: जीवों में परस्पर किसी प्रकार का भेद नहीं है । इसी भावना के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति में दया,प्रेम,सहिष्णुता,अहिंसा,परोपकार,विश्वमैत्री की भावना आदि गुण प्राप्त होते हैं । हिन्दी नाटकों में इसके पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध होते हैं ।

राधेश्याम कथावाचक के नाटक 'परम भक्त प्रह्लाद' में एक स्थल पर हिरण्याकश्यप की पत्नी स्नेहलता कहती है--

---

१ 'कर्बला' : प्रेमचन्द, पृ०१८३-१८४

२ वही, पृ० १८४

'सृष्टि में सब हैं एक समान ।

श्याम और मैले या उजले, छोटे बड़े ऊँच या नीचे निर्धन या धनवान।

एक प्रकृति सबकी माता है, एक पुरुष ही सबका है,एक है सब संतान।

हाथी हो या चींटी हो, जड़ चैतन कोई भी हो,क्या जल क्या पाषान।[1]

'शम्बर कन्या' में एक स्थल पर लोपामुद्रा भी ऋता से कहती है--'ऋता! जीवमात्र ही वरुण देव के हैं । उन्हीं के सुख के लिए देवों का आराधन किया जाता है ।'[2]

इसी प्रकार 'प्रेम की वेदी' नाटक में जैनी धर्म की विभिन्नता को नहीं मानती है,परन्तु उसकी माँ मिसेज विलियम अपने ही धर्म को श्रेष्ठ बताती है । यह सुनकर जैनी कहती है--' ..... आखिर सम्पूर्ण जगत की एक ही आत्मा तो है । धर्म का यह भेद क्या आत्मा की एकता को मिटा सकता है ? वह खुदा जो एक एक अणु में मौजूद है, उसे हम गिरजे और मसजिद और मन्दिर में बन्द कर देते हैं और एक दूसरे को काफिर और म्लेच्छ कहते हैं । पूछो, उस विश्वात्मा को तुम्हारे इन फगड़ों से क्या मतलब ?'[3]

'महाराणा प्रताप सिंह' में भी सभी प्राणियों को परमपिता की सन्तान माना गया है । महाराणा प्रताप को अकबर से युद्ध करने के लिए तत्पर देखकर उनके पुरोहित कहते हैं कि उन्हें परस्पर प्रेम से रहना चाहिए। व्यर्थ का रक्तपात उचित नहीं है । यह सुनकर प्रतापसिंह कहते हैं --'पुरोहित जी आप ठीक कहते हैं ..... प्रतापसिंह क्षात्रिय संतान है--क्षात्रियों का यह काम नहीं है कि व्यर्थ परमेश्वर की सृष्टि को नाश करें और उसके आगे अपराधी बने, दूसरे हम लोग हिन्दू हैं,हम लोगों का धर्म अत्यन्त उदार भावपूर्ण है,प्राणीमात्र की रक्षा करना हमारा धर्म है.... क्या वे लोग उसी जगत पिता की सन्तान नहीं है ? परन्तु महाराज हमारे क्रोध का कारण दूसरा ही है ।'[4]

बलदेव शास्त्री के 'प्रताप नाटक' में भी रानी कहती है --'मोलराज .... वैसे तो सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक है । न कोई मलेच्छ है न कोई देवता । गुण कर्मों के अनुसार ही मनुष्यों के भिन्न-भिन्न विभाग हो

---

१ 'परमभक्त प्रह्लाद' : राधेश्याम कथावाचक,चतुर्थ संस्करण,पृ०३६

२ 'शम्बर कन्या' : कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी,प्रथम संस्करण,पृ०३०

३ 'प्रेम की वेदी' : प्रेमचन्द, चतुर्थ संस्करण,पृ०५२

४ 'महाराणा प्रताप सिंह' : राधाकृष्णदास,छठा संस्करण,पृ०३८

जाते हैं। कोई दाढ़ी रखता, कोई दाढ़ी न रखकर केवल मूँछें ही रखता है और कोई दोनों का ही सफाया कर डालता है। परन्तु परमात्मा के यहाँ से आते हैं सब एक ही रूप में।[१]

जमुनादास मेहरा के नाटक 'भारत पुत्र' में भी अभेद की भावना के दृष्टान्त मिलते हैं। चैतन्यदास की कुटी पर प्यास से व्याकुल दो साधु आते हैं, जिन्हें चैतन्यदास की पालित मुसलमान कन्या लोई दूध देती है, जिसे पीकर वे तृप्त हो जाते हैं और उसे आशीर्वाद देते हैं, परन्तु ज्यों ही उन्हें ज्ञात होता है कि यह कन्या मुसलमान है वे क्रोधित हो उसे श्राप देने लगते हैं। उसी समय वहाँ कबीर पहुँच जाते हैं और उन्हें समझाते हुए कहते हैं--

'वही मालिक मुसलमाँ का वही हिन्दू का मालिक है।
जिसे तुम ईश कहते हो मुसलमाँ का वह खलिक है।'[२]

इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर कबीर पुन: कहते हैं --

'राम रहीम वही अल्ला वह विष्णु, गोविन्द, महेश वही।
केशव और करीम वही जगदीश रसूल गणेश वही ।।
तुम कुछ कहते हम कुछ कहते अपना जो जिसको भाता है।
जो रूप बसालो तन मन में वह उसी रूप में आता है ।।'[३]

अभेद की भावना का एक उदाहरण बेचन शर्मा 'उग्र' के नाटक 'महात्मा ईसा' में भी देखने को मिलता है। विवेकाचार्य महात्मा ईसा को समझाते हुए कहते हैं कि उन्हें सेवा मार्ग पर चलना चाहिए। ईसा के पूछने पर कि किस प्रकार चलने से इस मार्ग में सफलता प्राप्त होगा, विवेकाचार्य कहते हैं --' अपने और पराये का भेद भूल जाने से, छोटे और बड़े का विचार छोड़ देने और संसार भर को अपना कुटुम्ब मान लेने से[४]।' महात्मा ईसा एक कुष्ट रोग के रोगी की सेवा करते हैं। उसके पूछने पर कि वह कौन हैं जो उसके

---

१ 'प्रताप नाटक' : बलदेव शास्त्री, पृ०१२५

२ भारत पुत्र' : जमनादास मेहरा, प्रथम संस्करण, पृ०५१

३ वही, पृ०६६

४ 'महात्मा ईसा' : बेचन शर्मा 'उग्र', प्रथम संस्करण, पृ०२४

लिए इतना कष्ट उठाकर उसकी सेवा कर रहे हैं, महात्मा ईसा कहते हैं --
'सब मानना..... क्या समझते हो तुम हमारे कोई नहीं हो ? भला ऐसा
कौन कहेगा ? हम सब उस एक ही परमपिता की सन्तान हैं ।'[1]

इसी बात की पुष्टि बृजनन्दनसहाय के 'उन्मांगिनी'
नाटक में भी की गयी है । अभयानन्द की कुटी में एक दिन ब्राह्मण और एक
फकीर दोनों अतिथि बनते हैं । फकीर को अतिथि बनाने के कारण ब्राह्मण
अभयानन्द से असन्तुष्ट हो जाता है । उस समय अभयानन्द कहते हैं --'भगवान
के यहाँ हिन्दू मुसलमान का बखेड़ा नहीं है । कर्ता ने मनुष्यमात्र को एक सा
बनाया ।'[2]

बलदेव प्रसाद मिश्र के नाटक 'समाज सेवक' में भी अभेद
की भावना दृष्टिगोचर होती है । मोहन एक स्वयंसेवक दल की स्थापना करता
है और उन्हें निर्देश देता है कि वे सबकी सेवा करें तथा सबसे मिलकर रहें । यह
सुनकर एक ब्राह्मण कहता है कि चमारों से वह लोग छूत मानते हैं । तब मोहन
कहता है--' भाई..... जिस ईश्वर ने तुम्हें बनाया है, उसने ही उन चमारों
को बनाया है । फिर उनसे घृणा कैसी ?'[3] इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर
घायल कल्लू डोम को मोहन पानी पिलाता है तथा उसकी मरहम पट्टी करता है
यह देखकर स्वामी चिद्घनानन्द क्रोधित हो उठते हैं । तब मोहन कहता है--
'आखिर वह भी भगवान का बनाया हुआ है या और किसी का ? जब भगवान
ने हम दोनों को ही बनाया है, तब हम लोग भाई-भाई हुए । फिर छूने में
क्या दोष ?'[4]

'भारत दर्पण' नाटक में भी हिन्दू और मुसलमान दोनों
की एकता का समर्थन मिलता है । बिहारी, लतीफ और रशीद आपस में
हिन्दुओं और मुसलमानों के विषय में चर्चा कर रहे हैं । लतीफ का विचार है

---

१ 'महात्मा ईसा' : बेचन शर्मा 'उग्र' ,प्रथम संस्करण,पृ०६२

२ 'उन्मांगिनी' : बृजनन्दनसहाय, प्रथम संस्करण,पृ०१८४

३ 'समाज सेवक' : बलदेवप्रसाद मिश्र , प्रथम संस्करण,पृ०१२

४ वही , पृ०३२

कि इस भूमि पर हिन्दुओं का भी उतना ही अधिकार है जितना मुसलमानों का। परन्तु रशीद इस बात से सहमत नहीं है । अत: रशीद को समझाते हुए बिहारी कहता है --' भाई रशीद, लोक सब कहता है जिस प्रकार अग्नि को गर्मी,गैस की रोशनी और वाष्प शक्ति भिन्न भिन्न २ सूरतें हैं । इसी प्रकार हिन्दू मुस्लिम और यहूदी उसी परमात्मा की मूरतें हैं ।'[1]

श्रीकृष्ण 'हसरत' के नाटक 'महात्मा कबीर' में कबीर पर दोषारोपण किया जाता है कि वह काफिर हैं,क्योंकि वह हिन्दू और मुसलमान को एक कहते हैं । इस विषय में पूछने पर कबीर कहते हैं--'मैंने जरूर कहा है ।...... मैं बराबर कहता हूं कि जो राम वही रहीम और जो रहीम वही एक राम है ।'[2]

रामनरेश त्रिपाठी के नाटक 'वफाती चाचा' में भी हिन्दू मुस्लिम ऐक्य की भावना उपलब्ध होती है । हिन्दू मुस्लिम विरोध के समय उत्तेजित मुसलमानों से एक व्यक्ति कहता है--'हम जन्में हैं हिन्दुस्तानी होकर, हमारे बाप दादे भी यहीं दफ़न हैं, हिन्दुस्तान हमारा मुल्क है और हिन्दू हमारे भाई हैं ।'[3]

संसार ईश्वरमय है

भारतीय संस्कृति के अनुसार ऐसा विश्वास किया जाता है कि सम्पूर्ण संसार के अणु अणु में परमात्मा का अंश विद्यमान है,अत: सारा संसार ईश्वरमय है । इस भावना की पुष्टि बलदेव प्रसादखरे के नाटक 'राजा - शिवि' में भी की गई है । एक स्थल पर राजा शिवि के सेनापति कहते हैं --

'...... जब राज्य की प्रजा और हम सब एक ही परमात्मा की सन्तानें हैं तो फिर छोटे- बड़ों का, स्वामी-सेवक का ध्यान छोड़कर सबसे परस्पर प्रेम करना, हमारे धर्मशास्त्रों का पहिला ज्ञान है ।'[4]

१'भारत दर्पण' : कृष्ण चन्द 'जैबा',प्रथम संस्करण,पृ०८३

२'महात्मा कबीर' : श्रीकृष्ण'हसरत',प्रथम संस्करण,पृ०१०३

३'वफाती चाचा' : रामनरेश त्रिपाठी, प्रथम संस्करण,पृ०६७

४'राजा शिवि' : बलदेव प्रसाद खरे, प्रथम संस्करण, पृ०५०

यही भाव `परम भक्त प्रह्लाद` में भी देखने को मिलता है। अभिमानी हिरण्याकश्यप अपने को ईश्वर मानता है और सबसे कहता है कि उसे ही ईश्वर समझें। परन्तु उसका पुत्र प्रह्लाद कहता है कि वह ईश्वर नहीं है, क्योंकि --`

`संसार का स्वामी, रमा सब ठौर वह संसार में।
संशय नहीं संसार उसमें और वह संसार में।`[1]

प्रह्लाद की भगवान में आस्था देखकर हिरण्याकश्यप क्रुद्ध हो उसे बन्दी बना लेता है तथा कारागार में एक विषधर सर्प छोड़ देता है, जिससे सर्पदंश से प्रह्लाद की मृत्यु हो जाय परन्तु उस सर्प से भगवान प्रकट होकर उसे आशीर्वाद देते हैं। तब प्रह्लाद कहता है--` अब नहीं भय करूंगा.... सब जगह तो मेरे जगदीश हैं, फिर भय किससे ? --

`जहां भी देखता हूं मैं नज़र पड़ते वहीं तुम हो।
कहां मैं हूं? नहीं मैं हूं, तुम्हीं तुम हो, तुम्हीं तुम हो।`[2]

सम्पूर्ण संसार में केवल एक ही ईश्वर व्याप्त है, इस बात की पुष्टि दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक `भारतवर्ष` में भी की गई है। एक स्थल पर गणेशदत्त कहते हैं -- `...... कालचक्र सबके लिए बराबर है। ईश का नियम भी सबके लिए एक ही है, कारण, सारे संसार का एक ही ईश्वर है।`[3]

अहिंसा तथा जीवदया

सम्पूर्ण संसार में ईश्वर की व्याप्ति के कारण ही समस्त जीवों के प्रति दया तथा अहिंसा की भावना का उदय होता है। अहिंसा के अनेक दृष्टान्त हिन्दी नाटकों में भी उपलब्ध होते हैं।

आनन्दप्रसाद कपूर के नाटक `गौतम बुद्ध` में अहिंसा को परमधर्म माना गया है। राजा बिम्बसार द्वारा आयोजित यज्ञ के अवसर पर पशु-बलि की व्यवस्था की जाती है, परन्तु बुद्ध पशुबलि को रोक कर कहते हैं-- ` हे

---

१ `परमभक्त प्रह्लाद` : राधेश्याम कथावाचक, चतुर्थ संस्करण, पृ०८१

२ वही, पृ०१३६

३ `भारतवर्ष` : दुर्गाप्रसाद गुप्त, प्रथम संस्करण, पृ०५१

श्रद्धालु नृपतिगण..... तुम्हारी पवित्रता, तुम्हारी सात्विकता, तुम्हारी सुहृदयता कहाँ भाग गई ? .... याद रखो कि बलिदान से अथवा यज्ञ से, क्रियाकांड से अथवा मंत्रोच्चार से अन्तर को मैल धुल नहीं सकती .... निर्वाण-पद पाने की शक्ति तुम्हारे हाथों में है, इन्हें काम में लाओ, दूसरे का कष्ट अपना कष्ट समझ जैसा विचार वैसी वाणी, जैसी वाणी वैसा कर्म तथा जैसा कर्म वैसा फल, इस ईश्वरी अनिवार्य शास्त्र को भूल न जाओ, प्रेम प्रेम से प्राप्त होता है, द्वेष से नहीं । दया, दया से मिलती है क्रूरता से नहीं । अमरत्व अहिंसा से फलाभूत होता है हिंसा से नहीं ... और याद रखो कि अहिंसा ही परम धर्म है, निर्वाण का सत्य मार्ग है ।'[1]

प्रेमचन्द जी के नाटक 'कर्बला' में भी ह्रुसद० कहता है --' जीव हिंसा महापाप है । धर्मात्मा पुरुष कितने ही कष्ट में पड़े, किन्तु अहिंसा व्रत को नहीं त्याग सकता ।'[2]

इसी प्रकार 'राजा शिवि' में एक कबूतर बाज के भय से भयभीत हो राजा शिवि की गोद में गिर पड़ता है । राजा बाज से उसकी प्राण रक्षा करते हैं,अत: बाज कहता है कि वह क्षुधा से व्याकुल है इसलिए या तो उसे कबूतर वापस कर दे अन्यथा उसे मार डालें । यह सुनकर राजा शिवि कहते हैं --' नहीं, यह कभी नहीं हो सकता कि मैं आपका वध करूँ । जीव-हिंसा करना अत्यन्त नीच कर्म है । यह तो दुष्ट,पापी आत्माओं का धर्म है ।'[3]

दया तथा परोपकार

परोपकार के अनेक दृष्टान्त हिन्दी नाटकों में प्राप्त होते हैं । राधेश्याम कथावाचक के नाटक 'रुक्मिणी मंगल' में जब बलराम जरासंध को मारने जाते हैं तब कृष्ण दयार्द्र होकर कहते हैं --' बस,बस,दाऊ, मारो नहीं, अब इसे छोड़ दो ।'[4]

---

१ 'गौतम बुद्ध' : आनन्दप्रसाद कपूर,प्रथम संस्करण,पृ०९९-१००

२ 'कर्बला' : प्रेमचन्द,पृ०५६

३ 'राजा शिवि' : बलदेव प्रसाद खरे, प्रथम संस्करण,पृ०५७

४ 'रुक्मिणी मंगल' : राधेश्याम कथावाचक ,प्रथम संस्करण,पृ०४७

द्वारकाप्रसाद गुप्त के `अज्ञातवास` नाटक में युधिष्ठिर बन्दी सुशर्मा को मुक्त करने को आज्ञा देते हैं और कहते हैं--

`शत्रुओं पर भी दया करना हमारा धर्म है ।
विवश करके दु:ख देना यह न क्षात्रिय कर्म है ।`[1]

एक अन्य नाटक `सती पार्वती` में परोपकार के लिए प्राण त्याग करने वाले को महान बताया गया है । रावण सीता हरण कर जब जाने लगता है तब जटायु सीता की रक्षा हेतु रावण से युद्ध करता है, परन्तु रावण द्वारा पंख काट दिये जाने पर विवश होकर गिर पड़ता है । जब राम सीता को ढूढ़ते हुए आते हैं, वह सारा वृत्तान्त उनसे कह कर प्राण त्याग देता है । यह देखकर राम कहते हैं--`गये । परोपकार के अवतार... बड़ों का बड़प्पन यही है कि वे बेलाग निष्काम भाव से--परहित करें, करते रहें, और अन्त में उसी परहित में अपने शरीर का होम कर दें ।`[2]

परोपकार का एक अन्य उदाहरण `जनक नन्दिनी` में भी दृष्टिगोचर होता है । शूर्पणखा राम से प्रतिशोध लेना चाहती है, अत: वह एक व्यक्ति को लोभ देकर लव और कुश को उठा लाने के लिए भेजती है । वह व्यक्ति सीता से भोजन मांगता है और कहता है कि न मिले तो वह चला जाय । यह सुनकर सीता कहती हैं--` ठहरो, ठहरो अतिथि देवता । मैं आपके लिए गोरस लाती हूं । जो मेरे नन्हें दुधाधारी बालकों का भाग है....

प्राणधन बच्चों का जो लग जाय पर उपकार में,
तो लगा दूंगी खुशी से गैर के उद्धार में ।`[3]

पं० उमाशंकर मेहता के `अंजना सुन्दरी` नाटक में भी रावण की सहायता के लिए पवनजय युद्ध-भूमि में जाने को तत्पर है । उसकी मां की व्यग्रता देखकर प्रह्लाद राज कहते हैं--` यदि वह हमारा है तो वह युद्ध से भी लौट आयेगा -- परोपकार करना हमारा धर्म है --

---

१ `अज्ञातवास` : द्वारकाप्रसाद गुप्त, प्रथम संस्करण, पृ०६३
२ `सती पार्वती` : राधेश्याम कथावाचक, प्रथम संस्करण, पृ०६८
३ `जनक नन्दिनी` : तुलसी तुलसीदत्त शैदा, प्रथम संस्करण, पृ०७६

हम पर-हितार्थ सहर्ष अपने प्राण भी देते रहे।
हां, लोक के उपकार-हित ही जन्म हम लेते रहे[1]।"

बलदेव प्रसाद खरे के नाटक 'राजा शिवि' में भी एक स्थान पर सेनापति कहते हैं--"महाराज ! यह तो मनुष्य का धर्म है कि स्वयं स्वार्थ-त्याग दिखलाए और परोपकार में तन मन धन लगाये[2]।" परोपकार के वशीभूत होकर ही राजा शिवि बाज से कबूतर को प्राण रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस देने को तत्पर हैं। यह देखकर बाज कहता है कि एक पक्षी के लिए राजा का प्राण देना उचित नहीं है। यह तो उल्टी नीति है। यह सुनकर राजा कहते हैं--"यह उल्टी नीति नहीं, बल्कि हमारे पुनीत भारत देश की नीति है, दयालु हृदय हिन्दुओं की घर घर की रीति है कि जीव पर दया करो, निर्बलों की सहायता करो और दुखियों का दुःख हरो[3]।" एक अन्य स्थल पर ब्राह्मण द्वारा मांगे जाने पर अपने एकमात्र पुत्र का मांस देने को भी राजा सहर्ष प्रस्तुत हैं। वे कहते हैं-- "धन्य भाग्य ! आज मेरी तपस्या सफल हुई। जो मेरे पुत्र का मांस एक ब्राह्मण के उदर में जाकर उनकी इच्छा तृप्त करेगा और स्वर्ग में अमर होकर मेरे पूर्व पुरुषों का मुख उज्ज्वल करेगा[4]।"

सत्य के प्रति निष्ठा

भारतीय संस्कृति के अनुसार सत्य की रक्षा करना धर्म है। धर्म तथा साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनमें प्राण देकर भी सत्य की रक्षा की गई है। बलदेव प्रसाद खरे के नाटक 'राजा शिवि' में राजा पुत्र प्राप्ति के लिए तपस्या करते हैं, परन्तु नारद मुनि इस बात पर अविश्वास प्रकट करते हैं तब राजा शिवि कहते हैं--"झूठ कदापि नहीं महाराज ! चाहे मेरा सारा राज्य नष्ट होजाय, चाहे मेरा तपोबल भंग हो जाय, चाहे समस्त परिवार छूट जाय, किन्तु सत्य से नहीं डोलूंगा, झूठ नहीं बोलूंगा[5]।"

---

१ 'अंजना सुन्दरी' : पं० उमाशंकर मेहता, संस्करण संवत् १९८६वि०, पृ०३२
२ 'राजा शिवि' : बलदेवप्रसाद खरे, प्रथम संस्करण, पृ०५०
३ वही, पृ०५७
४ वही, पृ०१०५
५ वही, पृ० ३६

इसी प्रकार `कर्बला` में भी सहसराय युद्ध में हुसैन की सहायता करने आते हैं,परन्तु हुसैन कहते हैं कि वह उनके अतिथि हैं,अत: वह उन्हें युद्ध में जाने की अनुमति नहीं देंगे । यह सुनकर सहसराय कहते हैं--`हजरत, हम आपके मेहमान नहीं, सेवक हैं । सत्य और न्याय पर मरना ही हमारे जीवन का मुख्य उद्देश्य है । यह हमारा कर्तव्य-मात्र है, किसी पर एहसान नहीं ।`[१]

`धर्मविजय` का शंभुदयाल भी सत्य की रक्षा के लिए प्राण त्याग करने को प्रस्तुत है । वह कहता है--`अह, कोई परवाह नहीं, यदि सत्य के लिए प्राण भी जायगा तो एक सत्यवान पुरुष कभी भय न खायेगा ।`[२]

क्षमा तथा नम्रता

भारतीय संस्कृति में क्षमा तथा नम्रता का अपना महत्व है । कष्ट पहुंचाने वाले को भी हृदय से क्षमा करना इसकी विशेषता है। दुष्टता का उत्तर श्रेष्ठता से देना तथा सदा नम्र रहना इसकी रीति है । क्षमा तथा नम्रता का यह रूप नाटकों में भी उपलब्ध होता है ।

हरिहरशरण मिश्र के नाटक `भारतवर्ष` में धार्मिक द्वेष के कारण अफजल मौलवी के कहने से कारुणिक की हत्या करने जाता है और पकड़ा जाता है,परन्तु कारुणिक उसे क्षमा कर देते हैं और कहते हैं--`अफजल! मैंने तुम्हें मौत के पंजे से छुड़ा दिया । तुम मेरी हत्या करने आये थे, किन्तु इसके बदले में मैं तुम्हें जीवनदान देता हूं ।`[३]

`कर्मवीर` नाटक में भी क्षमा का महत्व बताया गया है । पाप का आतंक समस्त दिशाओं में व्याप्त हो गया है । एक दिन कर्मवीर और रानी ईरावती आदि ने मिलकर पाप को पकड़ लिया,परन्तु उसके क्षमा मांगने पर कारुणिक ने उसे छोड़ दिया । रानी के कहने पर कि पाप को छोड़ना उचित नहीं था, कर्मवीर कहते हैं--`नहीं महारानी जी ! ... किन्तु दुष्टता का जवाब श्रेष्ठता से देना भारतवर्ष की चिरप्रचलित रीति है ।`[४]

---

१ `कर्बला` : प्रेमचन्द,पृ०१८४
२ `धर्मविजय` : कुंजीलाल जैन, प्रथम संस्करण,पृ०८९
३ `भारतवर्ष` : हरिहरशरण मिश्र,प्रथम संस्करण,पृ०६६
४ `कर्मवीर` : [illegible] ,प्रथम संस्करण,पृ०१४१

दुष्टता को काटने वाली क्षमा तलवार है ।
यद्यपि प्रतिरूप इसका है तो बस तलवार है ।'[१]

इसी प्रकार 'सम्राट परीक्षित' नाटक में तक्षक नाग के काटने से राजा परीक्षित की मृत्यु हो जाती है । उनका पुत्र जनमेजय पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए नाग यज्ञ करता है । मृत्यु के भय से तक्षक इन्द्र के सिंहासन से लिपट जाता है । इन्द्र जनमेजय से कहते हैं कि वह तक्षक को क्षमा कर दें । यह सुनकर जनमेजय कहते हैं--'अच्छा महाराज ! हमें भी सहर्ष स्वीकार है । हमने तक्षक का अपराध क्षमा किया ।'[२]

'रुक्मिणी मंगल' में भी जब कृष्ण रुक्मिणी का हरण कर जाने लगते हैं तब रुक्मिणी का भाई रुक्मी कृष्ण से युद्ध करने आता है । कृष्ण को उसका वध करने के लिए तत्पर देख रुक्मिणी कहती है--'क्षमा, क्षमा करुणानिधान क्षमा, दयानिधान क्षमा ।'[३]

क्षमा का एक सुन्दर दृष्टान्त बेचन शर्मा 'उग्र' के नाटक 'महात्मा ईसा' में भी मिलता है । हिरोदिया ने हिरोद के परामर्श से महात्मा ईसा को सूली पर चढ़ाने की आज्ञा दे दी है । जिस समय ईसा को सूली पर चढ़ाया जा रहा था हिरोदिया का पुत्री मेरीना भी वहाँ थी । वह दृश्य देखकर उसे अत्यन्त दुःख होता है । वह इस कुकर्म के लिए हिरोद को धिक्कारती है । हिरोद के पूछने पर कि क्या मृत्यु के समय वह क्षमा माँग रहे थे, मेरीना कहती है--'तुम क्षमा माँगने की बात पूछते थे न ?... सो भी सुनोगे ? वह कहते थे --'पिता इन्हें क्षमा कर दे क्योंकि यह नहीं जानते कि यह क्या कह रहे हैं ।'[४]

आगा हश्र कश्मीरी के 'दिल की प्यास' नाटक में कृष्णा भी उस डाक्टर को, जिसके न आने से उसके एकमात्र पुत्र की मृत्यु हो

---

१ 'कर्मवीर' : रेवतीनन्दन 'भूषण', प्रथम संस्करण, पृ०१४५

२ 'सम्राट परीक्षित' : बलदेवप्रसाद खरे, प्रथम संस्करण, पृ०१२०

३ 'रुक्मिणी मंगल' : राधेश्याम कथावाचक, प्रथम संस्करण, पृ०१२८

४ 'महात्मा ईसा' : बेचन शर्मा 'उग्र', प्रथम संस्करण, पृ०१३४

जाता है, क्षमा कर देती है । अपने पुत्र की चिन्ताजनक अवस्था देखकर वह डाक्टर से अनुनय करती है कि वह एक बार उसके बच्चे को देख ले,परन्तु डाक्टर नि:शुल्क किसी रोगी को देखने को तैयार नहीं है । कृष्णा निर्धन है,अत: डाक्टर को शुल्क नहीं दे सकता । वह शुल्क का प्रबन्ध करके जब तक डाक्टर को लाती है, तब तक उसका पुत्र इस असार संसार को छोड़कर चला जाता है । इतना बड़ा दु:ख सहन करके भी वह डाक्टर से कहती है--'मैंने आज तक किसी का बुरा नहीं चाहा । जाओ, मैं क्षमा करती हूं[1] ।'

क्षमा के साथ नम्रता भी भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है । 'कर्त्तव्य'(पूर्वार्द्ध) नाटक में सेठ गोविन्ददास ने राम की नम्रता के विषय में सीता से कहलाया है कि 'निसर्ग ने आपको जैसा हृदय, मस्तिष्क और पराक्रम दिया है, वैसा यदि अन्य को मिलता तो वह फूला न समाता, गर्व से उसका मस्तिष्क सातवें लोक में पहुंच जाता, परन्तु आपकी तो दृष्टि तक अपने गुणों की ओर नहीं जाती । अन्य को अपने राई-समान सुगुण भी पर्वताकार दिखते हैं, परन्तु आपको तो अपने पर्वताकार सुगुण राई-तुल्य भी नहीं दिखते[2] ।'

अतिथि सत्कार तथा शरणागत रक्षा

भारतीय संस्कृति में अतिथि सत्कार और शरणागत रक्षा का विशेष महत्व है । इसका महत्व इसी से स्पष्ट है कि भगवान ने भी अतिथि धर्मपालन हेतु ऋषि के पद-प्रहार को सहन किया था । महाराज अम्बरीष ने एक वर्ष तक उपवास किया था । मोरध्वज ने अपने पुत्र के मस्तक पर आरा चलाया था । अतिथि सत्कार के लिए सती अनुसूया ने ब्रह्मा,विष्णु और महेश को निरवस्त्र होकर दुग्धपान कराया था । इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त हिन्दी नाटकों में दृष्टिगत होते हैं ।

दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक 'विश्वामित्र' में विश्वामित्र आखेट खेलते हुए वशिष्ठ मुनि के आश्रम में आते हैं । वशिष्ठ मुनि उन्हें अपना

---

१ 'दिल की प्यास' : आगाहश्र कश्मीरी ,प्रथम संस्करण ,पृ०८२

२ 'कर्त्तव्य'(पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण,पृ०६-७

आतिथ्य स्वीकार करने के लिए कहते हैं । परन्तु उनके साथ सेना रहती है अत: वे मुनि के यहां आतिथ्य ग्रहण करने में संकोच करते हैं । वे वशिष्ठ मुनि से कहते हैं कि वह उनके आतिथ्य में ईश्वर भजन का अमूल्य समय नष्ट न करें । तब वशिष्ठ मुनि कहते हैं--`नहीं राजन्.... अतिथि की सेवा, सत्कार ही मनुष्य का उत्तम कर्म है । यही हिन्दु जाति का सबसे प्रधान और प्राचीन धर्म है ।`[1] विश्वामित्र कहते हैं कि यदि ऐसी बात है तो कृपा कर वह इसका प्रमाण दें । अतिथि सत्कार का प्रमाण देते हुए वशिष्ठ मुनि कहते हैं -- `प्रमाण ! एक नहीं अनेक हैं । देखिए, अतिथि सत्कार के कारण ही स्वयं विष्णु भगवान ने क्षीर सागर में महर्षि भृगु के चरण -प्रहार को सह लिया, और बड़ी प्रसन्नता के साथ उस भृगु-पद-चिह्न को अपने हृदय में धारण कर लिया । अतिथि का मान बढ़ाने के लिए ही भगवान ने उन पर तनिक भी क्रोध न किया बल्कि उन्हें अपना अतिथि जान पूर्ण रूप से उनका आदर और सत्कार किया । देखिए दुर्वासा ऋषि के सत्कार के लिए ही एक वर्ष तक महाराजा अम्बरीष ने उपवास किया था, अतिथि-सत्कार के लिए ही मोरध्वज ने भी पुत्र के सर पर आरा चला दिया था.... कारण कि स्वयं भगवान ने ही अतिथि का मान बढ़ाया है --

स्वागत करना अतिथि का यह है कर्म प्रधान ।
घर आये मेहमान को जानो ब्रह्म समान ।।`[2]

भारतीय संस्कृति के अनुसार द्वार पर आये अतिथि को बिना भोजन कराये स्वयं जल भी नहीं ग्रहण किया जाता है । इस बात की पुष्टि जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के `तुलसीदास नाटक` में की गई है । तुलसीदास अपनी पत्नी के रूप की आसक्ति के कारण उसकी भर्त्सना सुनकर ईश्वर प्राप्ति के लिए चले जाते हैं । भगवान के दर्शन प्राप्त कर वह भ्रमण करते हुए अपनी पत्नी रत्नावली के द्वार पर आते हैं । रत्नावली उनका आतिथ्य करना चाहती है । उनके अस्वीकार करने पर वह कहती है--`नहीं । ऐसा नहीं

---

१ `विश्वामित्र` : दुर्गाप्रसाद गुप्त, प्रथम संस्करण,पृ०७

२ वही, पृ० ७-८

हो सकता । अतिथि को खिलाए बिना मैं कैसे जल ग्रहण करूंगो[1]।'

बेचन शर्मा 'उग्र' के नाटक 'महात्मा ईसा' में अतिथि को देवताओं से भी श्रेष्ठ बताया गया है । एक स्थान पर संतोषचन्द्र ईसा से कहता है --'ईश यह आर्य भूमि सज्जनता, उदारता और मित्रता की जननी है । यहाँ के लोग अतिथियों को देवताओं से श्रेष्ठतर जानते हैं[2]।'

भारतीय संस्कृति में शरणागत रक्षा मनुष्य का परम कर्तव्य माना गया है । इस बात की पुष्टि मनसुखलाल सजोतिया के 'रणबांकुरा चौहान' नाटक में की गई है । गुजरात के राजा भीमदेव द्वारा निष्कासित उनके सातों भाई पृथ्वीराज के यहाँ आश्रय लेते हैं । यह ज्ञात होने पर भीमदेव पृथ्वीराज के पास सन्देश भेजते हैं कि उनके भाइयों को या तो वापस भेज दें अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जायें । यह सन्देश पाकर पृथ्वीराज अपने मंत्री से कहते हैं --'मंत्री जी ! शरणागत की रक्षा करना अपना परम कर्तव्य है । हम शरण आये हुए को किस तरह वापिस भेज सकते हैं[3]।' दुर्गाप्रसाद के 'नल दमयन्ती' नाटक में एक स्थान पर नल कहते हैं --'...... हाँ, आर्य वीरों का यही धर्म है । शरणागत की रक्षा न करना अधर्मियों का कर्म है[4]।'

इसी प्रकार प्रेमचन्द के नाटक 'कर्बला' में यज़ीद कूफ़ेवालों की बैयत लेना चाहता है,परन्तु उसके अत्याचारों से दु:खी जनता उसे बैयत न देकर हुसैन को बैयत देने के लिए बुलवाता है । वहाँ की परिस्थिति का ज्ञान करने के लिए हुसैन के भाई मुस्लिम कूफ़े आते हैं । यह बात ज्ञात होने पर यज़ीद नगर में आज्ञा प्रसारित करवा देता है कि कोई भी मुस्लिम को आश्रय नहीं देगा । यज़ीद के सैनिक मुस्लिम की खोज में पूरे नगर में घूमते हैं, ऐसी स्थिति में जब मुस्लिम को प्राणों का भय था, हानी उन्हें अपने घर में आश्रय देता है,फलस्वरूप यज़ीद उसका अपमान करता है । तब हानी कहता है--

---

१ 'तुलसीदास नाटक' : जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी,प्रथम संस्करण,पृ०४१

२ 'महात्मा ईसा' : बेचन शर्मा 'उग्र',प्रथम संस्करण,पृ०६

३ 'रण बांकुरा चौहान' : मनसुखलाल सजोतिया,प्रथम संस्करण,पृ०३

४ 'नल दमयन्ती' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, तृतीय संस्करण,पृ०६९

'या अमीर खुदा जानता है, मैंने मुस्लिम को खुद नहीं बुलाया, वह रात को मेरे घर आये, और मेरी पनाह चाही । यह इन्सानियत के खिलाफ था कि मैं उन्हें घर से निकाल देता ।[1]' ज़ियाद के पूछने पर कि यह जानते हुए भी कि मुस्लिम खलीफा यज़ीद का शत्रु है, उसे आश्रय क्यों दिया ? हानी कहता है-- 'अगर मेरा दुश्मन भी मेरी पनाह में आता, तो मैं दरवाज़ा न बन्द करता ।[2]' ज़ियाद, हानी को विवश करता है कि वह मुस्लिम को यज़ीद के हाथों सौंप दे । उस समय हानी पुन: कहता है-- 'या अमीर अगर आप मेरे जिस्म के टुकड़े-टुकड़े कर डालें, और उन टुकड़ों को आग में जला डालें तो भी मैं मुस्लिम को आपके हवाले न करूंगा । मुरौवत उसे कभी कबूल नहीं करती कि अपनी पनाह में आने वाले आदमी को दुश्मन के हवाले किया जाय । यह शराफ़त के खिलाफ़ है ।[3]'

रामनरेश त्रिपाठी के नाटक 'वफाती चाचा' का वीरू सिंह भी शरणागत रक्षा के लिए अपने प्राण देने को तत्पर है । कासिम गाय की बलि देना चाहता है, इसलिए हिन्दू लोग क्रुद्ध होकर उसे मारने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु वह वीरू सिंह के घर में छिप जाता है । हिन्दू लोग वीरू सिंह से कहते हैं कि यदि वह हिन्दू है तो कासिम को घर से बाहर कर दे । यह सुनकर वीरूसिंह कहते हैं--'हां, मैं हिन्दू हूं, और सच्चा हिन्दू हूं, इसी से शरण में आये हुए को अपना प्राण देकर भी बचाऊंगा ।[4]'

ईश्वर पर विश्वास

भारतीय संस्कृति में ईश्वर पर अनन्य आस्था दृष्टिगोचर होती है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि ईश्वर जो भी करता है उसमें जीवमात्र का कल्याण निहित रहता है । वही सबका सहायक है । वही

१ 'कर्बला' : प्रेमचन्द, पृ०१०५

२ वही, पृ०१०५

३ वही, पृ०१०६

४ 'वफाती चाचा': रामनरेश त्रिपाठी, प्रथम संस्करण, पृ०१०३

भावना हिन्दी नाटकों में भी पायी जाती है ।

दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक 'भारतवर्ष' में धर्मदत्त को मृत्यु निकट जानकर उनका पुत्र गणेशदत्त तथा उनका पालित पुत्र महमद अपने को असहाय पाकर दु:खी होते हैं । यह देखकर धर्मदत्त कहते हैं--'मेरे बच्चो ! संसार में परमात्मा के सिवाय और कोई भी सहायता देने वाला नहीं है । इसलिए संसार की आशा छोड़कर परमात्मा का भरोसा करो'।[1] मायादत्त नैथानी के 'संयोगिता' नाटक में भी एक स्थान पर सुनन्दा संयोगिता से कहती है--' चिन्ता न करो महारानी, भगवान सब तरह से कल्याण ही करेंगे'।[2]

ईश्वर पर विश्वास का एक अन्य उदाहरण कृष्णलाल वर्मा के 'दलजीत सिंह' नाटक में भी प्राप्त होता है । इस नाटक के नायक दलजीत सिंह को युद्ध-भूमि से वापस आने पर ज्ञात होता है कि उसकी प्रेमिका राम भोली को उसका प्रतिद्वन्द्वी शेर सिंह उठा ले गया है । रामभोली की सहेली कमला पुरुष वेश में दलजीत सिंह के साथ उसे ढूंढने जाती है । दलजीत के निराश होने पर वह उसे सान्त्वना देते हुए कहती है --'कुंवर धैर्य धारण कीजिए । वह दीनबंधु, अशरण शरण, अनाथ रक्षक हमारी अवश्य सहायता करेगा'।[3]

बलदेव शास्त्री के 'प्रताप नाटक' में भी प्रतापसिंह अपनी लड़की को भूख से व्याकुल देखकर यह कहते हैं --'हृदय! अब धीरज धर । ..... यह ठीक है, हम सांसारिक परिभाषा में साधनहीन हैं,असहाय हैं, दुर्बल हैं, किन्तु साहसी पुरुषों को परमात्मा सदा सहायता करता है,उन्हें बल-बुद्धि एवं धैर्य प्रदान करता है'।[4]

---

१ 'भारतवर्ष' : दुर्गादास गुप्त, प्रथम संस्करण,पृ०६

२ 'संयोगिता' : मायादत्त नैथानी,प्रथम संस्करण,पृ०८६

३ 'दलजीत सिंह' : कृष्णलाल वर्मा, प्रथम संस्करण,पृ०६६

४ 'प्रताप नाटक' : बलदेव शास्त्री, पृ०११८

सुदर्शन जी के नाटक `सिकन्दर` में राजा पुरु सिकन्दर की प्राणरक्षा करते हैं। इसके लिए सिकन्दर उनका आभार प्रदर्शित करते हैं। यह सुनकर पुरु कहते हैं --` यह सब कुछ भगवान की कृपा है। जो करता है, भगवान करता है, आदमी कुछ नहीं करता।[1]`

इसी प्रकार प्रेमचन्द के नाटक `कर्बला` में अब्बास से हुसैन कहते हैं--`जब मैं ख्याल करता हूं कि नाना मरहूम ने तनहा बड़े-बड़े सरकश बादशाहों को परास्त कर दिया, और इतनी शानदार ख़िलाफ़त क़ायम कर दी,तो मुझे यकीन हो जाता है कि उन पर खुदा का साया था। खुदा की मदद के बगैर कोई इन्सान यह काम न कर सकता था।[2]` एक स्थल पर हुसैन से उनकी बहन जैनब कहती है कि वह यज़ीद की बैयत ले लें पर हुसैन किसी भी प्रकार इसके लिए सहमत नहीं है। वह अपनी बहन से पूछते हैं कि क्या वह ग़लत रास्ते पर हैं ? तब जैनब कहती है --`नहीं भैया आप ग़लती पर नहीं हैं। अल्लाह ताला अपने रसूल के बेटे को ग़लत रास्ते पर नहीं ले जा सकता।[3]` एक अन्य स्थल पर हुसैन ईश्वर से प्रार्थना करते हैं --` ऐ खुदा ! तू ही डूबती हुई कि किश्तियों को पार लगाने वाला है। मुझे तेरी ही पनाह है, तेरा ही भरोसा है, जिस रंज से दिल कमज़ोर हो,उसमें तेरी ही मदद मांगता हूं,जो आफ़त किसी तरह सिर से न टले, जिसमें दोस्तों से काम न निकले, जहां कोई हीला न हो, वहां तू ही मेरा मददगार है।[4]`

ईश्वर पर यह अटूट विश्वास हरिदास माणिक के `पाण्डव प्रताप` नाटक में भी उपलब्ध होता है। जरासंध को मारने के लिए उतावले भीम से कृष्ण कहते हैं --`भीम..... धीरज धरो भगवान कुशल करेंगे।[5]`

`अंजना सुन्दरी` नाटक में भी प्रह्लादराज कहते हैं --`अनाथ का ईश्वर भला ही करता है।[6]` बलदेवप्रसाद खरे के `राजाशिवि` नाटक में भी

---

१ `सिकन्दर` : सुदर्शन,प्रथम संस्करण,पृ०१४७
२ `कर्बला` : प्रेमचन्द, पृ०३७
३ वही, पृ०४६
४ वही, पृ०१६५
५ `पांडव प्रताप` : हरिदास माणिक, प्रथम संस्करण,पृ०३४
६ `अंजना सुन्दरी` : पं० उमाशंकर मेहता, संस्करण१९८६वि०,पृ०३३

बताया गया है कि ईश्वर पर विश्वास रखकर कार्य करने से उसका परिणाम सदैव अच्छा ही होता है । एक स्थान पर एक साधु कहते है --' .... हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं, निराश मत होवो । कार्य करते जावो । जो परमात्मा उस कार्य के लिए बल देगा, वही उसका मीठा फल देगा ।'[1]

दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटकों में भी ईश्वर के प्रति आस्था व्यक्त की गई है । 'नलदमयन्ती' नाटक में नल यह सोचकर कि उनको न पाकर दमयन्ती स्वयं अपने पिता के घर चली जायेगी, उसे वन में सोते हुए छोड़कर चले जाते हैं । जगने पर उनको न पाकर वह कहती है --

'वही रक्षा करेंगे आन कर जो विश्व कर्ता हैं ।
हरेंगे दु:ख वह भक्तों को जो आपत्ति के हर्ता हैं ।'[2]

आपके 'विश्वामित्र' नाटक में भी विश्वामित्र वशिष्ठमुनि से उनकी गाय नन्दिनी को मांगते हैं और न मिलने पर उसे बलपूर्वक ले जाने का प्रयत्न करते हैं । उसमें भी असफल होने पर वह वशिष्ठ मुनि का वध करने के उद्देश्य से आते हैं । अपने शिष्य द्वारा यह बात ज्ञात होने पर वशिष्ठ मुनि कहते हैं -- 'चिन्ता नहीं, भक्त का रक्षक वही भगवान है ।'[3]

बृजनन्दनसहाय के नाटक 'उषांगिनी' में भी भगवान को सबका सहायक तथा रक्षक बताया गया है । एक स्थान पर चुन्नीलाल कहता है--'भगवान सबके मालिक हैं । वे सब स्थानों पर वर्तमान हैं । जो भगवान हम लोगों की यहां रक्षा करते हैं, वे ही बाहर भी करेंगे ।'[4] इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर अभयानन्द एक स्त्री(मनोरमा) को मूर्छितावस्था में पाते हैं । वे उसकी सुश्रूषा करते हैं । चैतन्य होने पर वह कहती है कि वह कितनी असहाय है, जिसे सुनकर अभयानन्द कहते हैं --'संसार में कोई असहाय नहीं है । सबके सहायक भगवान और उसके कर्म हैं ।'[5]

---

१ 'राजा शिवि' : बलदेवप्रसाद खरे, प्रथम संस्करण,पृ०६२
२ 'नल दमयन्ती' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, तृतीय संस्करण,पृ०६७
३ 'विश्वामित्र' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, प्रथम संस्करण,पृ०४१
४ 'उषांगिनी' : बृजनन्दनसहाय,प्रथम संस्करण,पृ०८
५ वही, पृ०१५६

ज्ञानदत्त सिद्ध के नाटक "मायावी" में भी मायावी द्वारा राजा तथा रानी के बन्दी बना लिए जाने पर उनकी पुत्री रमा घबरा जाती है। उसे प्रबोध देते हुए उसकी बहन बुद्धि कहती है --"बहन चिन्ता मत करो। भगवान सदा हमारे साथ है।[1]"

इसी प्रकार "सत्य का सैनिक" नाटक में विजय के सन्यास लेने के उपरान्त नये मुनीम के अत्याचार से घबरा कर अंजली उसे पदच्युत करना चाहती है, परन्तु दामोदर उसे ऐसा करने से रोकता है, क्योंकि उसे भय है कि वह दुष्ट व्यक्ति किसी भी समय किसी प्रकार का चोट पहुंचा सकता है। यह सुनकर अंजली कहती है---"करे चोट। यदि भगवान है और आश्रित-पालक उनका नाम है तो मेरी रक्षा अवश्य होगी[2]।"

पतिव्रत धर्म तथा स्त्री का आदर्श

पतिव्रत धर्म भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। पतिव्रत धर्म को सभी धर्मों से श्रेष्ठ माना गया है। ऐसा विश्वास है कि पत्नी का स्वर्ग पति के चरणों में है। पति के विरुद्ध कोई काम करना अथवा उसकी आज्ञा का उल्लंघन करना पाप है। हिन्दी नाटकों में पतिव्रत धर्म तथा स्त्रियों के आदर्श, सेवा, प्रेम, करुणा, क्षमा आदि गुणों के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

बलदेवप्रसाद खरे के नाटक "राजा शिवि" में राजा शिवि अपनी प्रतिज्ञानुसार किसी याचक को द्वार से नहीं लौटाते हैं। एक दिन एक ब्राह्मण उनसे उनके पुत्र का मांस मांगने आते हैं। राजा उसकी बात सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु ब्राह्मण रानी से भी पूछ लेने को कहता है। रानी से पूछने पर वह कहती है --" जो स्वामी की इच्छा। स्वामी की आज्ञा मेरे सिर और आंखों पर। पति की इच्छा के विरुद्ध पत्नी कोई काम नहीं कर सकती। एक बेटा क्या, लाखों बेटे पति की आज्ञा पर निछावर हैं[3]।"

१ "मायावी" : ज्ञानदत्त सिद्ध, प्रथम संस्करण, पृ०५२
२ "सत्य का सैनिक" : नारायण प्रसाद "बिन्दु", प्रथम संस्करण, पृ०६१
३ "राजा शिवि" : बलदेव प्रसाद खरे, प्रथम संस्करण, पृ०१७४

राधेश्याम कथावाचक के नाटक 'श्रवण कुमार' में पति को ईश्वर के समान माना गया है। श्रवण कुमार की पत्नी विद्या को उसका भाई, मां की अस्वस्थता की सूचना देकर घर ले जाता है। वहां मां को स्वस्थ देखकर विद्या वापस आ जाती है। मार्ग में उसे चम्पक मिलता है जो उसके साथ अनुचित व्यवहार करने का प्रयत्न करता है। वह बताता है कि श्रवण कुमार अपने माता-पिता को लेकर तीर्थाटन करने गया है और धर्म-शास्त्र में लिखा है कि पति के परदेश चले जाने पर पत्नी को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। यह सुनकर विद्या कहती है कि यह बात किसी धर्मशास्त्र में नहीं लिखी है और यदि लिखी भी है तो वह उसे नहीं मानती है, क्योंकि--

"धर्मशास्त्र तो सदा यही उपदेश बखाने।
नारी का है धर्म स्वामि को ईश्वर जाने[1]।"

घर में पति को न पाकर वह उसकी खोज में इधर-उधर भटकती है और उन्हें न पाकर धधक चिता में जलने का निश्चय करती है, परन्तु चिता से अग्निदेव प्रकट होकर उसे जलने से रोकते हैं, तब विद्या कहती है--"महाराज, स्वामी के वियोग में सती नारी का जीवन व्यर्थ है।.... स्त्री का जीवन स्वामी ही है, भूषण वसन स्वामी ही है, तन, मन, धन जन स्वामी ही है, यहां तक कि नारायण भी स्वामी ही है[2]।"

आपके नाटक "ऊषा अनिरुद्ध" में पतिव्रता स्त्री की विशेषता बताते हुए वाणासुर कहता है--" पुरुष स्वभावत: इतना स्वार्थी है कि एक बार पाणिग्रहण कर लेने पर भी दूसरा विवाह कर लेता है। किंतु नारी अपने पति का शव जल जाने के बाद भी जीवन पर्यन्त विवाह करना तो दूर एक और किसी दूसरे पुरुष का विचार तक मन में लाना घोर पाप समझती है[3]।" वाणासुर की कन्या ऊषा एक दिन स्वप्न देखती है कि पार्वती जी उसका विवाह अनिरुद्ध से करा रही हैं। जागने पर इस स्वप्न की

---

१ 'श्रवण कुमार' : राधेश्याम कथावाचक, आठवां संस्करण, पृ०७८

२ वही, पृ०१००

३ 'ऊषा अनिरुद्ध' : राधेश्याम कथावाचक, तृतीय संस्करण, पृ०२४

चर्चा वह अपनी सहेलियों से करती है और कहती है कि वह इस स्वप्न को सत्य बनायेगी, क्योंकि -- "मैं वीर बाला हूं। जिस पति को एक बार स्वप्न में वर लिया, उसके साथ ही विवाह करूंगी, और यदि वह न मिला तो जन्म भर कुंआरी रहूंगी। भारत की एक साधारण से साधारण नारी भी जब एक बार किसी पुरुष को अपना पति मान लेती है तो फिर वह जीवनपर्यन्त दूसरे पुरुष का विचार तक मन में लाना पाप समझती है[1]।" एक दिन ऊषा की सहेली चित्रलेखा मंत्र बल तथा नारद मुनि की सहायता से सोते हुए अनिरुद्ध को ऊषा के महल में पहुंचा देती है। बाणासुर को जब यह ज्ञात होता है, वह अनिरुद्ध को बन्दी बना लेता है। इससे ऊषा अत्यधिक दु:खी होती है। उसकी सहेली चित्रलेखा उसे परामर्श देती है कि वह पिता के शत्रु का ध्यान छोड़ दे तब वह कहती है -- "नारी एक बार भी जिसको अपना पति बना लेगी, उसी को पति समझती रहेगी। फिर दूसरे पुरुष की ओर दृष्टि डालना भी उसके लिए घोर पाप है। संसार में नारी जाति के लिए इससे बढ़कर दूसरा पाप नहीं हो सकता[2]।"

एक अन्य नाटक "सती पार्वती" में भी प्रजापति दक्ष अपनी कन्या सती के स्वयम्बर में शंकर को आमंत्रित नहीं करते हैं। स्वयंबर सभा में शंकर को न पाकर सती कहती है कि उन्होंने शंकर को पति रूप में वरण कर लिया है अत: जयमाल उनके ही गले में डालेंगी। यह सुनकर दक्ष अत्यन्त क्रोधित हो उठते हैं। तब सती कहती हैं -- " ..... मैं स्पष्ट कहती हूं कि जिसको एक बार अपने मन में वर चुकी हूं, वही मेरा वर है। सती नारी का धर्म भी यही है कि एक बार मन से भी जिसको अपना पति बनाये फिर जीवन पर्यन्त उसी की हो जाय[3]।"

इसी प्रकार "रुक्मिणी"-कृष्ण" में भी रुक्मिणी ने मन से कृष्ण का वरण कर लिया है, परन्तु उनका भाई रुक्मी उनका

---

१ "ऊषा अनिरुद्ध" : राधेश्याम कथावाचक, तृतीय संस्करण, पृ०४४

२ वही, पृ०६०

३ "सती पार्वती" : राधेश्याम कथावाचक, प्रथम संस्करण, पृ०८१

विवाह शिशुपाल से करना चाहता है। शिशुपाल के बारात लेकर आने पर रुक्मिणी कहती है --" .... मैं जलती ज्वाला में कूद पड़ूंगी, परन्तु शिशुपाल के साथ विवाह नहीं करूंगी, नहीं करूंगी, नहीं करूंगी....

मैं आर्य देश की कन्या हूं, मैं आर्य मात की जाई हूं।

....

इस आर्य जाति की कन्यायें, मन से भी जिसको वरती हैं।

फिर उसको ही पतिदेव बना जीवन भर सेवा करती हैं।"[1]

"परम भक्त प्रह्लाद" में बताया गया है कि पति को परमेश्वर मानना पत्नी का धर्म है। हिरण्याकश्यप अपने को भगवान मानता है और सबको बाध्य करता है कि उसे ईश्वर मानें। परन्तु उसका लड़का प्रह्लाद उसे ईश्वर नहीं मानता, क्योंकि वह कहता है "ईश्वर तो सर्वव्यापी परमात्मा है। रानी की सखियां उससे पूछती हैं कि क्या राजकुमार की बात सत्य है? यदि सत्य है तो वह क्यों राजा को परमेश्वर मानती है? रानी कहती है-- "सुनो, मैं महाराज को जगदीश इसलिए मानती हूं कि मैं स्त्री हूं और हर एक स्त्री का धर्म है कि वह अपने पति को जगदीश माने।"[2]

जमनादास मेहरा के नाटक "कन्या विक्रय" में भी बताया गया है कि भारतीय नारी केवल एक बार ही पति का वरण करती है। रामदास अपनी कन्या लक्ष्मी का विवाह एक वृद्ध से कर देते हैं, जिसकी विवाहोपरान्त ही मृत्यु हो जाती है। रामदास लक्ष्मी का दूसरा विवाह करना चाहते हैं, परन्तु वह कहती है --" यह आर्य घर की कन्या एक बार पति को वर चुकी अब दूसरी बार अन्य की पत्नी न कहलायेगी।"[3] इसी नाटक में रामदास अपनी दूसरी कन्या मोहिनी का विवाह धन के लोभ से एक बालक से कर देते हैं। फलत: वह एक साधु के साथ चली जाती है, जो उसे पतिव्रत धर्म का ज्ञान कराता है और पुन: वापस लाता है, परन्तु पंचायत

---

१ "रुक्मिणी कृष्ण" : राधेश्याम कथावाचक, तृतीय संस्करण, पृ०६३
२ "परमभक्त प्रह्लाद" : राधेश्याम कथावाचक, तृतीय संस्करण, पृ०८८
३ "कन्या विक्रय" : जमनादास मेहरा, प्रथम संस्करण, पृ०४१

साधु को अपराधी मान कर दण्ड देना चाहती है। तब मोहिनी कहती है --" मैं अपराधिनी हूं ...... उनका दोष नहीं है, स्त्री का यह धर्म है कि पति कैसा भी हो, वह उसकी सेवा करे, अपने धर्म से न डिगे।[1]"

आपके ही एक अन्य नाटक "विश्वामित्र" में भी पति-निन्दा सुनना पाप बताया गया है और जिस स्थल पर पति की निन्दा होती हो उसे नर्क के समान कहा गया है। विश्वामित्र की कठिन तपस्या देखकर इन्द्र भयभीत हो, मैनका को उनकी तपस्या भंग करने के लिए भेजते हैं। विश्वामित्र की रानी सुनैत्रा जो पति के दर्शन हेतु तपोवन में जा रही है, से, नारद मुनि उनके तथा मेनका के प्रेम प्रसंग की चर्चा करते हुए कहते हैं कि वह तपोभ्रष्ट है,अत: वह उनके पास जाकर अपना मान न गंवाये। यह सुनकर सुनैत्रा कहती है --"बस देवर्षि ! बस, अब मैं अधिक पति-निन्दा श्रवण करना नहीं चाहती। ऐसा कदापि नहीं हो सकता, वे पति है, दृढ़ धर्म है, ऐसा होना सम्भव नहीं और यदि यह सत्य भी हो तो मुझसे क्या सम्बन्ध है? वे फिर भी मेरे पूजनीय है। .... देवर्षि ! अधिक व निन्दा करने का साहस न कीजिए, जिस स्थान पर मैंने पतिनिन्दा सुनी वह मेरे लिए नरक के समान है। इस कारण मैं यहां एक क्षण भी अवस्थान न करूंगी।[2]"

नन्दकिशोर लाल वर्मा के नाटक "महात्मा विदुर" में भी कौरवों के अत्याचार और अनीति से दु:खी हो महात्मा विदुर, राज्य त्याग कर वन में जाने का निश्चय करते हैं। उनकी पत्नी पद्मा भी उनके साथ जाने को तैयार हो जाती है। यह जानकर महात्मा विदुर कहते हैं कि वह वन का कष्ट सहन नहीं कर सकेगी। तब पद्मा कहती है --"सहूंगी, सहूंगी ...... मैं आपके जीवन की संगिनी हूं, तो सुख दु:ख दोनों में सदा संगिनी बनी रहूंगी। स्त्री के लिए पति ही सब कुछ है। पति की सेवा में समय बिताना ही स्त्री जाति का सबसे बड़ा धर्म है[3]।"

---

1 "कन्या विक्रय" : जमनादास मेहरा, प्रथम संस्करण,पृ०१२३

2 "विश्वामित्र" : जमुनादास मेहरा, प्रथम संस्करण,पृ०४५

3 "महात्मा विदुर" : नन्दकिशोर लाल वर्मा, प्रथम संस्करण,पृ०१०

'भक्त प्रह्लाद' में पति की प्रसन्नता के लिए अपनी समस्त भावनाओं का बलिदान करना धर्म बताया गया है। हिरण्याकश्यप अपने पुत्र प्रह्लाद की ईश्वर -भक्ति देखकर क्रुद्ध हो उसे मार डालने के अनेक प्रयत्न करता है। असफल होने पर वह रानी से कहता है कि वह प्रह्लाद को विष पिला दे। पतिव्रता रानी पुत्र की ममता को तिलांजलि देकर पति की आज्ञा का पालन करने को तत्पर हो जाती है। वह कहती है -- "पतिव्रत धर्म के रक्षार्थ स्वामी की इच्छा के लिए, पुत्र की ममता पे कुठार चलाना चाहती हूं।..... धर्म के लिए अपने मन की सारी भावनाओं का बलिदान करूंगी।"[1]

एक अन्य नाटक 'नल दमयन्ती' में दमयन्ती ने निषधपति नल को अपना पति मान लिया है। उसके स्वयम्बर में राजाओं के अतिरिक्त इन्द्र वरुण आदि देवता भी आते हैं। नल को इन्द्र तथा वरुण वचनबद्ध कर, अपना द्ूत बना कर दमयन्ती के पास भेजते हैं। नल दमयन्ती को अनेक प्रकार से समझाते हैं कि वह देवताओं का वरण कर ले। पर वह अपनी बात पर अटल रहती है। नल के कहने पर कि देवताओं को वरण करने से उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी, दमयन्ती कहती है --"बस महाशय ...., सती के मन से मुक्ति का लोभ भी पति -भक्ति को नहीं टाल सकता।"[2] नल के पूछने पर कि क्या वह स्वर्ग नहीं चाहती, दमयन्ती कहती है --"नहीं पति सेवा ही मुक्ति मोक्षकारी है, पति की टूटी झोपड़ी ही स्वर्ग से प्यारी है।"[3] नल पुन: कहते हैं कि वह एक सांसारिक पुरुष के लिए देवताओं का अपमान न करे। तब दमयन्ती कहती है --" तो मैं भी सती के अधिकार से कहती हूं कि मेरे लिए निषधपति के वरण के सामने स्वर्ग का विधान तृण के समान है, मेरे लिए निषध राज ही भगवान हैं। यदि देवता बलवान हैं तो सती के पक्ष में भगवान हैं। सती का सत्य देवताओं से अधिक सामर्थ्यवान है।"[4]

---

१ 'भक्त प्रह्लाद' : दुर्गाप्रसादगुप्त, द्वितीय संस्करण, पृ० ४५
२ 'नल दमयन्ती' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, तृतीय संस्करण, पृ० २७
३ वही, पृ० २८
४ वही, पृ० ३०

नल के पूछने पर कि पति सेवा से किसने स्वर्ग पाया है जो वह स्वर्ग को ठुकरा रही है, दमयन्ती कहती है--".... स्वर्ग पाने का धर्म ही विधान है और सब धर्मों में पतिव्रत धर्म महान है।[1]" और अन्त में वह नल का ही वरण करती है। नल द्यूत में अपने भाई पुष्कर से सारा राज्य हार कर दमयन्ती के साथ वन में भटकते हैं। वह दमयन्ती से कहते हैं कि वन का कष्ट वह सहन नहीं कर पायेगी, अत: अपने पिता के घर चली जाय जहां वह सुखपूर्वक रह सकेगी। यह सुनकर दमयन्ती कहती है--"नाथ, जिस प्रकार सूर्योदय के बिना कमल नहीं खिल सकता, उसी प्रकार आपकी पग सेवा छोड़ कर स्वर्ग में भी मुझे सुख नहीं मिल सकता। स्त्रियों के लिए पति ही स्वर्ग है और पति भक्ति ही उनका जीवन है।[2]" नल उसे अनेक प्रकार समझाते हैं और कहते हैं कि उनके साथ रहकर वह सुखी नहीं रह सकेगी। तब दमयन्ती कहती है--"प्राणेश! मुझे इन दु:खों से महान दु:ख केवल आपके एक एक चरण का वियोग है। सुख में तो सभी स्त्रियां पति के साथ रहती हैं, पति भक्ता वही है, जो पति के साथ दु:ख सहती है --

पति की सेवा करे यह सती का शुभ कर्म है।
साथ सुख दु:ख में रहे, अर्द्धांगिनी का धर्म है।।[3]"

आपके नाटक 'भारत रमणी' में भी बासन्ती का पति मोहन वेश्यागामी है। वह अपनी सारी सम्पत्ति वेश्या के चरणों में अर्पित कर देता है अत: बासन्ती का पिता लक्ष्मीनाथ उसे बुरा भला कहता है यह सुनकर बासन्ती कहती है--"बस पिता जी! बस, अब मेरे स्वामी के प्रति ऐसे अपमान भरे शब्द न निकालिए। मुझे चाहे मार डालिए, पर मेरे होते हुए उनका अपमान न कीजिए।[4]"

----

१ 'नल दमयन्ती' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, तृतीय संस्करण, पृ०३१

२ वही, पृ०५७

३ वही, पृ०६२

४ 'भारत रमणी' : दुर्गाप्रसाद गुप्त, द्वितीय संस्करण, पृ०१११-११२

किशनचन्द जैन के नाटक 'पत्नी प्रताप' में भी पति सेवा को स्वर्ग प्राप्ति का साधन बताया गया है। सती अनसूया के आशीर्वाद से रैवा सशरीर स्वर्ग जाती है। पर उसे वहां स्थान नहीं मिलता क्योंकि वह कुमारी कन्या है। उसे वापस पृथ्वी पर भेजते हुए इन्द्र कहते हैं — "स्त्रियों के लिए केवल पति सेवा ही स्वर्गप्राप्ति का उपाय है।"[1]

इसी प्रकार 'संयोगिता' नाटक में संयोगिता पृथ्वीराज को अपना पति मान लेती है परन्तु जयचन्द यह विवाह करने को तैयार नहीं है। अत: वे संयोगिता के स्वयम्बर की तैयारी करते हैं। स्वयंवर से पहले वह अन्तिम बार अपने पिता से अनुरोध करना चाहती है। वह अपनी सहेली सुनन्दा से कहती है--" हां.... व स्वयंवर से पहले मैं उनसे मिलना चाहती हूं, इसलिए कि .... सम्भव है कि मै उन्हें समझा सकती कि हिन्दू नारी अगर कल्पना से भी किसी का वरण कर लेती है,तो इस जन्म में केवल उसी की होकर रहती है। दूसरे पुरुष का ध्यान स्वप्न में भी नहीं करती।"[2] रानी संयोगिता को समझाने का प्रयत्न करती हैं पर वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहती है। यह देखकर रानी पूछती हैं कि वह पृथ्वीराज से ही विवाह करने के लिए इतनी दृढ़ संकल्प क्यों है? तब संयोगिता कहती है - -" क्योंकि एक दिन मैंने गिरजा को साक्षी बनाकर उन्हीं को अपना पति वरण कर लिया है। अगर अब मैं दूसरे को अपना पति चुनूंगी तो अधर्म करूंगी। मां मुझे यह पाप करने के लिए बाध्य न करो। इस जन्म में मैं केवल उन्हीं की पत्नी रहने की प्रतिज्ञा कर चुकी हूं।"[3]

आनन्दप्रसाद कपूर के नाटक 'गौतम बुद्ध' में बताया गया है कि पति के द्वारा किये गये अन्याय को सहन करके भी भारतीय नारी उसकी पूजा करती है। गौतमबुद्ध अपनी पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल को सोता हुआ छोड़ कर तपस्या करने चले जाते हैं। निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् वे

---

१ 'पत्नी प्रताप' : किशनचन्द्र जैन, प्रथम संस्करण,पृ०५०

२ 'संयोगिता' : मायादत्त नैथानी,प्रथम संस्करण,पृ०१५

३ 'वही, पृ०२६

आकरयशोधरा से क्षमा मांगते हैं और कहते हैं कि उन्होंने उसे इतना कष्ट और दिया फिर भी वह उनसे उसी प्रकार प्रेम और उदारता से बात क्यों कर रही है। तब यशोधरा कहती है--" स्वामी ! क्या भारतवर्ष की शैली बदल गयी जो दास अपने स्वामी को फटकारेगी .... नहीं नहीं, वरन् अब भी भारत की महिमा है कि चाहे पति कैसा ही अनुचित व्यवहार अपनी स्त्री से करे फिर भी आर्यावर्त की कन्यायें सदा अपने पति की आरती उतारेंगी।[1]"

नारायण प्रसाद "बिन्दु" के नाटक "सत्य का सैनिक" की नायिका अंजली भी पति की प्रसन्नता के लिए उसे सन्यास ग्रहण करने की अनुमति दे देती है जब कि पति-वियोग की कल्पना भी उसके लिए असह्य है। वह कहती है -- " मां दुर्गे ! पति के सुख के लिए लोहे के ढक्कन द्वारा खौलते पानी से उठने वाले बाष्पों की तरह अपने भावों को रोक देने की मुझमें शक्ति दें। (विजय से) तुम्हारा सुख ही मेरा व्रत हो, यही मेरी साधना हो, यही मेरी तपस्या हो, तुम्हारी इच्छा ही मे..... री..... इच्छा..... ।[2]"

इसी प्रकार बालकृष्ण भट्ट के नाटक "शिक्षादान" की नायिका मालती कहती है कि --"...... इस लोक और परलोक दोनों के लिए स्त्रियों को पति ही शरण है।[3]" इस बात को हरिहर शरण मिश्र के नाटक "भारतवर्ष" के पादरी जॉनसन भी स्वीकार करते हैं। वह मिस्टर जोन्स की पत्नी से, जो अपने पति के मदिरापान से असन्तुष्ट है, बताते हैं — "...... इस देश का औरत लोग अपने स्वामी को ही गाड मानता है। उनके किसी खराब व्यवहार के लिए उनसे झगड़ा लेना पसन्द नहीं करता।[4]"

श्रीकृष्ण "हसरत" के नाटक "महात्मा कबीर" में भी कबीर की पत्नी सुरता कहती है--" आहा ! स्वामी की सेवा में कैसा सुख है.... पति जिसमें प्रसन्न रहें वही कार्य करना हम पत्नियों का धर्म है, पति-

---

1 "गौतम बुद्ध" : "आनन्दप्रसाद कपूर, प्रथम संस्करण, पृ०११३
2 "सत्य का सैनिक": नारायण प्रसाद "बिन्दु", प्रथम संस्करण, पृ०६३
3 "शिक्षादान अथवा जैसा काम वैसा परिणाम" : बालकृष्ण भट्ट, द्वितीय संस्करण, पृ०६१

पति सेवा में ही तत्पर रह, पति को ही देवता मानना आदर्श नारियों का कर्म है।[१]

स्वामिभक्ति

बलदेव शास्त्री के `प्रताप नाटक` में हल्दीघाटी के युद्ध में घायल प्रताप को मुगल सैनिक घेर लेते हैं। यह देखकर स्वामिभक्त सरदार भाला सिंह प्रताप की रक्षा हेतु उनका मुकुट तथा छत्र स्वयं धारण कर लेते हैं, परन्तु जब फिर भी प्रताप युद्ध भूमि नहीं छोड़ते तब भालासिंह उनके घोड़े चेतक की पूंछ काट देते हैं। फलस्वरूप घोड़ा प्रताप को लेकर भाग जाता है और मुगल सैनिक सरदार भालासिंह को ही प्रताप समझकर उन पर टूट पड़ते हैं। यह देखकर शक्तसिंह कहते हैं--`ओह! वीर भालापति राजचिह्न धारण किये हुए मुगलों के साथ समर में जूझ रहे हैं। अपने स्वामी के प्राण बचाने के लिए ही इन्होंने अपने ऊपर विपत्ति मोल ली है।`[२]

पितृ भक्ति तथा मातृ भक्ति

भारतीय संस्कृति में पिता को ईश्वर तुल्य माना गया है। पिता की आज्ञा का पालन करना, उनकी सेवा करना ईश्वर की सेवा के समान है। माई का स्थान भी भारतीय संस्कृति में पिता के समान माना गया है। इसके उदाहरण हिन्दी नाटकों मेंभी उपलब्ध होते हैं।

बलदेव प्रसाद खरे के नाटक `राजा शिवि` में राजा के पास एक ब्राह्मण उनकी दानशीलता की परीक्षा लेने आता है। वह राजा से कहता है कि वह उनके एकमात्र पुत्र के मांस का भोजन करेगा। राजा के स्वीकार कर लेने पर वह राजकुमार से भी पूछ लेने को कहता है। राजा जब राजकुमार से पूछते हैं तब वह कहते हैं --` .... आप ही के पुण्य कर्मों से मेरे शरीर में भी वह पवित्र भाव, वह अतुल प्रेम और वह दिव्य शक्ति वर्तमान है, जिससे मैं प्रसन्नतापूर्वक अपने शरीर को ब्राह्मण क्या, एक कुत्ते को भी भेंट

---

१ `महात्मा कबीर` : श्रीकृष्ण लसरत, प्रथम संस्करण, पृ०६१

२ `प्रताप नाटक` : बलदेव शास्त्री, पृ०८६

कर सकता हूं। आपकी आज्ञा का एक एक अक्षर पालन कर सकता हूं।"[1] राजकुमार पुन: कहते हैं --"जिस प्रकार पिता पुत्र का रक्षक है, उसी प्रकार पुत्र को भी पिता का आज्ञाकारी और सेवक होना चाहिए। चाहे पिता कितना रुष्ट हो, अनेकों कष्ट देता हो, किन्तु वह जो शिक्षा देगा, केवल पुत्र की भलाई के लिए, बड़ाई के लिए, भविष्य के सुधारने और मान यश बढ़ाने के लिए।"[2]

राधेश्याम कथावाचक के "श्रवण कुमार" नाटक में मातृ और पितृ भक्ति को ईश्वर की भक्ति के समान बताया गया है। श्रवण कुमार अपने माता-पिता को तीर्थाटन कराते हुए काशी पहुंचते हैं। वहां कुछ विद्वानों से उनका मत भेद हो जाता है। श्रवण कुमार मातृ और पितृभक्ति को श्रेष्ठ बताते हैं। परन्तु अन्य विद्वान उनसे सहमत नहीं हैं। अत: यह निश्चय होता है कि यदि शंकर भगवान श्रवण कुमार की बात का समर्थन कर दें तो उनकी बात की सत्यता स्वीकार कर ली जायेगी। शंकर भगवान प्रकट होकर श्रवणकुमार का समर्थन करते हुए कहते हैं --"नि:सन्देह संसार में मातृ-पितृ भक्ति ईश्वर भक्ति के समान है। मातृ-पितृ भक्ति के भीतर ही ईश्वर भक्ति विद्यमान है।"[3]

पितृभक्ति का एक अन्य दृष्टान्त "विश्व" के "भीष्म प्रतिज्ञा" नाटक में भी उपलब्ध होता है। राजा शान्तनु धीवर कन्या सत्यवती से विवाह करना चाहते हैं। परन्तु सत्यवती की यह शर्त है कि राज्य का उत्तराधिकारी उससे उत्पन्न पुत्र होगा न कि शान्तनु का बड़ा पुत्र देवव्रत। यह जानकर राजा अत्यन्त दु:खी होते हैं क्योंकि न तो वह देवव्रत को राज्यच्युत करना चाहते हैं और न ही सत्यवती का मोह छोड़ पाते हैं। पिता के दु:ख का कारण जानकर देवव्रत कहते हैं कि वह

---

१ "राजा शिवि" : बलदेव प्रसाद खरे, प्रथम संस्करण, पृ०१०६

२ वही, पृ०१०७

३ "श्रवणकुमार" : राधेश्याम कथावाचक, आठवां संस्करण, पृ०६४

पिता के दु:ख को अवश्य दूर करेंगे । मंत्री के पूछने पर कि क्या वह राज्य छोड़ देंगे ? देवव्रत कहते हैं --'हां छोड़ दूंगा, अवश्य छोड़ दूंगा । यह राज्य तो क्या यदि विश्व का राज्य भी मिल जायेगा, तो भी देवव्रत पिता के सुख के लिए उसे छोड़ने में देर न लगायेगा ।'[1]

इसी बात की पुष्टि विश्वम्भर नाथ कौशिक के नाटक 'भीष्म' में भी की गई है । एक स्थान पर देवव्रत कहते हैं--' छोड़ दूंगा, अवश्य छोड़ दूंगा । एक राज्य क्या सहस्र राज्य की अभिलाषा उर में न कभी धरूं । हित हो पिता का यदि कुछ तो इस शरीर का भी त्याग करूं ।'[2]

इसी प्रकार 'प्रताप नाटक' में जगमल पिता की आज्ञा से राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त होता है, परन्तु वह अकर्मण्य तथा विलासी है । इसलिए प्रजा प्रताप सिंह से राज्य ग्रहण करने का अनुरोध करती है, परन्तु प्रताप सिंह पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर राज्य ग्रहण करना नहीं चाहते । वे कहते हैं --' ..... ऐसा मत कहो । देखो, श्री राम ने बिना किसी तर्क-वितर्क के पिता की आज्ञा से अयोध्या के विशाल साम्राज्य को लात मार कर चौदह साल के वनवास को सहर्ष स्वीकार किया था । मैं भी सूर्य वंश पर पिता की आज्ञा के उल्लंघन का कलंक नहीं लगाना चाहता ।'[3]

मातृ-भक्ति का उदाहरण द्वारकाप्रसाद गुप्त के नाटक 'अज्ञात वास' में उपलब्ध होता है । अज्ञातवास के समय युधिष्ठिर कोई ऐसा उपाय करने को कहते हैं जिससे कौरवों को उन लोगों का पता न लग सके नहीं तो उन लोगों को पुन: बारह वर्ष के बनवास और एक वर्ष के अज्ञात वास का दण्ड मिलेगा । यह सुनकर भीम जो इन सारे कष्टों का कारण युधिष्ठिर को मानते हैं, क्षुब्ध होकर कहते हैं कि यदि दुबारा दण्ड मिलेगा भी तो क्या करना है ? युधिष्ठिर की औदार्यता की चर्चा तो होगी ही । तब अर्जुन कहते हैं --

---

१ 'भीष्म प्रतिज्ञा' : विश्व, प्रथम संस्करण,पृ०५५
२ 'भीष्म' : विश्वम्भरनाथ कौशिक, प्रथम संस्करण,पृ०४२
३ 'प्रताप नाटक' : बलदेव शास्त्री,पृ०३

'भाई भीम, धर्मराज के सम्मुख ऐसे शब्द कहना उचित नहीं है[1]। हम लोगों का मुख्य धर्म है कि अपने बड़े भाई की आज्ञा का पालन करें।'

कर्तव्य-बोध

कर्तव्य - बोध का एक उदाहरण मायादत्त नैथानी के नाटक 'संयोगिता' में भी प्राप्त होता है। इस नाटक में संयोगिता से उसकी सखी सुनन्दा कहती है --"..... राजकुमारी , क्या तुम भगवान के अमर वचनों को भूल गई हो जिनमें उन्होंने कर्तव्य को मानव जीवन का चरम आदर्श बताया था ? हिन्दुओं के जीवन का आदर्श है कर्तव्य पालन ....[2]।"

नीति

भारतीय नीति के अनुसार दूत के साथ दुर्व्यवहार करना उचित नहीं है। सुदर्शन जी के नाटक 'सिकन्दर' में पुरु की वीरता की प्रशंसा सुनकर स्वयं सिकन्दर दूत के वेश में पुरु के दरबार में आता है। पुरु उसे पहचान कर कहते हैं कि वह उन्होंने उसे पहचान लिया है और चाहें तो उसका वध कर सकते हैं परन्तु वह उसका वध नहीं करेंगे क्योंकि -- 'भारत की राजनीति कहती है, राजदूत बन कर जो भी आए, उससे राजदूत का सुलूक होना चाहिए, और सिकन्दर राजदूत के वेश में है[3]।'

भारतीय नीति के अनुसार स्त्री और बालक पर बल प्रयोग करना अनैतिक है। आम्भीक ने सिकन्दर से अभिसंधि कर ली परिणामत: पुरु अकेले ही सिकन्दर से युद्ध करता हुआ बन्दी बना लिया जाता है। सिकन्दर आम्भीक के सिपाहियों को, रानी तथा अन्य स्त्रियों को बन्दी बना लाने के लिए भेजता है। उन सिपाहियों से प्रार्थना कहती है--

---

१ 'अज्ञातवास' : द्वारका प्रसाद गुप्त, प्रथम संस्करण, पृ०६
२ 'संयोगिता' : मायादत्त नैथानी, प्रथम संस्करण, पृ०६
३ 'सिकन्दर' : सुदर्शन, प्रथम संस्करण, पृ०७१

"सावधान। तुम सिपाही हो और हिन्दू हो। हिन्दू सिपाही कभी स्त्रियों पर आक्रमण नहीं करता।"[1]

इसी बात की पुष्टि विश्वम्भरनाथ कौशिक के नाटक 'भीष्म' में भी की गई है। भीष्म बताते हैं कि पाण्डवों की विजय का उपाय उनकी मृत्यु है और उनकी मृत्यु शिखण्डी द्वारा होगी। शिखण्डी स्त्री है, इसलिए वह उस पर प्रहार नहीं करेंगे। क्योंकि --" स्त्री पर हथियार चलाना क्षात्रिय धर्म के प्रतिकूल है।"[2]

इसी प्रकार 'भक्त प्रह्लाद' में ईश्वर का नाम लेने के कारण हिरण्याकश्यप प्रह्लाद का वध कराना चाहता है। यह कार्य वह वज्रदंत को सौंपता है परन्तु वज्रदन्त इस कार्य केलिए सहमत नहीं होता। यह देखकर हिरण्याकश्यप कहता है कि वह क्षात्रिय नहीं है। तब वज्रदन्त कहता है--" एक निर्दोष बालक का वध करना क्षात्र धर्म नहीं है।...... हाथ में तलवार है परन्तु वह तलवार गौ-ब्राह्मण-स्त्री और बालक की रक्षा के लिए है--वध के लिए नहीं।"[3]

प्रजा पालन

भारतीय संस्कृति में राजा और प्रजा के परस्पर सम्बन्ध को पिता-पुत्र का सम्बन्ध माना गया है। प्रजा का पालन तथा रंजन करना एकमात्र राजा का परम धर्म है। इसके अनेक उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी उपलब्ध होते हैं।

बलदेव प्रसाद खरे के नाटक 'राजाशिवि' में राजा शिवि अपनी प्रजा से कहते हैं --" तुम मेरी प्रजा हो, मैं तुम्हारा राजा हूं। राजा का धर्म है प्रजा की रक्षा करना, प्रजा को प्राणों से प्यारा समझना। मुझे स्त्री उतनी प्यारी नहीं, राजकुमार उतना प्यारा नहीं, जितनी कि

---

1 "सिकन्दर" : सुदर्शन, प्रथम संस्करण, पृ०१०५

2 "भीष्म" : विश्वम्भर नाथ कौशिक, पृ०८२

3 "परम भक्त प्रह्लाद" : राधेश्याम कथावाचक, चतुर्थ संस्करण, पृ०११२

मुझे अपनी प्रजा प्यारी है। मुझे तो दिन-रात, सोते-जागते, उठते-बैठते, हर समय प्रजा के सुखों का ध्यान रहता है। वेद का कथन है, कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःख पाती है, उस राजा की आत्मा नरक में घोर कष्ट पाती है।[1]"

"भीष्म" में भी भीष्म, विचित्रवीर्य को राजनीति की शिक्षा देते हुए कहते हैं --"वत्स, राजनीति बड़ा गम्भीर विषय है... राजनीति का सार प्रजा वत्सलता है, प्रजा को सुखी रखने की चेष्टा करो, प्रजा के सुखों के लिए अपने सुखों की तिलांजलि दे दो।..... अपने स्वार्थ में प्रजा का स्वार्थ समझना बड़ी भूल है। नाश का यही मूल है। प्रजा के स्वार्थ में अपना स्वार्थ समझना सच्ची राजनीति है, दूरदर्शियों की यही रीति है।[2]"

देशभक्ति तथा वीरता

भारतीय संस्कृति के अनुसार देश के लिए प्राण देना धर्म माना जाता है, इसीलिए यहाँ की स्त्रियाँ अपने पिता, पति, पुत्र तथा भाई को हँसते हुए रणक्षेत्र में भेजती हैं और उनके वीरगति पाने पर शोकाकुल नहीं होती हैं। इस युग के देशभक्ति पूर्ण नाटकों के माध्यम से भारतीय संस्कृति के स्वरूप -चिन्तन का स्तुत्य प्रयास किया गया।

राधाकृष्णदास के नाटक "रानी पद्मावती" में बताया गया है कि मनुष्य वही है जो देशहित के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दे। अलाउद्दीन से युद्ध करते हुए रत्नसिंह के अनेक योद्धा वीरगति पाते हैं। दुःखी राजा रत्नसिंह को सान्त्वना देते हुए एक सरदार कहता है कि यह तो उन लोगों का अहोभाग्य था कि वे देश के काम आये। तब रत्नसिंह कहते हैं--" इसमें क्या सन्देह है यदि यह कायर शरीर अपनी मातृभूमि के

---

१ "राजा शिवि" : बलदेव प्रसाद खरे, प्रथम संस्करण, पृ०७५
२ "भीष्म" : विश्वम्भरनाथ "कौशिक" प्रथम संस्करण, पृ०५०

कुछ भी काम आवे तो इससे बढ़कर और पुण्य का क्या फल है[1]।"

इसी प्रकार मायानन्द नैथानी के नाटक "संयोगिता" में संयोगिता से उसकी सखी सुनन्दा कहती है --" ..... देश के प्रति जो तुम्हारा कर्तव्य है वह कर्तव्य के अन्य सब विचारों के ऊपर है। जान रक्खो, कि मनुष्य का सबसे पहला और बड़ा कर्तव्य अपने देश के प्रति होता है और वही आज तुम्हारे सामने उपस्थित है[2]।"

कृष्णलाल वर्मा के नाटक "कलजीत सिंह" में देश की रक्षा को प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य बताया गया है। एक सिपाही के कहने पर कि युद्ध के लिए मुख्य मुख्य व्यक्ति होते हैं उसके ऐसे साधारण व्यक्ति नहीं, कलजीत सिंह कहता है--" नहीं, देश की रक्षा के लिए किसी खास व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि जहां के अन्न से वह पला-पोषा है, जहां उसने जन्म लिया है और जो मातृभूमि है उसकी रक्षा के लिए वह अपना सर्वस्व अर्पण करे और अवसर पड़ने पर अपने प्राण देने में भी न हिचकिचाये[3]।"

बलदेव शास्त्री के "प्रताप नाटक" में भी एक नागरिक कहता है--" .... हमें एकमात्र देश के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। इस कर्तव्य पालन के पवित्र कार्य में हमें कितने ही भयंकर से भयंकर कष्ट भोगने पड़ें, भेलने चाहिए, किन्तु जननी जन्मभूमि को कभी भी दूसरों से पद दलित होते हुए न देखना चाहिए[4]।" इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर प्रताप सिंह अपने सैनिकों से कहते हैं -- "मेरे वीर सरदारों और सैनिकों .... वीरों ! आज प्राण-पण से हमें मातृ-भूमि की रक्षा करनी है। देखो प्राणों के रहते उसके पवित्र कलेवर को विदेशी विधर्मी कलंकित न कर सकें[5]।" देश-प्रेम के लिए महाराणा प्रताप अनेक यंत्रणाएं सहन करने को उद्यत हैं। वन में भूख से

---

१ "महारानी पद्मावती" : राधाकृष्णदास, द्वितीय संस्करण, पृ०५

२ "संयोगिता" : मायानन्द नैथानी, प्रथम संस्करण, पृ०१०

३ "कलजीत सिंह" : कृष्णलाल वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०६

४ "प्रताप नाटक" : बलदेव शास्त्री, पृ०१३

५ वही, पृ०७७

व्याकुल अपनी पुत्री को देखकर वह कहते हैं--" हृदय अब धीरज धर.... कितने ही दु:ख क्यों न भोगने पड़े, कितनी ही यंत्रणाएं क्यों न झेलनी पड़ें.... चाहे सर्वस्व स्वाहा हो जाय, विदेशियों को देश से निकाल कर ही दम लेंगे।"[१]
धनाभाव के कारण प्रताप सिंह को सैन्य संगठन करने में कठिनाई हो रही है यह देखकर उनके मंत्री भामाशाह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति देशहित के लिए त्यागने के लिए तत्पर हो जाते हैं । वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति प्रताप के सामने रख देते हैं और कहते हैं--" जितना धन मेवाड़ के महाराणाओं की सेवा में रहकर संचित किया है, वह सबका सब मैं प्रसन्नता पूर्वक देशोद्धार के पवित्र कार्य के लिए समर्पित करता हूं।"[२]

सुदर्शन जी के नाटक "सिकन्दर" में देश के सामने राजा को नगण्य माना गया है। सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के समय सिकन्दर की प्रेमिका रुखसाना भी भारत आती है और राजा पुरु को राखी बांधकर उसे अपना भाई बना लेती है। आम्भीक पुरु का साथ न देकर सिकन्दर से मिल जाता है, अत: उसकी बहन प्रार्थना भी उससे असंतुष्ट होकर राजा पुरु के पास आ जाती है। जब पुरु युद्ध -भूमि में जाने लगता है, रुखसाना उसके लिए मंगलकामना करती है, परन्तु प्रार्थना देश भक्ति की भावना से युक्त होकर देश के लिए मंगलकामना करती है। इसका कारण पूछने पर प्रार्थना कहती है --" देश के सामने राजा कोई वस्तु नहीं। देश बचा रहे राजे बहुत मिल जायेंगे। देश हार जाए, राजे दास बन जायेंगे।"[३]

आश्रम व्यवस्था तथा वर्ण व्यवस्था

भारतीय संस्कृति में मानव जीवन को व्यवस्थित करने के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की गई है, जो क्रमश: ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

---

१ "प्रताप नाटक" : बलदेव शास्त्री, पृ०११८
२ वही, पृ० १४३-१४४
३ "सिकन्दर" : सुदर्शन, प्रथम संस्करण, पृ०६१
४

वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम के नाम से जाने जाते हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था के लिए पूरे समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया है यथा -- ब्राह्मण,क्षत्री, वैश्य और शूद्र। इनके वर्णानुसार ही समस्त कार्यों का विभाजन भी किया गया है।

गोपाल दामोदर तामस्कर के 'राजा दिलीप' नाटक में राजा दिलीप वृद्धावस्था में अपने पुत्र रघु का राज्याभिषेक कर राज्यभार उसे सौंप कर स्वयं वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करते हैं। उस समय वशिष्ठ मुनि कहते हैं--' हमारे श्रेष्ठ पूर्वजों ने जिस आश्रम व्यवस्था की योजना की है उससे उत्तम जीवन की कोई अन्य व्याख्या नहीं हो सकती।'[1]

आश्रम व्यवस्था का एक अन्य उदाहरण 'ऊषा अनिरुद्ध' में भी प्राप्त होता है। आश्रम व्यवस्था के विषय में बाणासुर कहता है-- ' जिस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम के लिए विद्या,वानप्रस्थाश्रम के लिए तीर्थ यात्रा और सन्यास के लिए चित्त की वृत्तियों के निरोध का विधान है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम के लिए भी सन्तानोत्पत्ति का आनन्द ही प्रधान है।'[2]

तुलसीदत्त 'शैदा' के नाटक 'जनकनन्दिनी' में बताया गया है कि वर्णाश्रम धर्म का पालन अनिवार्य है,अन्यथा वर्ण की अव्यवस्था से अनेक प्रकार की आपत्तियों का आविर्भाव होता है। रामराज्य में एक ब्राह्मण -पुत्र की अकाल मृत्यु का कारण एक शूद्र की तपस्या बतायी जाती है। राम,वशिष्ठ मुनि से पूछते हैं कि शूद्र की तपस्या से बालक की मृत्यु का क्या सम्बन्ध है तब वशिष्ठ मुनि कहते हैं--'कारण यह है कि शास्त्र में शूद्र जाति के लिए सन्ध्या, तर्पण,वेदपाठ,तपस्या आदि करना मना है --

छोड़ दे जब शूद्र अपने कर्म को व्यवहार को,
उस समय फिर भेलने पड़ते हैं दुःख संसार को।
शूद्र का कर्तव्य है सेवा करे त्रै वरण की ,
अपने मस्तक पर लगाये धूल उनके चरण की।'[3]

1 'राजा दिलीप नाटक' : गोपाल दामोदर तामस्कर,प्रथम संस्करण,पृ०१४५
2 'ऊषा अनिरुद्ध' : राधेश्याम कथावाचक, तृतीय संस्करण,पृ०२२
3 'जनक नन्दिनी' : तुलसीदत्त'शैदा', प्रथम संस्करण,पृ०७१-७२

स्त्री का स्थान

भारतीय संस्कृति में स्त्री का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस बात की पुष्टि इसी बात से हो जाती है कि स्वयं मनु ने कहा है कि जहां स्त्रियों की पूजा होती है, वहां देवताओं का निवास होता है और जहां स्त्रियों का अपमान होता है वहां सभी प्रकार के कष्टों तथा दु:खों का वास होता है। इसके अनेक उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी उपलब्ध होते हैं।

नन्दकिशोरलाल वर्मा के नाटक 'महात्मा विदुर' में स्त्री का महत्व बताते हुए सेठ जी की पत्नी शान्ति कहती है--'याद रक्खो, जहां पर स्त्री जाति का अपमान होता है, वहां साक्षात् भगवान् का क्रोध धधक उठता है, और सर्वस्व स्वाहा कर डालता है।'[१]

राधेश्याम कथावाचक के 'ऊषा अनिरुद्ध' नाटक में वाणासुर को कन्या रत्न की प्राप्ति होती है, जिसे जानकर उसके सभासद कहते हैं कि यदि पुत्र हुआ होता तो बहुत अच्छा होता। यह सुनकर वाणासुर कहता है कि संसार में नाम ऊंचा करने वाली सीता, पार्वती, सावित्री आदि स्त्रियां ही तो थीं। --' तो बस समझ लो कि कन्या की पदवी कितनी ऊंची है। जिस जाति ने नारी का आदर नहीं किया है वह कभी ऊपर को नहीं उठी है। यह सारी सृष्टि ही नारी रूप है। भगवती पार्वती के बिना महेश्वर की महिमा असार है। पृथ्वी के बिना जल बेकार है। ज्योति के बिना नेत्र में अन्धकार है। विद्या के बिना बड़े से बड़ा मनुष्य गंवार है।'[२] इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति के अनुसार नारी को पूज्या माना गया है।

---

१ 'महात्मा विदुर' : नन्दकिशोरलाल वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०४२

२ 'ऊषा अनिरुद्ध' : राधेश्याम कथावाचक, तृतीय संस्करण, पृ०२३-२४

निष्कर्ष

प्रसादपूर्व नाटकों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इन नाटकों द्वारा भारतीय संस्कृति की उन्नति का स्तुत्य कार्य सम्पादित किया गया है। प्रसादपूर्व हिन्दी नाटक विदेशी संस्कृति से प्रभावित तथा पराधीनता की प्रगाढ़ तन्द्रा में सुप्त भारतीयों को जागृत कर, भारतीय-संस्कृति के गौरवशाली रूप को अपनाने की प्रेरणा प्रदान करने में सर्वथा सफल रहे हैं। इस युग के पौराणिक नाटकों के माध्यम से प्राचीन भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया गया तथा ऐतिहासिक नाटकों द्वारा भारतीय गौरव की अपूर्व झलक दिखायी गयी। राजनीतिक नाटकों के माध्यम से तत्कालीन भारत की दुर्दशा तथा हीनावस्था का चित्रण कर पराधीनता के प्रति जनमानस में विद्रोह की अग्नि प्रज्ज्वलित करने का साहसपूर्ण कार्य किया गया। इस युग के सामाजिक नाटकों ने भी समाज-सुधार में अपूर्व योगदान दिया। प्रचलित समाज की बुराइयां, रूढ़ियां, अन्ध-विश्वास और दमतोड़ती मान्यताएं जो घुन की तरह समाज को खोखला कर रही थीं, को नाटक का विषय बनाकर उधर जनता का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार प्रसादपूर्व नाटकों ने सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक सभी क्षेत्रों में नवीन जागरण उत्पन्न करने का प्रयत्न किया।

-0-

चतुर्थ अध्याय

-0-

प्रसादकालीन नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप

प्रसाद जी ने अपने नाटकों द्वारा इस युग का पथ प्रदर्शन किया है। भारतीय संस्कृति के प्रति प्रसाद जी के हृदय में अपार श्रद्धा थी। वे इस संस्कृति को, जो राजनीतिक हलचलों के कारण मृतप्राय: हो गई थी, पुन: प्रतिष्ठित करने के लिए व्यग्र हो उठे। उन्होंने विदेशी राजनीति के प्रभुत्व से आतंकित और उसकी चकाचौंध से भ्रमित जनता को फिर से अपनी संस्कृति का मार्ग दिखाया। उनमें राष्ट्रीय भावना जागृत की तथा क्षमा, शील, सेवा, शौर्य आदि गुणों का चित्रण किया। इस प्रकार प्रसाद जी ने अपने नाटकों द्वारा भारतीय संस्कृति, जो विदेशियों के प्रभाव के कारण भुला दी गई थी, उसे पुन: जागृत किया।

भारतीय संस्कृति के उपेक्षित रूप से दु:खी हो प्रसाद जी ने `कामना` नाटक की रचना की, जिसमें कामना (नायिका) भारतीय संस्कृति का प्रतीक है, जो सरल हृदय और भोली है। भारतीय संस्कृति का प्रमुख गुण है, संतोष और संतोष (नायक) कामना का पति है। परन्तु कामना भौतिकता के प्रति आकर्षित होकर संतोष से दूर हो जाती है और विदेशी युवक विलास जो विदेशी भौतिकतावाद का प्रतीक है, की ओर आकृष्ट हो जाती है। परिणाम-स्वरूप वह अनेक दु:खों और कष्टों को मोल ले लेती है, साथ ही उसके प्यारे `फूलों का देश` (भारत का प्रतीक) में अनाचार फैल जाता है। अन्त में उसे अपनी भूल का ज्ञान हो जाता है और वह विलास को छोड़कर पुन: सन्तोष की शरण में आ जाती है। इस प्रकार इस नाटक द्वारा प्रसाद जी ने विदेशी सभ्यता पर भारतीय संस्कृति की विजय दिखाई है। `कामना` द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार की अपनी प्रबल कामना व्यक्त की है।

प्रसाद के अतिरिक्त इस युग के अन्य नाटककारों के नाटकों में भी भारतीय संस्कृति का स्वरूप पर्याप्त विस्तार से दिखाई देता है । संसार की असारता, नियति, जीवन की नश्वरता, मोह-माया का परित्याग, अनासक्त कर्मयोग, धार्मिक सामन्जस्य तथा समन्वय, विश्वमैत्री की भावना, संसार को दु:ख-मय मानना, संतोष, ईश्वर पर विश्वास, संसार को ईश्वरमय मानना, अभेद की भावना, आत्मा की अमरता, मोक्ष का स्वरूप, कर्मफल तथा पुनर्जन्म, स्वर्ग नर्क की कल्पना, धर्म के प्रति अटूट विश्वास, अहिंसा और जीवदया की भावना, सत्य के प्रति निष्ठा, उदारता, त्याग, दया, दान, परोपकार, क्षमा तथा नम्रता, धैर्य तथा सच्चरित्रता, शरणागत रक्षा तथा अतिथि सत्कार, वर्ण व्यवस्था, पति-व्रत धर्म का आदर्श, पितृ भक्ति तथा स्वामी भक्ति एवं देश भक्ति आदि समस्त गुणों का जो भारतीय संस्कृति की विशेषता है, विशद् विवेचन इस युग के नाटकों में किया गया है ।

मोह-माया का त्याग

प्रसाद जी ने बौद्ध धर्म और आर्य धर्म दोनों के सार को ग्रहण किया । आपके नाटकों में जहाँ एक ओर नियतिवाद है, वहाँ दूसरी ओर संसार के प्रति निर्लिप्तता का भी वर्णन है । प्रसाद जी के सभी नाटकों में दार्शनिकता का प्रभाव है । उनके पात्र एक कुशल दार्शनिक के समान जीवन की गुत्थियों को सुलझाते हैं । वे मोह-माया और भौतिक सुखों में लिप्त नहीं होते हैं । आपके नाटक 'स्कन्दगुप्त' में स्कन्दगुप्त वैराग्यपूर्ण मन से अधिकार का उपभोग करता है । एक स्थान पर वह कहता है --' ..... वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बन्धनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है[1] ।' आपके 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चाणक्य और दाण्ड्यायन दोनों ही भारतीय संस्कृति के आचार्य तथा प्रचारक हैं । दाण्ड्यायन विश्व के समस्त आकर्षणों से उदासीन हैं,

---

१ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद , नवाँ संस्करण, पृ० १२८

उन्हें ईश्वरीय सुख का ज्ञान हो गया है, अत: सांसारिक सुख उन्हें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते हैं । सिकन्दर का दूत, दाण्ड्यायन उनसे कहता है कि उन्हें जगद्विजेता सिकन्दर ने स्मरण किया है, उस समय दाण्ड्यायन कहते हैं -- 'भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभास मात्र हो जाता है, उसे ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते दूत.... मैं लोभ से, सम्मान से या भय से किसी के पास नहीं जा सकता ।[1]' एक अन्य स्थान पर भारतीय तपोवन को संसार के समस्त राग-द्वेषों से मुक्त बताया गया है । राक्षस जो शत्रुओं से मिल गया है, भारतीय सैनिकों को देखकर भयभीत हो भागने का प्रयत्न करता है । सुवासिनी उसे तपोवन में छिपने का परामर्श देती है और कहती है-- 'आर्यों का तपोवन इस राग द्वेष से परे है[2]।'

'कर्तव्य' (उत्तरार्द्ध) में भी सांसारिक बन्धनों को असार बताया गया है । संसार के प्रति मोह क्षणिक है, शाश्वत तो केवल ज्ञान का प्रकाश है । महाभारत के युद्ध के समय अर्जुन के मन में मोह उत्पन्न हो जाता है । कृष्ण उन्हें उपदेश देते हैं और अर्जुन से उस उपदेश का सारांश पूछते हैं, जिसे बताते हुए अर्जुन कहते हैं--'मोह सदा क्षणिक रहता है, ज्ञान के सदृश्य स्थायी नहीं[3]।' 'प्रकाश' में भी मोह को, जो चाहे किसी व्यक्ति के प्रति हो या वस्तु के, दु:ख का कारण बताया गया है । अजय सिंह को अपनी सम्पत्ति का अत्यधिक मोह है । यह देखकर उनकी पत्नी कल्याणी कहती है--' महाराज, वृद्ध हो जाने और अपुत्रक होने पर भी सम्पत्ति से इतना मोह क्यों ? मोह ही अनेक दु:खों की जड़ है[4]।'

एक अन्य नाटक 'विश्वप्रेम' में भी बताया गया है कि ईश्वर का प्रेम शाश्वत है, सांसारिक प्रेम क्षणिक है,अत: ईश्वर का प्रेम पाने के लिए सांसारिक लालसाओं का त्याग करना आवश्यक है । कालिन्दी के प्रेम में असफल

---

१ 'चन्द्रगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, पृ०८४-८५

२ वही, पृ० १६८

३ 'कर्तव्य'(उत्तरार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण,पृ०१५४

४ 'प्रकाश' : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण,पृ०११८

मोहन से प्रमोदिनी कहती है कि सच्चा सुख पाने के लिए उसे बलिदान करना पड़ेगा । मोहन के पूछने पर कि किस प्रकार का बलिदान करने की आवश्यकता है ? प्रमोदिनी कहती है --'अपने स्वार्थ के बलिदान की । जिस मनुष्य को इस प्रेमपथ पर चलना होता है,उसे स्वार्थ का त्याग कर देना पड़ता है । इस नष्ट होने वाले शरीर को, इन अनित्य इन्द्रियों की लालसा से सदा के लिए उसे अपना मुख मोड़ लेना पड़ता है[1]।'

ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या

भारतीय दर्शन के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य,नित्य और शाश्वत है । संसार तो क्षणभंगुर और असत्य है । इसकी असारता के कारण ही कहा गया है कि -- 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' । इस प्रकार के दर्शन का दिग्दर्शन इस युग के नाटकों में पर्याप्त मिलता है । प्रसाद जी के 'स्कन्दगुप्त' नाटक में स्कन्दगुप्त कहता है --' अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है[2]।' 'अशोक' का पात्र भवगुप्त भी संसार को मात्र भ्रम समझता है । वह कहता है--' इन बाहरी आँखों से जो कुछ भी तुम देख रहे हो, सभी भ्रम है,-- तुम भ्रम हो, मैं भ्रम हूं, यह वृक्ष भ्रम है, यह झरना भ्रम है, यह कुटी भ्रम है,-- यहां जो कुछ देख पड़ता है, सभी भ्रम है, सत्य है वही एक जगदीश-- उसे छोड़कर कहीं कुछ नहीं[3]।'

आत्मा की अमरता

भारतीय संस्कृति के अनुसार आत्मा अजर,अमर और शाश्वत है । इसका नाश नहीं होता वरन् केवल उसका रूप परिवर्तित होता है । जैसे कोयला जल कर राख का रूप धारण कर लेता है,उसी प्रकार आत्मा भी अपना रूप परिवर्तित कर लेती है । इस बात की पुष्टि सेठ गोविन्ददास के नाटक 'कर्तव्य'(उत्तरार्द्ध) में भी

---

१ 'विश्वप्रेम'(गोविन्ददास ग्रन्थावली) : सेठ गोविन्ददास ,पृ०२७

२ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण,पृ०६

३ 'अशोक' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ० १४१

की गई है। महाभारत युद्ध के समय कृष्ण द्वारा दिए गए उपदेश को संक्षेप में सुनाते हुए अर्जुन कहते हैं-- 'आत्मा अजर एवं अमर है, अत: शरीर के नाश से उसका कोई सम्बन्ध नहीं[1]।' 'सिन्दूर की होली' में चन्द्रकला से मनोरमा कहती है-- 'हमारे यहाँ तो आत्मा अनादि है और अनन्त है[2]।'

जीवन की नश्वरता

आत्मा की अमरता का ज्ञान हो जाने से ही कदाचित् भारतीय संस्कृति में मृत्यु के प्रति किसी प्रकार का भय देखने को नहीं मिलता। भारतीय संस्कृति के अनुसार मृत्यु अनिवार्य है, यह शाश्वत नियम है। इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है। शरीर में प्राण केवल एक निश्चित समय तक ही रहता है, उसके पश्चात् यह पंचभूत से निर्मित शरीर पुन: पंचभूत में मिल जाता है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में मालविका कहती है-- 'जीवन एक प्रश्न है और मृत्यु उसका अटल उत्तर[3]।' इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' में प्रपंचबुद्धि किसी राज्य-परिवार के सदस्य की बलि देना चाहता है। उसके लिए विजया देवसेना को बुलाती है और निश्चित समय पर उसे श्मशान में पहुँचा देती है। वहाँ पहुँच कर वह देवसेना से पूछती है कि क्या उसे यहाँ भय नहीं लगता? इसका उत्तर देते हुए देवसेना कहती है--' संसार का मूक शिक्षक श्मशान क्या डरने की वस्तु है? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है[4]?'

इसी बात की पुष्टि 'राजमुकुट' में भी की गई है। बनवीर उदय को मारना चाहता है। यह बात ज्ञात होने पर पन्ना उदय को बारी की टोकरी में रख कर महल के बाहर भेज देती है और उदय के स्थान पर अपने पुत्र चन्दन को लिटा देती है, जिसे बनवीर उदय समझ कर मार डालता है। अपने मृत पुत्र को

---

१ 'कर्त्तव्य' (उत्तरार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण, पृ०१५४

२ 'सिन्दूर की होली' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०१५८

३ 'चन्द्रगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, पृ०१६६

४ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, नवाँ संस्करण, पृ०८६

लेकर वह नदी के किनारे आती है और विलाप करती है । उसी समय एक सिद्ध पुरुष वहाँ आते हैं और कहते हैं --' इतने करुण स्वर में विलाप करने वाली तुम कौन हो ? जो आया है, वह अवश्य ही जायगा, क्या तुम इस अटल सत्य को नहीं जानती ।'[1] पन्ना उन सिद्ध पुरुष से अपने पुत्र को जीवित करने का अनुरोध करती है, जिसे सुन कर वह पुन: कहते हैं-- ' यह परमेश्वर की इच्छा की पूर्ति है, इसका बाधक कोई सिद्ध नहीं हो सकता । जो जिएगा, वह अवश्य मरेगा, जो उदय होगा वह अवश्य ही अस्त होगा ।'[2] 'वरमाला' की नायिका वैशालिनी उपवन के पुष्पों को सम्बोधित कर कहती है-- 'वह एक छोटा सा बीज ...... और तू भी यदि इस गुच्छे में अच्छी तरह खिल चुका है तो आ अपना सौन्दर्य और सुगंधि मुझे दान कर, मेरी फूल की डलिया में पूरक जा । चिन्ता न कर हम मर्त्यलोकवासी हैं । हमारा यही परिणाम है-- उदय और अस्त ही का नाम जीवन है ।'[3]

इसी प्रकार सेठ गोविन्ददास जी के नाटक 'कर्ण' में महाभारत युद्ध के समय यह जानकर कि सूर्य द्वारा प्रदत्त कवच और कुण्डल कर्ण से माँग कर ही उन्हें पराजित किया जा सकता है, कृष्ण पाण्डवों से कवच कुण्डल माँग लाने का प्रस्ताव रखते हैं । यह बात सूर्य कर्ण को बता देते हैं और कहते हैं कि यह उनके जीवन मरण का प्रश्न है अत: वे कवच कुण्डल दान न करें । यह सुनकर कर्ण कहते हैं --' हाँ जानता हूं, भगवन् । कवच-कुण्डल युद्ध में हो तो मेरी रक्षा कर सकते हैं, उनके कारण अस्त्र-शस्त्रों से मेरे प्राण नहीं जा सकते, परन्तु जिस दिन स्वाभाविक मृत्यु आवेगी, उस दिन तो कवच-कुंडल रहते भी मैं मरूंगा या नहीं ? मानव तो मर्त्य है, अमर्त्य नहीं, यह मृत्यु लोक है, नाथ स्वर्ग नहीं ।'[4] इसी नाटक

---

1 'राजमुकुट' : गोविन्दवल्लभ पन्त , प्रथम संस्करण,पृ०६३

2 वही, पृ० ६४

3 'वरमाला' : गोविन्दवल्लभ पन्त,१२३ आठवां संस्करण , पृ १०

4 'कर्ण' : सेठ गोविन्ददास , प्रथम संस्करण, पृ० ७६

के एक अन्य स्थल पर युद्ध में भीम के पुत्र घटोत्कच की मृत्यु से अर्जुन विचलित हो उठते हैं । उन्हें समझाते हुए कृष्ण कहते हैं--' धनंजय, तुम्हें फिर उसी तरह ...... प्रश्न राज्य का नहीं, प्रश्न है सत् सिद्धान्तों की विजय का । इसके लिए जिस जिसकी मृत्यु होनी है, हो जाए और एक दिन मृत्यु तो प्रत्येक की होती ही है । इस मर्त्यलोक में कोई अमर होकर आता है? महान वही है जो किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए मरता है[1]।'

सेठ गोविन्ददास जी के ही एक अन्य नाटक 'कर्त्तव्य' (उत्तरार्द्ध) में भी यही भाव देखने को मिलते हैं । कृष्ण के दिए उपदेश को दुहराते हुए अर्जुन कहते हैं --' ..... और यदि आत्मा नहीं है और शरीर की उत्पत्ति के साथ ही चेतना की उत्पत्ति होती है, तो भी शरीर के नाश की कोई महत्व नहीं । नित असंख्यों शरीर उत्पन्न और असंख्यों नष्ट होते हैं[2]।' इसी नाटक में कृष्ण के महाप्रयाण के समय उद्धव कहते हैं कि उन लोगों की इच्छा है कि कृष्ण पृथ्वी पर अनेक वर्षों तक रहें और जगत् का कल्याण करें । यह सुनकर कृष्ण कहते हैं --' हर मनुष्य अपने निश्चित कार्य के लिए ही जगत में आता है और कार्य हो चुकने के पश्चात् एक क्षण भी नहीं रह सकता[3]।'

इतना ही नहीं,' अशोक' के पहले अंक के आठवें दृश्य का गीत भी जीवन की नश्वरता का द्योतक है --

'जगत से किसका क्या नाता ।
जो आता है यहां खेल कर कुछ दिन फिर जाता ।।
भाई बंधु, सखा-परिजन, पुर, यह न कहीं कुछ तेरा ।
जाना पथिक तुझे उस जग को, उठ अब निकट सवेरा[4] ।।'

---

१ 'कर्ण' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण,पृ०१२३

२ 'कर्त्तव्य'(उत्तरार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास,द्वितीय संस्करण,पृ०१५४

३ वही, पृ०१७३

४ 'अशोक' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ०३८

आपके ही दूसरे नाटक "मुक्ति का रहस्य" में आशादेवी उमाशंकर से उनके पुत्र मनोहर के भविष्य के विषय में जानना चाहती है। उस समय उमाशंकर कहते हैं --" आदमी का जीवन और यह विराट जाल ...... समुद्र के बुलबुले उठे और बैठे।[1]" इसी प्रकार "स्वप्नभंग" में नूरजहां के कहने पर कि वह भी मां के साथ चिरनिद्रा में सोना चाहती है, शाहजहां कहता है--" .... जो आता है वह जाता है। तुम्हारी मां चली गई। तुम्हारा बाप भी चला जायेगा। मेरी मां चली गई थी, मेरे बाप भी चले गये थे, फिर भी बेटी मुझे जीना पड़ा।[2]"

जीवन की नश्वरता का चित्रण उदयशंकर भट्ट के नाटकों में भी देखने को मिलता है। आपके नाटक "दाहर अथवा सिंध पतन" में संसार की प्रत्येक वस्तु को नाशवान बताया गया है। सिन्ध की राजकुमारी परमाल कहती है--" वायु वेग से प्रताड़ित नदी की धारा में जिस प्रकार बुलबुले उठते हैं और लीन हो जाते हैं, ऐसे ही संसार की राज्यसम्पत्तियों का हाल है। उत्पत्ति और नाश इस संसार रूपी पात्र के किनारे हैं। विधाता के कलनाद में हम सब एक ओर को बहे जा रहे हैं।[3]" "विक्रमादित्य" में भी चन्द्रलेखा की मृत्यु से दु:खी हो विक्रमादित्य कहते हैं --" हृदयेश्वरी का यह बलिदान .... हा, जीवन इतना नश्वर है यह आज ही जाना।[4]" एक अन्य स्थान पर भाई की मृत्यु से दु:खी विक्रमादित्य को सान्त्वना देते हुए सुबैग कहता है --" महाराज शान्त हो। .... अस्थिरता जीवन की विभूति है, यह उपदेश श्रीमान् ने कितनी बार हमें नहीं दिया है।[5]"

नियति

जीवन के प्रति उदासीनता ने भाग्यवाद को जन्म दिया। यही कारण है कि प्रेमीजी के नाटकों के पात्र अपने को नियति का क्रीड़ा

---

१ "मुक्ति का रहस्य" : लक्ष्मीनारायण मिश्र , पृ०५५
२ "स्वप्नभंग" : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण,पृ०७२
३ "दाहर अथवा सिंध पतन : उदयशंकर भट्ट, द्वितीय संस्करण,पृ०१३८
४ "विक्रमादित्य : उदयशंकर भट्ट, प्रथम संस्करण,पृ०८२
५ वही, पृ०८३

कन्दुक मानते हैं। प्रसाद जी के नाटक "राज्यश्री" में राज्यश्री कहती है -- "...... इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं पर जीवन ? वाह ! जितनी साँसें चलनी हैं वे तो चल कर ही रुकेंगी।"[1] इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर शान्ति भिक्षु को प्राप्त करने के लिए व्यग्र सुरमा से शान्तिभिक्षु कहता है--" उतावली न हो सुरमा। परीक्षा देने जा रहा हूं, साथ ही भाग्य की परीक्षा भी लूंगा। महारानी राज्यश्री एक दिन भिक्षुओं को दान देंगी, मैं भी देखूंगा कि भाग्य मुझे किस ओर खींचता है।"[2] कन्नौज को पराजित कर देवगुप्त सुरमा को अपनी रानी बनाता है। उधर शान्ति-भिक्षु सुरमा को ढूंढता है। उसके न मिलने पर वह कहता है-- "तो क्या करूं ? लौट जाऊं संघ में ? नहीं, संघ मेरे लिए नहीं है। अब यहीं कुटी में रहूंगा। तो क्या मैं तपस्वी होऊंगा ? नहीं, अच्छा जो नियति करावे।"[3]

भविष्य को ईश्वर ने इतना गोपनीय बनाकर रखा है कि कोई उस रहस्य को नहीं जान सकता है। प्रसाद जी के ही दूसरे नाटक "विशाख" में विशाख अपनी पत्नी के साथ प्रकृति की सुन्दरता का निरीक्षण करते हुए कहता है कि क्या यह सम्भव नहीं कि वे दोनों इसी प्रकार प्राकृतिक सुन्दरता का अवलोकन करते हुए अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें ? यह सुनकर चन्द्रलेखा कहती है --" क्या क्षितिज की सीमा से उठते हुए नील नीरद खंड को देखकर कोई बतला देगा कि व यह मधुर फुहार बरसावेगा कि करकापात करेगा। भविष्य को भगवान ने बड़ी सावधानी से छिपाया है और उसे आशा-मय बनाया है।"[4]

इसी प्रकार "स्कन्दगुप्त" में भी नियति को बलवान बताया गया है। उसके सम्मुख मनुष्य अत्यन्त विवश और असहाय है। चक्रपालित कहता है --" मनुष्य की अदृष्ट लिपि वैसी ही है जैसी अग्नि रेखाओं से कृष्ण मेघ में

---

१ "राज्यश्री" : जयशंकर प्रसाद, सातवां संस्करण, पृ०५४
२ वही, पृ०१२
३ वही, पृ० ३०
४ "विशाख" : जयशंकर प्रसाद, द्वितीय संस्करण, पृ०३२

बिजली की वर्णमाला एक क्षण में प्रज्ज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होने वाली । भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य केवल अतीत का स्वामी है।[१] एक अन्यस्थल पर कुंभा की लहरों से बच निकलने पर स्कन्दगुप्त कहता है--'चेतना कहती है तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि खिलौना -- वह उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना ।[२] उसी समय विक्षिप्ता-वस्था में शर्वनाग प्रलाप करता हुआ आता है । उसे देखकर स्कन्दगुप्त कहता है --' क्या अन्तर्वेद भी हूणों से पदाक्रान्त हुआ ? अरे आर्यावर्त के दुर्दैव बिजली के अक्षरों से क्या भविष्यत् लिख रहा है।[३]

स्कन्दगुप्त कमला के साथ अपनी माँ की समाधि पर आता है । वहां उसे देवसेना मिलती है जो बताती है कि वह और पर्णदत्त घायल सैनिकों की सेवा करते हैं तथा उनके भोजन और वस्त्र के लिए भिक्षा मांगते हैं । यह सुनकर स्कन्दगुप्त कहता है --' मालवेश कुमारी देवसेना । तुम और यह कर्म । समय जो चाहे करा ले ।[४] इसी नाटक के एक स्थल पर विजया अपना सम्पूर्ण धन देकर स्कन्दगुप्त का प्यार क्रय करना चाहती है । वह कहती है कि उसके पास धन है, स्कन्द जीवन के बचे दिन उसके साथ खुशी से व्यतीत कर सकता है । तब स्कन्द कहता है--' इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, विश्वनियन्ता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है । फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूं ? विजया । मैं कुछ नहीं हूं, उसका अस्त्र हूं । परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूं । मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है । किसी से मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि निज की कोई इच्छा नहीं । देशव्यापी हलचल के भीतर कोई शक्ति कार्य कर रही है ,पवित्र प्राकृतिक नियम अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं सन्नद्ध है । मैं उसी ब्रह्मचक्र का एक .... ।[५]

---

१ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण,पृ०१२६
२ वही, पृ० १२८
३ वही, पृ० १२६
४ वही, पृ० १३६
५ वही, पृ० १४२

इसी प्रकार 'अजातशत्रु' में सम्राट बिम्बसार सोच रहे हैं -- 'आह, जीवन की क्षणभंगुरता देख कर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अन्धकार की गुफा में ले जाकर उसका शान्तिमय रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है। किन्तु वह कब मानता है[1]।' इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर आम्र कुंज में बैठी मागंधी, जो गौतम बुद्ध से उपदेश ग्रहण करने के बाद आम्रपाली के नाम से जानी जाती है, अपने गत जीवन के उतार-चढ़ावों को याद कर कहती है --' अरे वाह री नियति! कैसे कैसे दृश्य देखने में आये[2]।'

अदृष्ट की छाया प्रसाद जी के 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में भी देखने को मिलती है। जनमेजय मृगया के लिए वन में जाते हैं। वहां मृग के भ्रम में छोड़ा गया तीर जरत्कारु ऋषि को लग जाता है। राजा को जब अपनी भूल का ज्ञान होता है, वह ऋषि से क्षमा याचना करते हैं। उस समय जरत्कारु ऋषि कहते हैं-- ' तुम आर्यावर्त .... अदृष्ट की लिपी ही सब कुछ कराती है ..... स्मरण रखना मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है[3]।' यह सुनकर जनमेजय कहते हैं -- 'सचमुच मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है[4]।' इसी नाटक में एक अन्य स्थल पर जनमेजय कहते हैं -- 'मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास, या उसकी क्रीड़ा का उपकरण! फिर क्यों वह अपने आपको कुछ समझता है[5]?' ब्राह्मण उत्तंक जनमेजय

---

१ 'अजातशत्रु' : जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण, पृ० ३३

२ वही, पृ० १६६

३ 'जनमेजय का नाग यज्ञ' : जयशंकर प्रसाद, आठवां संस्करण, पृ० ३६

४ वही, पृ० ४०

५ वही, पृ० ४३

को नागों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उत्तेजित करते हैं परन्तु जनमेजय कहते हैं कि इस समय युद्ध करना उचित नहीं है क्योंकि जरत्कारु ऋषि की मृत्यु से ब्राह्मण असन्तुष्ट हैं और परिषद भी अन्यमनस्क है। परन्तु उत्तंक का कहना है कि जैसे भी हो दुर्वृत्त नागों का दमन आवश्यक है। यह सुनकर जनमेजय कहते हैं -- "किन्तु मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। क्या वह कर्म करने में स्वतंत्र है[1]।" एक अन्य स्थल पर जरत्कारु ऋषि के वध वध से हुए ब्रह्महत्या के प्रायश्चित स्वरूप जनमेजय को अश्वमेध यज्ञ करना पड़ता है। इस यज्ञ में के फलस्वरूप हुए युद्ध के रक्तपात से दु:खी हो उनकी रानी वपुष्टमा कहती है -- "एक व्यक्ति की हत्या जो केवल अनजान में हो गई है, विधिविहित असंख्य हत्याओं से छुड़ाई जायगी। असंहनीय कर्म-लिपि! तेरा क्या उद्देश्य है, कुछ समझ में नहीं आता[2]।" उसी समय प्रमदा दासी यज्ञ का समारम्भ करने का सन्देश लेकर आती है, परन्तु रानी को खिन्न देखकर वह कहती है कि यह तो प्रसन्नता का अवसर है, अत: उसे उद्विग्न नहीं होना चाहिए। तब रानी कहती हैं -- "उद्विग्न! प्रमदा, मेरा हृदय बहुत ही उद्विग्न हो रहा है! मेरा चित्त चंचल हो उठा है। भविष्य कुछ टेढ़ी रेखा खींचता हुआ दिखाई दे रहा है[3]।" अश्वमेध का अश्व विजयी होकर वापस आ रहा है, इस बात की सूचना पाकर भी रानी कहती है कि उसका हृदय आतंकित हो रहा है। तब उत्तंक कहता है -- "कल्याणि.... नियति का क्रीड़ा-कन्दुक नीचा, ऊंचा होता हुआ अपने स्थान पर पहुंच ही जायेगा। चिन्ता क्या है? केवल कर्म करते रहना चाहिए[4]।" इसी नाटक के एक अन्य स्थान पर नागवधू सरमा जो छद्मवेश में जनमेजय के राजदरबार में दासी का

---

१ "जनमेजय का नाग यज्ञ" : "जयशंकरप्रसाद", आठवां संस्करण, पृ०५१

२ वही, पृ०७१

३ वही, पृ०७१

४ वही, पृ०७४

कार्य करती है, सोचती है -- "..... राजकुल में क्या करने के लिए आई हूं। होगा, मेरा कोई काम होगा। मैं उस अदृष्ट शक्ति का यंत्र हूं। वह, जो मेरे साथ है, मुझसे कोई काम कराना चाहता है[1]।" जनमेजय वेदव्यास से अपने पितामहों के समय के गृहयुद्ध के विषय में अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हैं। जिसका उत्तर देते हुए वेदव्यास कहते हैं-- " आयुष्मान्, तुम्हारे पितामहों ने मुझसे पूछ कर कोई काम नहीं किया था, और न बिना पूछे मैं उनसे कुछ कहने ही गया था, क्योंकि वह नियति थी। दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीड़ा कन्दुक हैं। अन्ध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्म शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य करती है और ऐसी ही क्रान्ति के समय विराट् का वशीकरण होता है[2]।"

"चन्द्रगुप्त" नाटक में भी भाग्यवाद के उदाहरण मिलते हैं। राज्यसभा में नन्द चाणक्य का अपमान करता है अत: क्रुद्ध होकर चाणक्य कहता है--" नियति सुन्दरी के भवों में बल पड़ने लगा है[3]।" एक अन्य स्थल पर नन्द शकटार को तथा उसके पुत्रों को भूमि के अन्दर अन्धकार कोठरी में डलवा देता है। अनेक वर्षों बाद वह अपने नाखून तथा मृत पुत्रों की हड्डी से सुरंग खोद कर ,हड्डी का ढांचा मात्र बाहर आता है। उसे जीवित देखकर नन्द को आश्चर्य होता है। उस समय शकटार कहता है--" जीवित हूं नन्द! नियति सम्राट से भी प्रबल है[4]।" चन्द्रगुप्त से असन्तुष्ट होकर चाणक्य चले जाते हैं। यह बात ज्ञात होने पर सिंहरण कहता है--" तो नियति कुछ अदृष्ट का सृजन कर रही है! सम्राट मैं गुरुदेव को खोजने जाता हूं[5]।" इसी नाटक में दूसरी

---

१ "जनमेजय का नाग यज्ञ" : जयशंकर प्रसाद, आठवां संस्करण, पृ०७६

२ वही, पृ०६६

३ "चन्द्रगुप्त" : जयशंकर प्रसाद, पृ०६७

४ वही, पृ० १५३

५ वही, पृ० १७२

बार यवन आक्रमण के समय सिल्यूकस युद्ध करने आता है । यह देखकर कात्यायन से, चाणक्य कहता है--' तुम नहीं जानते कात्यायन, इसी सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त की रक्षा की थी, नियति अब उन्हीं दोनों को एक दूसरे के विपक्ष में खड्ग खींचे हुए खड़ा कर रही है ।[1]'

नियति का यह चक्र 'ध्रुवस्वामिनी' के चतुर्दिक भी घूम रहा है । ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता है, परन्तु उसका विवाह रामगुप्त से हो जाता है । रामगुप्त उसे राजमहिषी का पद न देकर उसे बन्दिनी की तरह रखता है । साथ ही चन्द्रगुप्त को भी बन्दी बनाकर रखता है । यह बात ज्ञात होने पर ध्रुवस्वामिनी कहती है --' तब तो अदृष्ट ही कुमार के जीवन का सहायक होगा ।[2]' एक खड्गधारिणी अंगरक्षिका ध्रुवस्वामिनी से यह ज्ञात करना चाहती है कि अब भी ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के लिए स्थान है अथवा नहीं । ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त के लिए चिन्तित देखकर वह कहती है--' कुमार को इतने में ही सन्तोष होगा कि उन्हें कोई विश्वासपूर्वक स्मरण कर लेता है । रही अभ्युदय की बात, सो तो उनको अपने बाहुबल और भाग्य पर ही विश्वास है ।[3]' एक अन्य स्थल पर शकराज रामगुप्त से इस शर्त पर सन्धि करने को तैयार है कि वह ध्रुवस्वामिनी को उसके शिविर में उपहार स्वरूप भेज दे । रामगुप्त को सन्धि की यह शर्त स्वीकार है, परन्तु ध्रुवस्वामिनी इसके लिए तैयार नहीं है । वह रामगुप्त से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करती है । रामगुप्त के न मानने पर वह प्राण देने के लिए कृपाण निकालती है । उसी समय चन्द्रगुप्त आकर उसे रोकता है । तब ध्रुवस्वामिनी कहती है--' .... यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है ? छुटकारा नहीं ? जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही? तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नहीं है ।[4]' अन्त में रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी

---

१ 'चन्द्रगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, पृ०१७४

२ 'ध्रुवस्वामिनी' : जयशंकर प्रसाद, बारहवां संस्करण, पृ०१५

३ वही, पृ०१६

४ वही, पृ० २६

को शकराज के शिविर में भेज देता है, परन्तु चन्द्रगुप्त शकराज को मार कर ध्रुवस्वामिनी की रक्षा करते हुए घायल हो जाता है। इस अवसर पर रामगुप्त भी आता है जिसे ध्रुवस्वामिनी शिविर से बाहर करा देती है। चन्द्रगुप्त भी स्वस्थ होकर जाने लगता है परन्तु मन्दाकिनी के कहने पर कि विवाह से पूर्व ध्रुवस्वामिनी उसकी वाग्दत्ता थी, अत: उसे छोड़कर वह न जाय, चन्द्रगुप्त कहता है-- "विधान की स्याही का एक बूंद गिर कर भाग्य लिपि पर कालिमा चढ़ा देता है। मैं आज यह स्वीकार करने में भी संकुचित हो रहा हूं कि ध्रुवदेवी मेरी है[1]।"

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक "आधीरात" में भी मनुष्य को नियति के हाथ का खिलौना माना गया है। मायावती का पहला प्रेमी ईर्ष्यावश उसके दूसरे प्रेमी की हत्या कर देता है अत: वह दण्ड का भागी होता है और मायावती तीसरे पुरुष प्रकाशचन्द्र से विवाह कर लेती है। प्रकाशचन्द्र उसके पूर्व जीवन के विषय में ज्ञात होने पर उससे पूछता है कि क्या वह अब भी वही है, जो पहले थी ? तब वह कहती है --"हम लोग वही कभी नहीं रहते.... हमारे भीतर परिवर्तन का अज्ञात चक्र निरन्तर चलता रहता है। हम लोग चाहते तो नहीं, लेकिन हम नियति के खिलौने इससे बच नहीं सकते[2]।"

"मुक्ति के रहस्य" में उमाशंकर, आशा देवी के प्रयत्न से अपनी पत्नी की हत्या करके आशा देवी के साथ रहने लगता है। इस बात से उसके बाबा काशीनाथ असंतुष्ट होकर उसे अपनी सम्पत्ति से वंचित कर देते हैं। यह देख कर आशा देवी पूछती है कि उनका पुत्र मनोहर कैसे रहेगा ? तब उमाशंकर कहते हैं--" कैसे रहे ? उसके भाग्य में जो होगा ...... मनुष्य जो लेकर पैदा होता है...... कोई बदल नहीं ... [3]।"

---

१ "ध्रुवस्वामिनी" : जयशंकर प्रसाद, बारहवां संस्करण, पृ०४६ ५७

२ "आधी रात" : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ०८८

३ "मुक्ति का रहस्य": लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ०५५

इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'अशोक' में धर्मनाथ बिम्बसार से मिलकर अशोक को अकेले युद्ध में जाने पर विवश करता है, वह एण्टीपेटर और कुमार भवगुप्त के वध का भी षड्यन्त्र करता है। इसके अतिरिक्त कलिंग युद्ध में कलिंग के राजकुमार का सेनापति बनकर उनसे विश्वासघात करता है। जब उसके इन दुष्कर्मों का ज्ञान अशोक को होता है तो वह दु:खी हो उससे कहता है कि वह ब्राह्मण है, अत: दण्ड का भागी नहीं है, उसे क्षमा किया जाता है, क्योंकि उसे उससे नहीं उसके दुष्कर्मों से घृणा है। उस समय भवगुप्त कहता है-- " मैंने तुमसे कभी कहा था ब्राह्मण.... ईश्वर की सृष्टि पर इतना मनमाना अत्याचार कब तक चल सकता था ? ...... मनुष्य सोचता कुछ और है, और वह ईश्वर करता कुछ और है[1]।" 'वत्सराज' में भी महाराज उदयन नहीं चाहते थे कि श्रमण धर्म पश्चिम में भी फैले, परन्तु उन्हीं का पुत्र कुमार, गौतम का शिष्य हो जाता है, जिससे राजा तथा दोनों रानियां वासवदत्ता और पद्मावती बहुत दु:खी हैं। वासवदत्ता उदयन से कहती है--" होनी नहीं टलती प्रभु! आपका ही पुत्र आज कर्म से भाग कर शाक्य पुत्र का शिष्य बना.... मगध से पश्चिम, जिस श्रमण धर्म को आप नहीं बढ़ने देना चाहते थे वह आप ही के पुत्र को लील गया[2]।"

आपके 'गरुड़ध्वज' नाटक का पुजारी भी कहता है --"
..... भाग्य पर किसी का वश नहीं चलता महादेवी[3]।"

उदयशंकर भट्ट के नाटक 'अम्बा' में भी अम्बा की छोटी बहनें, अम्बिका और अम्बपाली नियति की कठोरता से त्रस्त दिखायी देती हैं। अम्बा भीष्म से प्रतिशोध लेने के लिए शंकर भगवान की आराधना करती है, जिसे देखकर उसकी दोनों बहनें, जिनका विवाह भीष्म के छोटे भाई से हुआ है, व्यग्र हो कहती हैं-- " अब बहन शिव की कठिन तपस्या कर रही है। इस वंश की कुशल नहीं दीखती। हम समाज और होनहार के हाथों की कठपुतली हैं। होगा सो देखेंगी[4]।"

---

१ 'अशोक' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ०१४८

२ 'वत्सराज' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ०१०६, तृतीय संस्करण

३ 'गरुड़ध्वज' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, संस्करण १९५४, पृ०१२१

४ - अम्बा : उदय शंकर भट्ट, प्रथम संस्करण, पृ. १०१

भाग्यवाद का गहरा प्रभाव सेठ गोविन्ददास जी के नाटकों में भी है। आपके नाटक "सेवापथ" में श्री निवासदास, शक्तिपाल की पत्नी मार्गरेट के प्रेम में पड़कर अपनी सारी सम्पत्ति तथा मान गंवा बैठती है। कमला जब इस विषय में उसकी पत्नी सरला से बात करती है तब सरला कहती है-- " क्या किया जा सकता है, जो कुछ भाग्य में होगा, वह होकर रहेगा। ऐसे ही अवसरों पर तो मनुष्य को भाग्य का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।[1]"

आपके नाटक "हर्ष" में भी पति की मृत्यु के उपरान्त राज्यश्री भिक्षुणी बनना चाहती है,परन्तु उसका भाई हर्ष, शत्रुओं को पराजित कर राज्यश्री का राज्य वापस ले लेता है और चाहता है कि उसकी बहन राज्यश्री साम्राज्ञी बने। उस समय राज्यश्री कहती है--" मैं क्या कहूं कुछ कहा नहीं जाता। न जाने भाग्य मुझे कहां ले जा रहा है।[2]"

"कर्ण" में भी यही बात कही गई है। युधिष्ठिर पांडवों के वनवास का कारण स्वयं को मान कर दु:खी होते हैं। उस समय अर्जुन कहते हैं --" सुख-दु:ख का कारण भाग्य है, महाराज और कोई नहीं[3]।" इसी नाटक में महाभारत युद्ध में भीष्म के घायल हो जाने पर कर्ण सेनापतित्व ग्रहण करते हैं। इसके पूर्व वे भीष्म से आशीर्वाद लेने जाते हैं। भीष्म उनसे कहते हैं कि पांडवों के प्रति घृणा ने उनके सभी सच्चे कर्मों का लोप कर दिया है। कर्ण के पूछने पर कि इसमें उसका क्या दोष है? भीष्म कहते हैं --" मानता हूं, तुम्हारा दोष नहीं। ऐसे ही अवसरों पर तो मनुष्य को यह कह कर या मानकर संतोष करना पड़ता है कि जो कुछ होता है भाग्य से होता है।.... जिस एक व्यक्ति में अर्जुन और कृष्ण दोनों के गुण एक साथ हों,उससे महान और कौन हो सकता है? किन्तु ऐसा व्यक्ति किस ओर बढ़ा व क्या कर रहा है यह भाग्य चक्र नहीं तो और क्या है?[4]"

---

१ "सेवापथ" : सेठ गोविन्ददास ,संस्करण १९४३,पृ०७७

२ "हर्ष" : सेठ गोविन्ददास, पृ०६४

३ "कर्ण" : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण,पृ०४९

४ वही, पृ०१२५

सेठ गोविन्ददास के ही एक अन्य नाटक "कर्त्तव्य" (पूर्वार्द्ध) में भी भाग्य को बलवान बताया गया है। रामवनगमन का समाचार सुनकर एक नागरिक कहता है-- "दैवी माया सचमुच बड़ी अद्भुत है[1]।" वन में जब भरत के साथ सभी माताएं राम से मिलने जाती हैं, उस समय राम सबसे पहले कैकेयी का चरण स्पर्श करते हैं। लक्ष्मण, राम से इसका कारण पूछते हैं। तब राम कहते हैं-- " लक्ष्मण, अनेक बार व तुम इस बात को कह चुके हो और मैं तुम्हें समझा भी चुका हूं, पर पूज्यपाद कैकेयी के प्रति क्रोध तुम्हारे हृदय से नहीं जा रहा है। क्या कहूं? वत्स, इसमें उनका दोष नहीं था। दैवी प्रेरणाओं से अनेक बार मनुष्य कुछ का कुछ कर डालते हैं[2]।" सीताहरण के लिए लक्ष्मण अपने-आपको उत्तरदायी समझ कर दुःखी होते हैं। उन्हें समझाते हुए राम कहते हैं --" नहीं, नहीं लक्ष्मण, तुम ऐसा क्यों समझ रहे हो? मैं तुम्हें दोष नहीं दे रहा हूं, यह सब मेरे भाग्य का दोष है[3]।" "कर्त्तव्य" (उत्तरार्द्ध) में भी कृष्ण अपने वियोग में दुःखी गोपियों को समझाते हुए कहते हैं-" मैं देखता हूं कि जीवन में कुछ ऐसी घटनायें होती हैं, जो निसर्ग से प्रेरित जान पड़ती हैं, मनुष्य यदि चाहे कि तो भी उन्हें नहीं रोक सकता, कभी-कभी वह रोकने का प्रयत्न करता है और उल्टा दुःख पाता है एवं वह कार्य भी नहीं रुकता[4]।"

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों के पात्र भी नियति से पराजित हैं। "आहुति" नाटक में लेखक राजा हम्मीर से कहलाता है-- " निश्चय ही ..... भगवान शंकर को जो स्वीकार था वही हुआ। नियति दुर्दान्त के आगे मानव का पराक्रम पराजित हुआ[5]।" "मित्र" नाटक में भी लेखक महबूब के द्वारा कहलाता है-- " मैं तो चाहता हूं कि युद्ध की ज्वाला शान्त हो, परन्तु यह रहमान मेरे प्रयत्न को विफल किये बिना न रहेगा। क्या किया जाय, मनुष्य परिस्थितियों का दास है[6]।"

---

१ "कर्त्तव्य" (पूर्वार्द्ध) : गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण, पृ०१५
२ वही, पृ०२४
३ वही, पृ०२८
४ वही (उत्तरार्द्ध), पृ० १०१
५ "आहुति" : हरिकृष्ण प्रेमी, संस्करण, १६४०, पृ०८६

भाग्य पर विश्वास करते हुए भी भारतीय संस्कृति में अकर्मण्यता का कहीं लेश भी नहीं है । प्रसाद के नाटक 'अजातशत्रु' में बिम्बसार के राज्य त्याग देने पर जीवक उनके पास आता है और कहता है--" अदृष्ट का आदेश जानकर मैं भी आपका अनुगामी हो गया हूं[१]।" यह सुनकर बिम्बसार कहते हैं कि क्या अदृष्ट सोच-कर उसे अकर्मण्य हो जाना चाहिए ? तब जीवक कहता है--" नहीं महाराज, अदृष्ट तो मेरा सहारा है । नियति की डोरी पकड़ कर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद सकता हूं। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना होगा वह तो होगा ही, फिर कायर क्यों बनूं-- कर्म से क्यों विरक्त रहूं ....[२] ।"

अनासक्त कर्मयोग

भारतीय संस्कृति में कर्म करने का तो विधान है परन्तु निष्काम कर्म का । श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है--

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।। २।४७।

अर्थात् कर्म करने मात्र में अधिकार होना चाहिए, उसके फल में नहीं । तुम कर्मों में फल की कामना करने वाले न हो और न ही अकर्मण्य रहने में तुम्हारी प्रीति हो । तात्पर्य यह है कि फल की आशा से रहित होकर किये गये कर्म को निष्काम कर्म कहते हैं । हिन्दी-नाटकों में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं ।

'स्कन्दगुप्त' में कमला स्कन्दगुप्त से कहती है--" .... समझ लो जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है[३]।" इसी प्रकार 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में बताया गया है कि किसी भी कार्य को ईश्वर का कार्य समझ कर करने से मनुष्य बन्धन में नहीं पड़ता है । मनसा मंत्र बल से सरमा को दिखाती है कि किस प्रकार नागों का नाश हुआ था । सरमा देखती है कि कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि वह खांडववन में आग लगा दे और भागते नागों को

---

१ 'अजातशत्रु' : जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण, पृ०४५

२ वही, पृ०४५

३ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण, पृ० १३०

अग्नि में समर्पित कर दे। अर्जुन पूछते हैं कि क्या वे इतने जीवों की हत्या की आज्ञा दे रहे हैं? तब कृष्ण कहते हैं --"बलिहारी इस बुद्धि की ..... तुम इसे धर्म और भगवान का कार्य समझ कर करो, तुम मुक्त हो[1]।"

गीता के इस उपदेश का प्रभाव हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में भी मिलता है। "दारा" कहता है --" ..... मैंने गीता को पढ़ा है, उसका फारसी में अनुवाद भी किया है। मैं कर्म के तत्व को मानता हूं। फल की मुझे चिन्ता नहीं है[2]।" "विषपान" में भी संग्राम सिंह कहते हैं--"हमें केवल कर्म करना है। फल भगवान के हाथ है[3]।"

सेठ गोविन्ददास जी ने भी फल की इच्छा छोड़कर कर्तव्य-पालन पर बल दिया है। आपके नाटक "कर्तव्य" (पूर्वार्द्ध) में लक्ष्मण की मृत्यु के पश्चात् उर्मिला को सती होते देख कर राम अत्यधिक दु:खी हो जाते हैं। तब वशिष्ठ मुनि कहते हैं-- "कर्तव्य-पालन से स्वयं को सुख की प्राप्ति होती है, राम, अवश्य होती है और वह सुख अनन्त होता है, पर जब तक कर्म के सुफल और कुफल का प्रभाव हृदय पर पड़ता है तब तक वह सुख नहीं मिल सकता। निष्काम कर्म कह देना बहुत सरल है, पर इस स्थिति का अनुभव एक जन्म में नहीं, अनेक जन्म के पश्चात् विरला ही मनुष्य कर सकता है, यही जीवन-मुक्त की अवस्था है, जहां द्वन्द्व नहीं रह जाता, जहां मनुष्य स्वयं और सकल विश्व में भिन्नता का नहीं, किन्तु समानता का अनुभव करता है। जीवन रहते कर्म करना ही पड़ता है, अत: इस जीवन-मुक्त अवस्था में ऐसे व्यक्ति से विश्व के कल्याणकारी कृत्य आप से आप होते रहते हैं और इनको करने में ही उसे सुख मिल जाता है[4]।"

आपके दूसरे नाटक "कर्तव्य" (उत्तरार्द्ध) में कृष्ण मथुरा जा रहे हैं जिससे राधा अत्यन्त दु:खी हैं। उन्हें समझाते हुए कृष्ण कहते हैं--" सुख से

---

१ "जनमेजय का नाग यज्ञ" : जयशंकर प्रसाद, आठवां संस्करण, पृ०१४
२ "स्वप्नभंग" : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण, पृ०११७-११८
३ "विषपान" : हरिकृष्ण प्रेमी, चतुर्थ संस्करण, पृ०६८
४ "कर्तव्य" (पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण, पृ०६४

मुझे सुधि है किसी वस्तु में भी मुझे इतनी आसक्ति नहीं जान पड़ती कि उसे छोड़ने में मुझे क्लेश हो[1]।" यह सुनकर राधा कहती है कि वह निष्ठुर हैं इसी कारण उन्हें किसी से मोह नहीं है तब कृष्ण पुन: कहते हैं-- "यदि आसक्ति न रखने के कारण मनुष्य हृदयहीन कहा जा सकता है, तो तुम मुझे ऐसा कह सकती हो, पर मैं तो अपने को ऐसा नहीं मानता राधा। क्या मैं हर एक को सुख पहुंचाने का सदा उद्योग नहीं करता ? मेरी अवस्था का कोई बालक ऐसा करता है? परन्तु हां, इन सब कृत्यों के करने ही में मुझे सुख मिल जाता है, इनमें मेरी आसक्ति नहीं है, फल की ओर मेरी दृष्टि ही नहीं जाती[2]।" सेठ गोविन्ददास के ही अन्य नाटक "कर्ण" में कर्ण सेनापतित्व ग्रहण करने से पूर्व भीष्म से आशीर्वाद लेने जाते हैं। उस समय भीष्म कहते हैं-- "यदि यही बात है तो मैं तुम्हें युद्ध की अनुमति देता हूं, परन्तु युद्ध करना निरहंकार तथा निष्काम होकर, कर्तव्य तथा धर्मपालन की दृष्टि से, नहीं तो उसमें सुख भी न मिलेगा[3]।"

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक "नारद की वीणा" में भी अनासक्त कर्मयोग का वर्णन है। नारायण विजयकीर्ति से कहते हैं-- "तुम तो अभी से पराजित हो गये। तुम्हें यह क्रोध क्यों आ गया ? राजर्षि के साथ यदि युद्ध ही करना पड़े तो भी क्रोध का अवसर यहां कहां है। कर्म के मूल में आसक्ति नहीं उसका शुद्ध रूप तो अनासक्त है[4]।"

कर्मफल तथा पुनर्जन्म

अनासक्त कर्मयोग को भारतीय संस्कृति में इसलिए अधिक महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि यह विश्वास है कि मनुष्यों के कर्म कभी नष्ट नहीं होते। उनके किए कर्मों के अनुसार ही उन्हें सुख तथा दु:ख प्राप्त होते हैं

---

१ "कर्तव्य" (उत्तरार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण, पृ०१०१

२ वही, पृ०१०१

३ "कर्ण" : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण, पृ०१२६

४ "नारद की वीणा" : लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०८७

और उसी के अनुरूप अगला जन्म भी मिलता है। कर्मफल तथा पुनर्जन्म की मान्यता हमारी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। इसके अनेक उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी उपलब्ध होते हैं।

प्रसादजी ने भी अपने नाटकों में बताया है कि कर्म कभी नष्ट नहीं होते और न कर्मफल से त्राण मिल सकता है। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में ऋषि राजा से कहते हैं-- '..... जनमेजय, मैं तुमको क्षमा करता हूं। किन्तु कर्मफल तो स्वयं समीप आते हैं, उनसे भाग कर कोई बच नहीं सकता।[1]' इसी प्रकार 'विशाख' में प्रेमानन्द कहते हैं--' अपराध। अपराध तो नरदेव। एक भी क्षमा नहीं किये जातेबल्के और उसी अवस्था में अपराधों से अच्छा फल होता है।[2]'

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'रक्षा बन्धन' में युद्ध में विक्रम की मां जवाहर बाई भी भाग लेती है और वीर गति प्राप्त करती है। यह समाचार सुनकर विक्रम कहता है--' धन्य हो मां। कौन सा पुण्य किया था जो तुम सी मां पाई, और तुमने कौन सा पाप किया था जो मुझ-सा पुत्र पाया।[3]'

कर्मफल तथा पुनर्जन्म का यह चक्र इस युग के अन्य नाटकों के चतुर्दिक भी घूमता रहता है, जिससे सभी त्रस्त हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'सिन्दूर की होली' में मुरारीलाल अपने मित्र तथा एक अन्य युवक रजनीकान्त की हत्या करा देते हैं। उनके मित्र का पुत्र मनोजशंकर अपने पिता की हत्या के विषय में जानना चाहता है और उनकी पुत्री घायल रजनीकान्त के हाथ से अपनी मांग में सिन्दूर भरवा कर उसकी मृत्यु के पश्चात् वैधव्यपूर्ण जीवन व्यतीत करती है। इन बातों से उद्विग्न होकर मुरारीलाल कहते हैं

---

१ 'जनमेजय का नाग यज्ञ' : जयशंकर प्रसाद, आठवां संस्करण, पृ०३९-४०
२ 'विशाख' : जयशंकर प्रसाद, द्वितीय संस्करण, पृ०७६
३ 'रक्षाबन्धन' : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण, पृ०१२०

कि वे सब मिल कर उनको उनके कर्मों का फल देना चाहते हैं। यह सुनकर मनोजशंकर कहता है --" हम लोगों ने इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। संचित कर्म जो चाहते हैं करा डालते हैं।"[1]

एक अन्य नाटक "मुक्ति का रहस्य" में लेखक मुंशी के द्वारा कहलाता है--"[2] दाग क्या है बाबू जी? जो जैसा करेगा पायेगा। आपका क्या बिगड़ेगा?" इसी नाटक के अन्य स्थल पर काशीनाथ कहते हैं--"देखिये साहब। मैं नसीब नहीं मानता। जो जैसा काम करता है फल पाता है।"[3] "राजयोग" में गजराज तथा रघुवंश दोनों ही अपने दु:खों का कारण अपने कर्मों को मानते हैं। गजराज अपने पूर्व कर्मों के लिए पश्चाताप करते हुए कहता है कि उसके पापों के कारण ही चंपा, शत्रुसूदन, रघुवंश और नरेन्द्र सभी दु:खी हैं। वह मरणासन्न अवस्था में प्रलाप करता है--" अभी नहीं। अभी नहीं। नहीं...... नहीं। बतला नहीं सकता। नहीं छोड़ दीजिए, छोड़ दीजिए, चौबीस बरस के बाद पाप का फल मिलता है ..... पिंड नहीं छूटता।"[4] "राक्षस का मन्दिर" में भी कहा गया है कि जो जैसा करता है वैसा फल पाता है। मुनीश्वर ने एक "मातृमन्दिर" की स्थापना की जिसमें अनेक अनैतिक कार्य होते हैं,अत: जनता उससे असन्तुष्ट है। इस विषय में एक नागरिक कहता है--"...... यह दुनिया को धोखा देना है। और फिर जो जैसा करता है पाता है।"[5] "आधीरात" में भी इसी बात की पुष्टि की गई है। रायाचरण माया से कहता है-- "..... और तुम ..... तुम अपना फल भोगने के लिए अपने प्रायश्चित के लिए तैयार रहो। ज्ञान की बातें कर्मफल नहीं रोक सकती।"[6]

---

१ "सिन्दूर की होली" : लक्ष्मीनारायण मिश्र,प्रथम संस्करण,पृ०८६

२ "मुक्ति का रहस्य" : लक्ष्मीनारायण मिश्र,पृ०४२

३ वही, पृ०७७

४ "राजयोग" : लक्ष्मीनारायण मिश्र,प्रथम संस्करण,पृ०५६

५ "राक्षस का मंदिर" : लक्ष्मीनारायण मिश्र,प्रथम संस्करण,पृ०१०७

६ "आधीरात" : लक्ष्मीनारायण मिश्र,पृ०६५

इसी प्रकार 'नारद की वीणा' नाटक में मेनका नर से जो मेनका के आकर्षण से डर कर भाग गया था, कहती है कि सुमित्र आपका योग्य शिष्य है, क्योंकि वह भी चन्द्रभागा के आकर्षण से डर कर भाग गया है। परन्तु नर मेनका से इस विषय में बात करने से मना करता है। तब वह कहती है-- "नहीं तो आप यहाँ से भी भाग जायेंगे .... यही न ? आपसे अब तक जो कुछ भी हो चुका है.... वह कर्म है और कर्म का बन्धन उसके फल के भोग से ही छूटता भी है।[1]"

'वत्सराज' में भी गौतम के गृहत्याग की सूचना पाकर पद्मावती रोने लगती है। उस समय उदयन कहते हैं-- " ..... संचित कर्मों के अनुसार सुख और दुःख जीव के साथ ही जन्म लेते हैं.... इनको भोगना होता है ... भाग कर कोई कहाँ जायेगा इनसे।[2]" युवराज भी बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेते हैं जिससे राजा उदयन तथा दोनों रानी पद्मावती और वासवदत्ता दुःखी होती हैं। पद्मावती दुःख से मूर्छित हो जाती है। उसे प्रबोध देते हुए उदयन कहते हैं-- " इसका खेद न करो.... जिसे प्राण का रस पिला कर तुमने बड़ा किया .... वही तुम्हें छोड़कर गया.... दुःख की बात दूसरी क्या होगी ? पर जिस पर वश नहीं.... होनी की राह कब रुकी है ? किस जन्म का शत्रु बनकर वह तुम्हारे घर आया और अब धोखा दे गया। किसी जन्म में उसके साथ हमने कोई ऐसा कर्म किया था[3]।" अन्त में राजा दोनों रानियों के साथ सन्यास लेने को प्रस्तुत हो जाते हैं। युवराज के रोकने पर वे कहते हैं--" .... कर्म कोई भी हो उसका फल भोगना ही पड़ता है। तुम्हारे इस कर्म का फल अब यही है कि हम संसार से विराग लें।[4]"

सेठ गोविन्ददास के 'कुलीनता' नाटक में विन्ध्यबाला अपने पति द्वारा युद्ध का समाचार जानकर दुःखी होती है। वह युद्ध में पराजय का

---

१ 'नारद की वीणा' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०८४

२ 'वत्सराज' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, तृतीय संस्करण, पृ०६६

३ वही, पृ०१२२

४ वही, पृ०१४६

कारण उन लोगों द्वारा किये गये पाप कर्म को मानती है। वह कहती है-- "इसका फल मिलेगा ही। जो कुछ किया जाता है उसका फल अवश्यमेव मिलता है[1]।" 'विश्वप्रेम' नाटक में भी शूसैन कहता है -- "..... यदि तुम इस जन्म में उन्हें सहायता दोगे और तुम्हारी सहायता से उनका कल्याण भी हो गया तो फिर अपने पूर्वकृत पापों का फल भोगने उन्हें उसी प्रकार का दूसरा कष्टमय जन्म ग्रहण करना पड़ेगा[2]।"

आपके एक अन्य नाटक 'कर्तव्य'(पूर्वार्द्ध) में राम द्वारा सीता के त्याग का कारण सीता अपने पूर्व जन्म के संचित कर्म को मानती हैं। वन में छोड़कर लौटते हुए लक्ष्मण द्वारा सीता राम को एक पत्र भेजती हैं,जिसमें लिखती हैं -- " आपको मैं मनसा,वाचा और कर्मणा किसी प्रकार भी दोषी नहीं ठहराती। यह मेरे भाग्य का दोष है या मेरे पूर्व संचित पापों का फल है कि मुझे आपके वियोग का दु:ख मिल रहा है, जिससे बड़ा संसार में मेरे लिए और कोई दु:ख नहीं हो सकता[3]।"

इसी प्रकार उदयशंकर भट्ट के नाटक 'अम्बा' में भीष्म अपने भाई विचित्रवीर्य की अल्पायु में मृत्यु होते देखकर कहते हैं--" अरे, यह क्या, राजा की यह दशा। मेरे पापों का फल। मेरे कुक कर्मों का परिणाम.... [4]।"

स्वर्ग नर्क

भारतीय संस्कृति के अनुसार कर्मों का फल अवश्य मिलता है और उन्हीं कर्मों के अनुरूप मृत्यु के बाद स्वर्ग के सुख तथा नर्क के कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

गोविन्दवल्लभ पन्त के नाटक 'राजमुकुट' में पन्ना यह ज्ञात होने पर कि बनवीर उदय को मारने आ रहा है, उदय के स्थान पर अपने पुत्र चन्दन

---

१ 'कुलीनता' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण, पृ०८३
२ 'विश्वप्रेम'(गोविन्ददास ग्रंथावली) : गोविन्ददास,पृ०६६
३ 'कर्तव्य'(पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण,पृ०६६
४ 'अम्बा' : उदयशंकर भट्ट, पृ०६२

चन्दन को लिख कर कहती है-- " चलो तात ! स्वामी के लिए प्राण देने में जो स्वर्ग मिलता है, तुम्हारा आसन वहां ऊंचा हो, और पुत्र की हत्या करने के लिए जो रौरव हो मेरा वहीं पतन हो[1]।" 'अंगूर की बेटी' नाटक में मोहनदास को जब घोर पश्चात्ताप होता है तो वह कहता है--"अभागे मोहनदास! चाण्डाल ! इस लोक में तेरा यह पाप छिप जाय, परमेश्वर के सामने तू जरूर ही दण्डित होकर घोर नरक में वास करेगा[2]।"

सेठ गोविन्ददास के नाटक 'प्रकाश' में अजय सिंह अपने कर्मों पर पश्चात्ताप करते हुए देखे जा सकते हैं। उन्होंने अपनी पत्नी इन्दु पर व्यभिचार का झूठा आरोप लगा कर त्याग दिया। बीस साल बाद प्रकाश को देखकर उन्हें पत्नी और पुत्र की याद आती है। वे अपनी दूसरी पत्नी कल्याणी से कहते हैं-- "कल्याणी, मैं कौन से नरक में पहुंगा ? नरक में भी कदाचित् मेरे लिए स्थान न हो[3]।" आपके ही दूसरे नाटक 'कुलीनता' में व देवदत्त देशद्रोही हो जाता है। उसकी पत्नी विंध्यबाला उसे इस दुष्कर्म से रोकने का प्रयत्न करती है। उसके न मानने पर वह कहती है-- "..... अच्छा, नाथ, तो फिर पत्नी पति के पाप का प्रायश्चित करेगी। महाकौशल को विदेशियों के हाथ बेचने वालों का पक्ष लेकर आपने जो युद्ध किया है,उसका प्रायश्चित मैं करूंगी। आपकी अर्धांगिनी के नाते इस मर्त्यलोक में मैं आपका कलंक धोऊंगी और परलोक में आपको नरक में न गिरने देकर स्वर्ग में खींच ले जाऊंगी[4]।"

मोक्ष

जीव को उसके कर्मों के फल स्वरूप सुख दु:ख, स्वर्ग, नर्क की प्राप्ति होती है और उसी के अनुरूप उसे पुन: जन्म ग्रहण करना होता है। इस प्रकार आवागमन का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस चक्र से मुक्त होकर ईश्वर में लीन होना ही मोक्ष है। भारतीय संस्कृति के अनुसार जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति के लिए सांसारिक मोह-माया और भौतिक सुखों से मन को उपराम करना आवश्यक है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में

---

१ 'राजमुकुट' : गोविन्दवल्लभ पन्त, प्रथम संस्करण,पृ०५५
२ 'अंगूर की बेटी' : गोविन्दवल्लभ पन्त, तृतीय संस्करण,पृ०५३
३ 'प्रकाश' : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण,पृ०१८
४ 'कुलीनता' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण,पृ०८५

भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को अधिक महत्व दिया गया है। यह आध्यात्मिकता हिन्दी नाटकों में भी परिलक्षित होती है। प्रसाद जी के 'विशाख' में गुरु प्रेमानन्द कहते हैं -- '.... जब तक सुख भोग कर चित्त उससे नहीं उपराम होता, मनुष्य पूर्ण वैराग्य नहीं पाता है।[1]' 'अजातशत्रु' नाटक में भी वासवी कहती है--'.... जीवन की सारी क्रियाओं का अन्त केवल अनन्त विश्राम में है। इस बाह्य हलचल का उद्देश्य आन्तरिक शान्ति है, फिर जब उसके लिए व्याकुल पिपासा जाग उठे तब उसमें विलम्ब क्यों करें?[2]'

धर्म पर विश्वास

मोक्ष प्राप्ति के लिए धर्म का आचरण आवश्यक है, क्योंकि भारतीय संस्कृति में धर्म को मोक्ष का मार्ग बताया गया है। धर्म सदा सबका हित करने वाला होता है। इसीलिए हिन्दू धर्म में धर्म पर अटूट विश्वास परिलक्षित होता है। हिन्दी-नाटक भी इस विश्वास से अछूते नहीं हैं।

सेठ गोविन्ददास के नाटक 'कर्ण' में कृष्ण दुर्योधन को समझाते हुए कहते हैं--' दुर्योधन..... जो व्यक्ति अपने सारे कार्य धर्म, अर्थ और काम की ओर दृष्टि रखकर ही करते हैं। इन तीनों में से पृथक् वस्तु की प्राप्ति की इच्छा हो तो उत्तम, धर्म का पालन करते हैं, मध्यम, अर्थ को प्राप्त और निकृष्ट, काम की आराधना। जो धर्म को छोड़कर अर्थ और काम को चाहते हैं वे विनष्ट हो जाते हैं। धर्म के अनुसरण से ही अर्थ और काम प्राप्त होते हैं। पंडितों ने धर्म को ही त्रिवर्ग की प्राप्ति का उपाय माना है।[3]'

'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) में भी धर्म पर अटूट विश्वास देखने को मिलता है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम की कातरता देखकर विभीषण कहते हैं-- ' नहीं महाराज, यह असम्भव है। धर्म, न्याय और सत्य का कभी यह फल नहीं हो सकता।[4]' रक्षोराज की मृत्यु पर एक वानर कहता है--' अन्त में रक्षोराज

---

१ 'विशाख' : जयशंकर प्रसाद, द्वितीय संस्करण, पृ०२६
२ 'अजातशत्रु' : जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण, पृ०५५
३ 'कर्ण' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण, पृ०१०२
४ 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण, पृ०४७

का भी वध हुआ । देखा, अधर्म का क्या फल निकला[1]।" यह सुनकर एक भालू कहता है--" हां, बन्धु, सच है, अधर्म सदा वंश भर को डुबो कर रहता है[2]।" धर्म की रक्षा हेतु ही राम,सीता को परगृह में रहने के कारण ग्रहण करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं । वे कहते हैं--" बन्धुओं जानकी का रावण से उद्धार करना मेरा कर्तव्य था, यदि मैं यह न करता तो कायर कहलाता,सूर्यवंश के निर्मल आकाश में मैं धूमकेतु के तुल्य हो जाता, अधर्म की धर्म पर जय होती और अन्याय की न्याय पर । मैंने आप लोगों की सहायता से अपने कर्तव्य का पालन कर लिया, सूर्यवंश की प्रतिष्ठा रह गई, पर,पर-गृह में रही हुई स्त्री का, चाहे वह मुझे प्राणों से प्रिय क्यों न हो, ग्रहण करना मेरे लिए संभव नहीं है, यह धर्म की मर्यादा और नीति की सत्ता का उल्लंघन होगा[3]।" पुन: राम सीता से कहते हैं--" साथ ही धर्म और नीति की मर्यादा की रक्षा हेतु तुम्हारे और मेरे इस शरीर के रहते भेंट भी अब सम्भव नहीं[4]।"

उदयशंकर भट्ट के नाटक "मुक्तिदूत" में भी सिद्धार्थ कहते हैं --" ..... धर्म ही सत्य है, धर्म ही पवित्रनिधि है । धर्म पर ही जगत् प्रतिष्ठित है । और एकमात्र धर्म से ही मनुष्य शान्ति, पाप और दु:खों से मुक्ति पा सकता है[5]।" एक अन्य स्थल पर बुद्ध कहते हैं --" ..... धर्म ही जीवन है। धर्म ही ईश्वर है। संसार के कल्याण में धर्म का कल्याण है[6]।"

धार्मिक समन्वय

भारतीय संस्कृति में धर्म पर अटूट विश्वास तो है, परन्तु धर्म की संकीर्णता नहीं है । यहां सभी धर्म समान हैं । सब का समान रूप से आदर किया जाता है । इसी कारण यहां अनेक धर्म और अनेक सम्प्रदाय मिलते हैं । भारतीय संस्कृति ने इन सभी धर्मों के गुणों को ग्रहण किया है ।

---

१ "कर्तव्य"(पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास,द्वितीय संस्करण,पृ०४६
२ वही, पृ०४६
३ वही, पृ० ५१
४ वही, पृ०५२
५ "मुक्तिदूत" : उदयशंकर भट्ट, द्वितीय संस्करण,पृ०७५
६ वही, पृ०८१

प्रसाद जी के नाटकों की मूल प्रेरणा भारतीय संस्कृति है। अत: उन्होंने अपने नाटकों के लिए उस युग से कथानक चुने जो भारत का स्वर्ण युग था। उस युग में ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार था। आपने दोनों धर्मों के सार को ग्रहण किया और उनका समन्वय करने का प्रयत्न किया, परन्तु ब्राह्मण धर्म को ही श्रेष्ठ बताया। इसी कारण 'विशाख' तथा 'राज्यश्री' में बौद्ध धर्म का कुत्सित रूप देखने को मिलता है। 'विशाख' का स्थविर सत्यशील कामुक व्यक्ति है, एक अन्य बौद्ध भिक्षु तरला का धन तथा आभूषण, लेकर भाग जाता है। इतना ही नहीं, धन के लोभ में तीसरा भिक्षु चैत्य की आड़ से चन्द्रलेखा का सतीत्व राजा नरदेव के हाथ बेचने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार 'राज्यश्री' का शान्तिभिक्षु भी चंचल प्रकृति का असंयमी पुरुष है। विकटघोष लोभ वश राज्यवर्धन की हत्या भी करता है। जो बौद्ध जीवमात्र की रक्षा का उपदेश देते हैं उनके ही हाथों नरहत्या, उनकी पतन की ही द्योतिका है। आपके नाटकों में बौद्ध धर्म का पतन ही नहीं, उसका उन्नत रूप भी देखने को मिलता है। 'अजातशत्रु' में मल्लिका कहती है-- " तथागत तुम धन्य हो। तुम्हारे उपदेशों से हृदय निर्मल हो जाता है। तुमने संसार को दु:खमय बताया और उससे छूटने का उपाय भी सिखाया, कीट से लेकर इन्द्र तक की समता घोषित की, अपवित्रों को अपनाया, दु:खियों को गले लगाया, अपनी दिव्यकरुणा की वर्षा से विश्व को आप्लावित किया--अमिताभ तुम्हारी जय हो[1]।"

प्रसाद जी ने धार्मिक समन्वय तथा धर्म में समयानुकूल परिवर्तन की आवश्यकता को अनुभव किया और यह सन्देश अपने नाटकों द्वारा प्रसारित भी किया। आपके 'स्कन्दगुप्त' नाटक में एक स्थान पर धातुसेन यज्ञबलि के लिए विवाद करते हुए बौद्धों तथा ब्राह्मणों को देखकर, ब्राह्मणों से कहता है-- "आप लोग उन्हीं ब्राह्मणों की सन्तान हैं, जिन्होंने अनेक यज्ञों को एक बार ही बन्द कर दिया था। उनका धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तन को स्वीकार करता है, क्योंकि मानव-बुद्धि ज्ञान का--जो वेदों के द्वारा हमें मिलता है-- प्रस्तार

---

१ 'अजातशत्रु' : जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण, पृ०१००

करेंगी, उसके विकास के साथ बढ़ेगी, और यही धर्म की श्रेष्ठता है।[1] 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में भी आर्यों और अनार्यों का समन्वय दिखाया गया है।

धार्मिक समन्वय की भावना हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में भी मिलती है। आपने विशेषरूप से हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के समन्वय का प्रयत्न किया। आपके नाटक 'रक्षाबन्धन' में बहादुरशाह का भाई चांद खां अपने भाई के भय से भाग कर महाराणा विक्रम के पास आता है, जिससे क्रुद्ध होकर बहादुरशाह महाराणा को युद्ध की धमकी देता है। यह जानकर चांदखां कहता है कि एक मुसलमान के लिए लाखों हिन्दुओं का रक्त बहाना उचित नहीं। यह सुनकर महाराणा कहते हैं--"वास्तविक अर्थों में धर्म से धर्म की लड़ाई किसी युग में नहीं हुई। हमेशा एक स्वार्थ से दूसरा स्वार्थ लड़ा है। मैं और आप जब दोस्त बनकर रह सकते हैं, तो क्या सबब है कि मेरे और आपके धर्म यहां भाई-भाई की तरह गले में हाथ डाल कर न रह सकें?[2]" बहादुरशाह की विशाल सेना के समक्ष मेवाड़ की सेना अत्यन्त अल्प है अत: रानी कर्मवती हुमायूं के पास राखी भेजती है और उससे सहायता का अनुरोध करती है। हुमायूं कर्मवती की राखी स्वीकार कर मेवाड़ की रक्षा का निश्चय कर कहता है--" मैं दुनिया को बता देना चाहता हूं कि हिन्दुओं के रस्मोरिवाज मुसलमानों के लिए भी उतने ही प्यारे हैं, उतने ही पाक हैं[3]।" उसका निश्चय सुनकर तातार खां कहता है कि मुसलमानों के विरुद्ध एक शत्रु जाति की सहायता करना उचित नहीं है। तब हुमायूं कहता है--" तुम भूलते हो ..... हिन्दुओं के अवतारों ने और तुम्हारे पैगम्बर ने एक ही रास्ता दिखलाया है। कुरान शरीफ में साफ लिखा है कि --" हमने हर गिरोह के लिए इबादत का एक खास रास्ता मुकर्रर कर दिया है जिस पर वह अमल करता है, इसलिए उसपर झगड़ा न करो"। तुम्हें साफ बताया गया है कि " नेकी यह नहीं है कि इबादत के वक्त तुमने मुंह मशरिक की तरफ किया या मग़रिब की तरफ या इसी तरह की कोई ज़ाहिरा रस्म-रिवाज़ कर ली, नेकी की राह तो उसकी राह है, जो खुदा पर, आख़रत के दिन पर, सारी खुदादाद किताबों पर

---

१ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण, पृ०१२४

२ 'रक्षाबन्धन' : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण, पृ०२०

३ वही, पृ०५३

और सारे पैगम्बरों पर ईमान लाता है, अपना प्यारा धन, रिश्तेदारों, अपाहिजों, गरीबों, ज़ारत करने वालों, मांगने वालों की राह में और गुलामों को आज़ाद करने में खर्च करता है, जो बात का पक्का है, डर और घबराहट तंगी और मुसीबत के वक्त धीरज रखता है। ऐसे ही लोग हैं जो बुराइयों से बचने वाले इंसान हैं।" यही बात हिन्दुओं की मज़हबी किताबें कहती हैं। फिर मज़हब दोनों की दोस्ती के बीच में दीवार कैसे बन सकता है।[1]" इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर विक्रम कहता है--" हिन्दू और मुसलमान, ये दोनों ही नाम धोखा है, हमें अलग करने वाली दीवारें हैं। हम सब हिन्दुस्तानी हैं।[2]"

इसी प्रकार हरिकृष्ण प्रेमी के एक अन्य नाटक "स्वप्नभंग" में खलीलुल्लाह शाहजहां से कहता है कि वह लोग तो नाम के शासक रह गये हैं। वास्तविकता तो यह है कि वह लोग हिन्दुओं के आश्रित हैं, पराधीन हैं। तब शाहजहां कहता है--"पराधीन ! प्रेम से मनुष्य को जीत लेना क्या पराधीनता है। तलवार से साम्राज्य जीते जाते हैं, लेकिन प्रेम से स्थिर रखे जाते हैं। हिन्दुस्तान के बादशाह को हिन्दू बनकर रहना होगा न कि मुसलमान। उसे केवल मनुष्य बन कर रहना होगा।[3]" एक अन्य स्थान पर औरंगजेब के अत्याचारों की चर्चा करते हुए दारा कहता है कि जब औरंगजेब मंदिर तुड़वाता है तो उसे ऐसा भान होता है कि वह मुगल साम्राज्य की नींव का पत्थर उखाड़ रहा है। खलीलुल्लाह के पूछने पर कि उसे ऐसा क्यों लगता है, दारा कहता है--" ऐसा क्यों ! हिन्दू भोले हैं जो आज भी मुगल साम्राज्य के लिए जान देने को प्रस्तुत हैं। ... वे यदि संगठित हो सकें तो क्या मुगल साम्राज्य का अस्तित्व खतरे में नहीं डाल सकते ? यहां पर तो हिन्दुओं और मुसलमानों को एक होकर रहना उचित है[4]।" यह सुनकर शाहजहां कहता है--" तुम ठीक कहते हो दारा ! .... इस सुसंस्कृत देश पर हम मुसलमान बनकर राज्य नहीं कर सकते[5]।" एक अन्य स्थल पर छत्रसाल कहते हैं--" ...

---

१ "रक्षाबन्धन" : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण, पृ०५३-५४
२ वही, पृ०१३०
३ "स्वप्नभंग" : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण, पृ०३८
४ वही, पृ०३९
५ वही, पृ०३९

मनुष्य न हिन्दू है न मुसलमान। युवराज दारा और मैं साथ उठते-बैठते हैं, हंसते गाते और एक-दूसरे का सुख-दु:ख कहते हैं सुनते हैं, मानों हम एक ही बाप के बेटे हैं। हमारे सामने जाति और धर्म का प्रश्न ही नहीं उठता... मुगल बादशाहों ने देश के सामने नया ही दृष्टिकोण रखा है। वे भूल गये हैं कि वे विदेशी हैं[१]।" इसी प्रकार एक स्थल पर दारा प्रकाश से कहता है --"... यह दुनियां और उस दुनियां में सब कुछ सिवा खुदा के कुछ नहीं है। बाबा मेरी राय में यही इस्लाम है और हिन्दुओं का वेदान्त है[२]।"

सेठ गोविन्ददास जी के नाटक 'पाकिस्तान' में दुर्गा भारतीय संस्कृति की विशेषता बताते हुए कहती है-- " सहिष्णुता, धार्मिक सहिष्णुता सामाजिक सहिष्णुता, हर प्रकार की सहिष्णुता[३]।" हमारी संस्कृति का विशेष गुण है। वह पुन: कहती है-- " हिन्दू जाति में मुसलमानों का विलीन होना, मैं एक स्वाभाविक बात मानती थी, आजभी मानती हूं और यह हिन्दू संस्कृति की विशालता के कारण स्वाभाविक ढंग से, किसी बल के उपयोग से नहीं[४]।" एक अन्य स्थल पर अमरनाथ कहता है --"... हमें सब जगह अच्छी तरह समझा देना है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पहले हिन्दुस्तानी हैं और बाद में हिन्दू या मुसलमान[५]।"

आपके ही दूसरे नाटक 'हर्ष' में बौद्ध धर्म को आर्य धर्म का ही एक रूप बताया गया। एक युवक कहता है--" बौद्ध धर्म को मैं आर्य धर्म की ही एक शाखा मानता हूं। जब ब्राह्मणों ने यज्ञों की भरमार कर दी, हिंसा को सर्वोच्च शिखर पर बिठा दिया तब भगवान ने गौतम का अवतार धारण कर आर्य-धर्म का संशोधन मात्र किया था[६]।" एक अन्य स्थल पर हर्षवर्द्धन कहते हैं --"आर्य और बौद्ध धर्म के एकीकरण के लिए मैं स्वयं शिव, आदित्य और बुद्ध की प्रतिमाओं का एक सार्वजनिक पूजन करूंगा[७]।" उदयशंकर भट्ट के नाटक 'दाहर अथवा

---

१ 'स्वप्नभंग' : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण, पृ०८१
२ वही, पृ०११७
३ 'पाकिस्तान' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण, पृ०८१
४ वही, पृ०८१
५ वही, पृ०८७
६ 'हर्ष' : सेठ गोविन्ददास, पृ०७०
७ वही, पृ०१४१

सिंध पतन" में भी बौद्ध भिक्षु सागर कहता है--"तुम भूलते हो भाई, हिन्दू धर्म बौद्धों का ही एक अंग है। धम्मपद के उपदेश हिन्दुओं के उपदेशों से भिन्न नहीं है।"[1]

भारतीय संस्कृति में अनेक धर्मों का समन्वय तथा उनके प्रति सहिष्णुता की भावना मिलती है, परन्तु बौद्ध धर्म ने इसे सबसे अधिक प्रभावित किया, अतः अहिंसा, दया, चित्तवृत्ति का निरोध संयम, विश्वमैत्री तथा समता की भावना के साथ ही संसार को दुःखमय मानने की प्रवृत्ति विशेषरूप से दिखाई देने लगी। इनका प्रभाव जनजीवन के साथ ही साहित्य पर भी पड़ा। नाटक भी इनसे अछूते न रह सके।

चित्तवृत्ति पर निरोध

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक "सिन्दूर की होली" में परमानंद प्राप्त करने का साधन चित्तवृत्तिपर संयम बताया गया है। यह सृष्टि आनन्दमय है, परन्तु उस आनन्द को ग्रहण करने के लिए चित्तवृत्ति का संयम आवश्यक है। मनोरमा कहती है--"चित्तवृत्ति का निरोध योग है और वही आनन्द है। जो चाहते हो वह न चाहो.... आनन्द तुम्हारा है और तुम आनन्द के।"[2]

संसार दुःखमय है

बौद्ध धर्म के अनुसार अविद्या मोह का कारण है और संसार में रहकर मनुष्य अनेक प्रकार के मोह-बन्धनों में बंधा रहता है। इसी कारण उसे नाना प्रकार के दुःख सहन करने पड़ते हैं। प्रसाद जी के नाटक "राज्यश्री" में भी हर्ष राज्यश्री से कहता है --"बहन इस इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन कितना लघु है। सब गर्व, सारी वीरता, आनन्द विभव, अपार ऐश्वर्य हृदय की एक चोट से -- संसार की एक ठोकर से-- निस्सार लगने लगा।"[3] यह सुनकर राज्यश्री

---

१ "दाहर अथवा सिंध पतन" : उदयशंकर भट्ट, द्वितीय संस्करण, पृ०६५

२ "सिन्दूर की होली" : लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०७५

३ "राज्यश्री" : जयशंकर प्रसाद, तृतीय संस्करण, पृ०६०

कहती है --" भाई! दुःलभ्य मानव जीवन है। अभ्यास पड़ जाता है इसलिए सब के मन में तीव्र विराग नहीं होता[1]।"

अहिंसा तथा जीवरक्षा

बौद्ध धर्म के प्रचार के फलस्वरूप अहिंसा का प्रचार प्रारम्भ हुआ। अहिंसा को परमधर्म माना गया, अतः यज्ञबलि की प्रथा शनैः शनैः समाप्त हो गई। जीव रक्षा के लिए अहिंसा को आवश्यक बताया गया। सेठ गोविन्ददास के नाटक 'अशोक' में भी मानव-सृष्टि की रक्षा के लिए अहिंसा को परम धर्म बताया गया है। एक स्थल पर अशोक कहता है--"... हिंसा से हिंसा की उत्पत्ति होगी, और यह हिंसा निरन्तर बढ़ती जायगी। एक दिन ऐसा आयगा जब इस हिंसा से सारी मानव संस्कृति सारी मानव सभ्यता ही नहीं, मानव का ही नाश हो जायेगा। अतः संसार के कार्यों में कम से कम सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ रचना इस मानव के कार्यों में, हिंसा का मैं कोई स्थान नहीं मानता। अहिंसा और प्रेम से मानव के कार्य चलने और निपटने चाहिए[2]।" इसी प्रकार उदयशंकर भट्ट के नाटक 'अम्बा' में भी संहार की प्रवृत्ति को अनुचित बताया गया है। अम्बा शंकर भगवान की तपस्या करती है और भीष्म उनके नाश का वरदान मांगती है। तब शंकर भगवान कहते हैं --"... परन्तु संहार की प्रवृत्ति तामस है। साधन का तामस फल नहीं होना चाहिए[3]।"

संसार ईश्वरमय है

सम्पूर्ण संसार के कण-कण में ईश्वर का अंश है, इस विश्वास के कारण ही भारतीय संस्कृति में सम्पूर्ण संसार को ईश्वर मय माना गया है। हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'स्वप्नभंग' में दारा कहता है --"... मुसलमान 'एक' पर ईमान रखता है, 'अनेक' पर नहीं। वह सिवा खुदा के किसी और का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। जरें जरें में उसी एक को उसी खुदा को देखता है[4]।"

---

१ 'राज्यश्री' : जयशंकर प्रसाद, तृतीय संस्करण, पृ०६०
२ 'अशोक' : सेठ गोविन्ददास, पृ०६६
३ 'अम्बा' : उदयशंकर भट्ट, प्रथम संस्करण, पृ०१०४
४ 'स्वप्नभंग' : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण, पृ०१२७

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'मुक्ति का रहस्य' में भी उमाशंकर समाजवाद के विषय में वार्तालाप करते हुए बेनीमाधव से कहते हैं कि --' निर्धनों को भी सुख से जीवित रहने का उतना ही अधिकार है, जितना धनवानों को । अपने इस विचार की पुष्टि के लिए वह कहते हैं कि --'सबके भीतर ईश्वर है किसी का रास्ता न रोको[1]।' एक अन्य नाटक 'सिन्दूर की होली' में भी संसार को ईश्वरमय माना गया है। मनोरमा चन्द्रकला[2] से कहती है कि --' संसार तो ईश्वरमय है .... फिर माया है कहाँ ।'

सेठ गोविन्ददास जी के नाटक 'सेवापथ' में भी इसी बात की पुष्टि की गई है। दीनानाथ परोपकार में इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें अपनी पत्नी तथा एकमात्र पुत्र की भी चिन्ता नहीं रहती, जिसके कारण उनकी पत्नी अत्यन्त दु:खित रहती है, अत: सरला उसे समझाते हुए कहती है --' ...... पर उन्हीं अकेले को जिनकी सेवा वे करना चाहते थे, उनमें प्रेम के कारण अपना ही रूप दिखाई देने लगा और इस प्रकार उन्होंने पहचान लिया कि मुझमें और सारी सृष्टि में उसी एक ईश्वर का निवास है, जिसके ज्ञान के पश्चात् कोई कभी अकेलेपन का अनुभव ही नहीं कर सकता[3]।' जनार्दनराय के नाटक 'आधीरात' में भी महाराणा कुंभा समस्त विजित राज्यों को वापस करने का निश्चय कर कहते हैं कि वे सबको मुक्त कर देंगे किसी को दास बनाकर नहीं रखेंगे, क्योंकि --' यह सारा चराचर उसी प्रभु की लीला है[4]।'

विश्वमैत्री तथा समता

इसी भावना के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति में मनुष्य को समस्त राग-द्वेष और वैमनस्य से दूर रहने को कहा गया ~~था~~ है तथा सम्पूर्ण संसार के प्रति प्रेम-भाव रखने का आदेश दिया गया है ।

---

१ 'मुक्ति का रहस्य' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ० ६४

२ 'सिन्दूर की होली' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०४३

३ 'सेवापथ' : सेठ गोविन्ददास, संस्करण १६४३, पृ०७५

४ 'आधीरात' : जनार्दनराय, प्रथम संस्करण, पृ०२८

प्रसाद जी के नाटक 'अजातशत्रु' में कोशलनरेश प्रसेनजित् मल्लिका के पति बंधुल की हत्या करा देते हैं। यह बात मल्लिका को ज्ञात है। बुद्ध उसे उपदेश देते हुए कहते हैं --'..... हाँ तुम जानती हो कि तुम्हारा शत्रु कौन है-- तब भी विश्वमैत्री के अनुरोध से, उससे केवल उदासीन ही न रहो, प्रत्युत द्वेष भी न रखो।[1]' मल्लिका इस उपदेश को हृदय से ग्रहण करती है और युद्ध में घायल प्रसेनजित् की सेवा करती है। यह देखकर दीर्घकारायण पूछता है कि वह पति के हत्या में सहयोग देने वाले की सेवा क्योंकर रही है? तब मल्लिका कहती है -- 'जिसके हृदय में विश्वमैत्री के द्वारा करुणा का उद्रेक हुआ है, उसे अपकार का स्मरण क्या कभी अपने कर्तव्य से विचलित कर सकता है[2]।' मल्लिका घायल विरुद्धक को भी सेवा करती है और कहती है --' राजकुमार तुम्हारा कलंकी जीवन भी बचाना मैंने अपना धर्म समझा। और यह मेरी विश्वमैत्री की परीक्षा थी[3]।'

प्रसाद जी के नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' में भी इसी विचार की पुष्टि की गई है। विश्वमैत्री के अनुरोध से ही सरमा यादवी ने वासुकी नाग से विवाह किया। वासुकी की बहन मनसा से सरमा कहती है --' जब मैंने प्रभास...... श्रीकृष्ण की उस अपूर्व प्रतिभा ने मेरी नस-नस में मनुष्य मात्र के प्रति एक अविकल प्रीति और स्वतन्त्रता भर दी थी। शूद्र गोप से लेकर ब्राह्मण तक की समता और प्राणी मात्र के समदर्शी होने की अमोघ वाणी उनके मुख से कई बार सुनी थी[4]।'

अभेद की भावना

विश्वमैत्री के सन्देश ने अभेद की भावना को जन्म दिया, फलस्वरूप प्राणि मात्र को एक समान माना जाने लगा। बौद्ध धर्म की यह समता की भावना भारतीय दर्शन में भी उपलब्ध होती है। इसका प्रभाव हिन्दी नाटकों में भी देखने को मिलता है।

---

१ 'अजातशत्रु' : 'जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण, पृ०१०२

२ वही, पृ० ११०

३ वही, पृ० १४५

४ 'जनमेजय का नाग यज्ञ' : जयशंकर प्रसाद, आठवां संस्करण, पृ०८९

प्रसाद जी के नाटक 'स्कन्दगुप्त' में बौद्ध विहार के आचार्य प्रख्यातकीर्ति कहते हैं --"मैं जानता हूँ भगवान ने प्राणीमात्र को बराबर बनाया है, और जीव रक्षा इसीलिए धर्म है।[1]"

सेठ गोविन्ददास जी के नाटक 'कर्तव्य' (उत्तरार्द्ध) में मथुरा जाने के समय कृष्ण, दु:खी राधा को समझाते हुए कहते हैं --" तुम अपने को ही कृष्ण क्यों नहीं मान लेती ? पहले अपने को ही कृष्ण मानने का प्रयत्न करो, फिर अपने समान ही सारे विश्व को मानने लगो तथा भेद भाव से रहित हो, उसी की सेवा में दत्तचित्त हो जाओ[2]।" एक अन्य स्थल पर जब अर्जुन सुभद्रा का हरण कर लेते हैं, तब क्रोधित बलराम से कृष्ण कहते हैं -- 'सुभद्रा आपकी भगिनी है और उसे हरण करने वाला एक अन्य व्यक्ति है अत: आप उसे दण्ड देना चाहते हैं। आर्य इस भेद-बुद्धि से ही तो दु:ख होता है, यही तो स्वार्थ है, यही तो दु:ख को जड़ है[3]।" महाभारत युद्ध के समय कृष्ण अर्जुन को निष्काम कर्म का उपदेश देते हैं। उसका सार अर्जुन इस प्रकार बताते हैं-- " संसार में पृथकत्व केवल स्थूल दृष्टि से देखने में ही है, यथार्थ में सभी में एकता है और सबमें एक शक्ति का ही संचार हो रहा है[4]।"

इसी प्रकार उदयशंकर भट्ट के 'दाहर अथवा सिंध पतन' में राजकुमारी सूर्य तथा परमाल घायल सैनिकों की सेवा करती है। एक घायल सैनिक पानी मांगता है,परन्तु पानी पिलाने वाली स्त्री उसे शत्रु जानकर पानी नहीं देती है। यह देखकर राजकुमारी परमाल कहती है --"संसार के सब प्राणी[5] एक हैं बहिन, मरते हुए आदमी को सब संसार एक है। इसे पानी दो।"पानी पीकर सैनिक कृतज्ञ होता है और कहता है--" सभी खुदा के बन्दे हैं। (कुछ सोच कर) क्या हम एक नहीं है[6]।"

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'रक्षा बन्धन' में बहादुरशाह के धर्मगुरु

---

१ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण,पृ०१२४

२ 'कर्तव्य' (उत्तरार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण,पृ०१०२-१०३

३ वही, पृ०१४२

४ वही, पृ० १५४

५ 'दाहर अथवा सिंध पतन' : उदयशंकर भट्ट,द्वितीय संस्करण,पृ०१३१

६ वही, पृ०१३२

शाह शेख औलिया कहते हैं --" राणा सांगा सो गये । मेवाड़ को गरीब रियाया का क्या कसूर है ? खुदा को उस बेगुनाह खलकत ने क्या बिगाड़ा है ? यह भी परवर-दिगार अल्ला-ताला को लाड़ली औलाद है । तू इसे तंग करेगा तो खुदा तुझपर कहर को बिजली गिराएगा[1] ।" एक अन्य स्थल पर हुमायूं कहता है-- "..... जिन्हें हम दुश्मन समझते हैं, वे सब हमारे भाई हैं । हम एक ही खुदा के बेटे हैं तातार[2] ।" रानी कर्मवती की सहायता के लिए तत्पर हुमायूं से तातार खां कहता है कि उसे एक मुसलमान के विरुद्ध एक हिन्दू की सहायता नहीं करनी चाहिए । यह सुनकर हुमायूं कहता है --"तुम भूलते हो । तुम सब एक ही परवर-दिगार की औलाद हो[3] ।" आपके ही एक अन्य नाटक 'स्वप्नभंग' में ईश्वर को घट-घट में प्रतिबिम्बित बताया गया है । प्रकाश जहांनारा को 'बेटी' कहकर सम्बोधित करता है, और क्षमा मांगते हुए वह कहता है -- "मुझे क्षमा करना बेटी.... यहां न कोई हिन्दू है न मुसलमान -- केवल उस 'एक' -- उस खुदा-- उस ब्रह्म का अलग-अलग घट में प्रतिबिम्ब है[4] ।" 'आहुति' नाटक में भी एकता की यही भावना देखने को मिलती है । एक स्थल पर गमरू कहता है--" अपने भाई को भाई समझना बाकी लोगों को भाई न समझना ईमानदारी नहीं बेईमानी है । दुनियां में सिर्फ एक मां है और वह है खुदा । जो तुम हो, वही महिमा है,वही अलाउद्दीन है, वही हम्मीर है । हम सभी भाई हैं । जब हम हम्मीर के ख़िलाफ़ तलवार उठाने में नहीं हिचकते तो महिमा के ख़िलाफ़ उठाने में क्यों हिचकें[5] ।" आपके एक अन्य नाटक 'अम्बा' में अम्बा कहती है--" ..... अभिन्नता सृष्टि है और भेद विनाश का झरना है, जिसमें प्रलय का जल गिरकर सृष्टि को डुबो देता है[6] ।"

---

१ 'रक्षाबन्धन' : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण,पृ०२६
२ वही, पृ०५२
३ वही, पृ०५३
४ 'स्वप्नभंग' : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण,पृ०१२८
५ 'आहुति' : हरिकृष्ण प्रेमी, संस्करण १९४०, पृ०२९
६ 'अम्बा' : उदयशंकर भट्ट, प्रथम संस्करण, पृ०३२

० अभेद की भावना के कारण जीवमात्र के प्रति दया,क्षमा,नम्रता, त्याग,परोपकार आदि मानवीय गुणों का विकास होता है । प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के गौरवशाली रूप को प्रदर्शित करने के लिए मानवता का सहारा लिया,क्योंकि मानवता के प्रति सहज आकर्षण सभी में होता है ।

परोपकार तथा दया

दया तथा परोपकार भारतीयता के प्रमुख गुण हैं । इनके अनेक उदाहरण हिन्दी-नाटकों में उपलब्ध होते हैं । प्रसाद जी के नाटक `विशाख` में प्रेमानन्द राजा नरदेव द्वारा किया गया अपमान भूलकर अग्नि से उसकी रक्षा करता है । आपके ही दूसरे नाटक `राज्यश्री` में भी राज्यश्री हर्ष से कहती है--`चलो भाई ! जहाँ तक बन पड़े लोकसेवा करके अन्त में हम दोनों साथ ही काषाय लेंगे ।`[१] `अजातशत्रु` में मागंधी अपने पूर्व कर्मों के लिए पश्चाताप करती है और बुद्ध की शरण में जाती है । बुद्ध उसे उपदेश देते हुए कहते हैं--`अब तुम तपे हुए हेम की तरह शुद्ध हो गई हो । विश्व के कल्याण में अग्रसर हो । असंख्य दु:खी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है । इस दु:ख समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हृदय को तुमने हंसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे हृदय में विकसित होंगे । फिर तुमको परदु:खकातरता में ही आनन्द मिलेगा ।`[२] इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर जब अजातशत्रु को ज्ञात होता है कि मल्लिका युद्ध में घायल कोशलनरेश प्रसेनजित् को, जिन्होंनें उसके पति की हत्या कराई थी,जानते हुए भी सेवा की है, तो वह श्रद्धा से नत हो जाता है और कहता है कि यह देवतुल्य कार्य है । यह सुनकर मल्लिका कहती है--` नहीं राजकुमार यह देवता नहीं-- मनुष्य का कर्तव्य है । उपकार,करुणा,समवेदना और पवित्रता मानव-हृदय के लिए ही बने हैं ।`[३] एक अन्य स्थान पर बुद्ध कहते हैं--`बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म करते रहना चाहिए । दूसरों की ओर से उदासीन हो जाना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है । आनन्द ! दूसरों का अपकार सोचने से अपना हृदय भी कलुषित होता है ।`[४]

---

१ `राज्यश्री` : जयशंकरप्रसाद, सातवां संस्करण,पृ०६६

२ `अजातशत्रु` : जयशंकरप्रसाद, दसवां संस्करण,पृ०१६७

३ वही, पृ०११५

४ वही, पृ०१२०-१२१

सेठ गोविन्ददास के नाटक `कर्ण` में दुर्योधन कर्ण से इस प्रकार कहता है --`परन्तु अंगराज-- चित्रसेन का हमारे द्वैत वन आने का प्रयोजन युधिष्ठिर से कहना और इतने पर भी युधिष्ठिर का मुझे छुड़वाना। (कुछ रुक-कर) अंगराज.... अंगराज, जिनका मैं सदा शत्रु रहा, किसी भी परिस्थिति में जिनके सामने सिर न झुकाया, उन्होंने मुझे प्राणदान दिया है[1]। इसी प्रकार `हर्ष` नाटक में बताया गया है कि सच्चा और स्थायी सुख परोपकार द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। शिलादित्य हर्ष से कहता है--`मेरा निश्चय है कि मनुष्य को विषय वासना के उपभोगों से सच्चा और स्थायी सुख मिलना असंभव है। मैं आपकी स्वाभाविक परोपकार प्रवृत्ति को सदैव उत्तेजित करता रहा, मेरा विश्वास है कि इस संसार में परोपकार के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में सच्चा और स्थायी सुख मिल ही नहीं सकता[2]।` `विश्वप्रेम` का नायक भी दया और परोपकार की मूर्ति है। अयोध्या नगरी में महामारी फैलने पर वह सब की सेवा करते हुए स्वयं रोगग्रस्त हो जाता है। स्वस्थ होने पर जिस समय उसे पथ्य दिया जाता है, उसी समय एक भिखारिन आ जाती है। वह अपना पत्थ्य उसके बच्चे को देने को कहता है। रूपवती के कहने पर कि उसे दूसरा भोजन दे दिया जायेगा, वह कहता है --`नहीं नहीं, यह कदापि नहीं हो सकता। मेरे द्वार पर दो बालक प्राण विसर्जन करें, और मैं पथ्य लूं, यह सम्भव नहीं। (रूपवती से) रूप,तुम शीघ्र ही इस अन्न को ले जाकर उन बालकों की रक्षा करो[3]।`

इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक `सिन्दूर की होली` में मरणासन्न रजनीकान्त मारने वालों का नाम नहीं बताता,वरन् कहता है--`नाम बतलाना मैं नहीं चाहता। मेरे परिवार में केवल दो स्त्रियां हैं.... कोई बच्चा भी नहीं है। मेरे परिवार की सारी आशायें मेरे साथ जा रही हैं। मैं नहीं चाहता कि दूसरों की आशाएं भी अपने साथ लेता जाऊं[4]।`उदयशंकर भट्ट के नाटक

---

१ `कर्ण` : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण,पृ०५१-५२

२ `हर्ष` : सेठ गोविन्ददास, पृ०१६-१७

३ `विश्वप्रेम`(गोविन्ददास ग्रन्थावली) : सेठ गोविन्ददास,पृ०७६

४ `सिन्दूर की होली` : लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रथम संस्करण,पृ०१६५

'मुक्तिदूत' में भी दया को मनुष्य का सर्वोत्तम कर्तव्य माना गया है । कुमार सिद्धार्थ देवदत्त के बाण से घायल हंस को प्राणरक्षा करते हैं । देवदत्त द्वारा हंस मांगे जाने पर वह कहते हैं --'दु:खी के प्रति दया दिखाना मेरा कर्तव्य है, मनुष्य मात्र का कर्तव्य है[1] ।'

उदारता,त्याग और दान

भारतीय संस्कृति में त्याग,दान तथा उदारता का विशेष महत्व है । दूसरों के सुखों के लिए अपने सुखों का त्याग कर देना,उदार हृदय होना और दान देना आदि भारतीयता के गुण हैं । त्याग,उदारता और दानशीलता के अनेक उदाहरण हिन्दी नाटकों में उपलब्ध होते हैं ।

प्रसाद जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' में सिंहरण भारतीय सैनिकों से कहता है-- 'ठहरो, मालव वीरो ! ठहरो । यह भी एक प्रतिशोध है । यह भारत के ऊपर एक ऋण था । पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है । यवन ! जाओ शीघ्र जाओ[2] ।' युद्ध में हार कर जब सिकन्दर वापस जाने लगता है, तब वह भारतीय वीरों से मैत्री से हाथ मिलाकर जाने की इच्छा प्रकट करता है। तब चाणक्य कहता है --'हम लोग प्रस्तुत हैं सिकन्दर ! तुम वीर हो,भारतीय सदा उच्च गुणों की पूजा करते हैं । तुम्हारी जल-यात्रा मंगलमय हो । हम लोग युद्ध करना जानते हैं द्वेष नहीं[3] ।' चाणक्य सुवासिनी को बचपन से प्यार करता है,परन्तु परिस्थितिवश उसे प्राप्त नहीं कर पाता है । अन्त में जब वह सुवासिनी उसे उपलब्ध होती है तब उसे ज्ञात होता है कि वह राक्षस को प्यार करती है, अत: उदारतापूर्वक सुवासिनी का विचार त्याग कर वह कहता है--' भविष्य के सुख और शान्ति के लिए .... श्रेय के लिए, मनुष्य को सब त्याग करना चाहिए सुवासिनी ! जाओ[4] ।'तब सुवासिनी कहती है--' तो विष्णुगुप्त,तुम इतना बड़ा त्याग करोगे । अपने हाथों बनाया हुआ इतने बड़े साम्राज्य का शासन हृदय

---

१ 'मुक्तिदूत' : उदयशंकर भट्ट,द्वितीय संस्करण,पृ०१८

२ 'चन्द्रगुप्त : जयशंकर प्रसाद,पृ०१२३

३ वही, पृ०१३५

४ वही, पृ०१८१

की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी को सौंप दोगे । और सो भी मेरे लिए[१] ।'

आपके दूसरे नाटक 'स्कन्दगुप्त' में भी स्कन्दगुप्त चक्रपालित से कहता है-- ' चक्रपालित ! संसार में जो सबसे महान है, वह क्या है ? त्याग । त्याग का ही दूसरा नाम महत्व है । प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है[२] ।' युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद बंधुवर्मा देशहित के लिए अपना राज्य स्कन्दगुप्त को सौंप देते हैं । स्कन्द के सिंहासनारूढ़ होने पर गोविन्दगुप्त कहते हैं --' वत्स ! इन आर्य जाति के रत्नों की कौन सी प्रशंसा करूं । इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं[३] ।' वे पुन: कहते हैं-- ' तुम्हारे इस आत्मत्याग की गौरव-गाथा आर्य जाति का मुख उज्ज्वल करेगी[४] ।' इसी प्रकार स्कन्दगुप्त भी उदारतापूर्वक अपना राज्य सिंहासन अपने भाई के लिए छोड़ देता है । वह चक्रपालित से कहता है--' नहीं चक्र ! अश्वमेध पराक्रम स्वर्गीय सम्राट कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है । मैं झगड़ा करना नहीं चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिए । पुर गुप्त को रहने दो[५] ।' इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर धातुसेन कहता है--'ब्राह्मण क्यों महान हैं ? इसलिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति हैं[६] ।' आपके ही एक अन्य नाटक 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में सोमश्रवा को जिसे राजपुरोहित का पद प्राप्त हुआ है,च्यवन ऋषि उपदेश देते हुए कहते हैं --'वत्स ! ऐसा काम करना.... त्याग का महत्व, जो हम ब्राह्मणों का गौरव है, सदैव स्मरण रहे । धर्म कभी धन के लिए न आचरित हो, वह श्रेय के लिए हो, प्रकृति के कल्याण के लिए हो और धर्म के लिए हो । यही धर्म हम तपोधन का परम धन है[७] ।'

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'अशोक' में भारतीयों की उदारता की प्रशंसा ग्रीक सम्राट एण्टीओकस भी करता है । एण्टीपेटर मौर्य साम्राज्य का

---

१ 'चन्द्रगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, पृ०१८१
२ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद,नवां संस्करण,पृ०५१
३ वही, पृ०७६
४ वही, पृ०८०
५ वही, पृ०६२
६ वही, पृ०१२३
७ 'जनमेजय का नाग यज्ञ' : जयशंकर प्रसाद,आठवां संस्करण,पृ०६२

प्रधान सेनापति बना दिया जाता है । जब यह बात एण्टोओकस को ज्ञात होता है,वह मैकडोमस से कहता है--'प्रधान सेनापति ? एक अज्ञात विदेशी के कन्धे पर इतने बड़े उत्तरदायित्व का भार ? ये भारतीय कितने उदार और महत् हैं ।... .... जैसे अपने और पराये का भाव इन तक नहीं पहुंच सका[1]।'कलिंग युद्ध में कलिंग का राजकुमार जयन्त मारा जाता है तथा राजकुमारी माया पुरुष वेश में युद्ध करती हुई बन्दी बना ली जाता है । अशोक युद्ध में जीते गये कलिंग को उदारतापूर्वक वापस करने को तैयार है । माया के पूछने पर कि अभी कितने दिन और उसे बन्दी बनकर रहना होगा, अशोक कहता है--' बन्दी ? नहीं राजकुमार तुम मेरे यहां बन्दी नहीं हो । तुम जिस दिन चाहो मेरे यहां से जा सकते हो ..... तुम्हारे राज्य की ठीक व्यवस्था कर तुम्हें सौंप दूंगा[2]।'इसी नाटक के एक स्थल पर कलिंग के महाराज सर्वदत्त, जिसका राज्य अशोक ने युद्ध में जीत लिया तथा जिसके पुत्र जयन्त को मार डाला और पुत्री माया को बन्दी बना लिया, अशोक को अत्यन्त उदारतापूर्वक क्षमा कर देते हैं । तब अशोक कहता है--'महाराज मैंने आक्रमण कर आपका राज्य लिया, इतना ही नहीं,अपने हाथों आपके एकमात्र पुत्र की हत्या की । इतने पर भी आप मेरी ओर इस उदारता से देखते हैं महाराज आपकी आंखों में क्षोभ की लाली नहीं दौड़ती हृदय में प्रतिहिंसा का भाव नहीं आता[3]।'

एक अन्य नाटक 'दशाश्वमेध' में भी वीरसेन अपने प्रतिद्वन्द्वी अंगारक को द्वन्द्व युद्ध में पराजित कर देता है । उसकी मृत्यु पर वह भैरव सिद्ध से कहता है-- 'आप अपने सामने अंगारक का दाहकर्म कर दीजिए । काशी का छत्रप आज सब ओर से असहाय है । उसका अन्त का कर्म तो हो जाय[4]।'यह सुनकर भैरव-सिद्ध कहते हैं --'जब तक कि विन्ध्यवासिनी रहें..... भगवान शंकर और गंगा की धार रहे.... शत्रु के प्रति तुम्हारी इस उदारता का आख्यान चले[5]।'इसी प्रकार

---

१ 'अशोक' : लक्ष्मीनारायण मिश्र ,पृ०१०१

२ वही, पृ०१७२

३ वही, पृ०१८५

४ 'दशाश्वमेध' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रथम संस्करण,पृ०८१

५ वही, पृ०८१

गोविन्दवल्लभ पन्त के नाटक `राजमुकुट` में उदय के राज्याभिषेक के समय बनवीर को,जो उदय की हत्या के प्रयत्न में पन्ना के पुत्र चन्दन की हत्या करता है,पन्ना उदारतापूर्वक मुक्त कर देती है और कहती है--`आओ, आओ इस राजतिलक के सबसे बड़े हर्ष में मैं तुम्हें मुक्त करती हूं । प्रहरी । बनवीर के बन्धन खोल दो ।`[1]

सेठ गोविन्ददास के नाटक `हर्ष` में राज्यश्री युद्ध में पति के वीर-गति पाने पर सती होना चाहती है, परन्तु हर्ष उसे सती होने से रोकता है और उसके राज्य का पुनरुद्धार कर उसका राज्य तथा अपना राज्य भी उसे सौंप कर स्वयं उसका माण्डलीक बन जाता है । यह देखकर राज्यश्री कहती है--`शिलादित्य । यह त्याग । यह अपूर्व त्याग[2] ।`वह पुन: कहती है--` यह क्या छोटा त्याग है ? एक एक कौड़ी के लिए सहोदय भ्राता एक दूसरे का सिर काटने को उद्यत रहते हैं और तुम इतने बड़े साम्राज्य को ठोकर मार रहे हो[3] ।`इसी नाटक में हर्ष अपना सर्वस्व दान करके दान का अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत करता है । वह अपना सर्वस्व दान करने का निश्चय कर ब कहता है--` हां सर्वस्व--दान महाबलाधिकृत, मेरे शरीर में जो आभूषण है इन तक का दान[4] ।`वह पुन: कहता है--`प्रजाहित के समस्त कार्यों में व्यय होने के पश्चात् जो कुछ धन साम्राज्य कोष में बचेगा, उसका हर चौथे वर्ष युग का अन्त होते ही, दान कर दिया करूंगा[5] ।`

आपके ही नाटक`गरीबी या अमीरी` में अचला अपने पिता द्वारा दी गई सारी सम्पत्ति दान कर देती है वह कहती है--`मैनेजर साहब, सारी संपत्ति पिता जी के नाम पर ही दान में दे दी जायेगी[6] ।``विश्वप्रेम` में रूपवती भी पिता द्वारा दी हुई सम्पत्ति का स्वेच्छा से दान कर देती है । वह कहती है --`पिता जी आपकी इस अतुल सम्पत्ति की मुझे आवश्यकता नहीं है ।... इस सारी सम्पत्ति को आप लोकोपकार के लिए दान कर दें[7] ।`

---

१ `राजमुकुट` : गोविन्दवल्लभ पन्त, प्रथम संस्करण,पृ०१२५
२ `हर्ष` : सेठ गोविन्ददास,पृ०६३
३ `वही, पृ०६३
४ वही, पृ० १४१
५ वही, पृ० १४२
६ `गरीबी या अमीरी` : सेठ गोविन्ददास,प्रथम संस्करण,पृ०१४५
७ `विश्वप्रेम(गोविंददास ग्रंथावली): सेठ गोविन्ददास,पृ०१७५

दानशीलता का एक अन्य उदाहरण आपके नाटक 'कर्ण' में भी दिखाई देता है। युद्ध में पाण्डवों को विजयी बनाने के लिए कृष्ण, कर्ण से सूर्य द्वारा दिया गया कवच-कुंडल मांगने के लिए इन्द्र को भेजते हैं, क्योंकि कवच-कुंडल के रहने पर कर्ण अवध्य है। स्वप्न में सूर्य कर्ण से कवच-कुंडल न देने के लिए कहते हैं। यह सुनकर कर्ण कहते हैं --'परन्तु प्रभो, ये तो मेरे शरीर के साथ लगे हो हैं, मेरे संकल्प के अनुसार तो यदि मेरे शरीर के अवयव, जिस हृदय से प्रत्येक मनुष्य जीवित है वह हृदय, और सारा शरीर ही कोई ब्राह्मण मांगे तो मुझे देना चाहिए[1]।' इन्द्र ब्राह्मण बनकर कर्ण से कवच-कुंडल मांगने आते हैं तब कर्ण कहते हैं--' ...... यद्यपि इन कवच कुंडलों के कारण मैं युद्ध में अवध्य हूं तथापि संकल्प को मृत होते हुए भी मैं मिथ्या न होने दूंगा। आप मेरे कवच-कुंडल ले लें, मैं देता हूं, आर्य[2]।'

इसी प्रकार हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'रक्षाबन्धन' में त्याग की भावना से प्रेरित होकर माया कहती है --' मैं मेवाड़ के धन कुबेर धनदास की पत्नी वचन देती हूं, कि अपने विपुल धन को अन्तिम पाई तक उन पर खर्च करूंगी[3]।' एक अन्य स्थल पर भीलराज कहते हैं--' वैभव का उपयोग करने के लिए राजमुकुट सर पर रखना सभी चाहते हैं, पर अपना बलि देने के अवसर आने पर विरले ही इसे छूने का साहस कर सकते हैं। धन्य हो बाघसिंह जी, ऐसा त्याग या तो महाराणा लक्ष जी और उनके राजकुमारों ने किया था, या आप कर रहे हैं[4]।' तब रानी कर्मवती कहती है -- ' जो ज़हर का प्याला दूसरों के लिए है, उसे आगे बढ़कर स्वयं पी जाना, उससे भी महत्तर है। तुम्हारा त्याग अपूर्व है बाघसिंह जी[5]।'

आपके नाटक 'स्वप्नभंग' में भी औरंगजेब के लिए दारा अपना राज्याधिकार छोड़ने के लिए तैयार है। वह कहता है--' यदि औरंगजेब से यह आशा हो कि वह सारी प्रजा को एक समान समझेगा तो मैं आज ही इस गृहयुद्ध से विरत होकर साहित्यिक का जीवन बिताने को तैयार हूं[6]।' आपके ही दूसरे

---

१ 'कर्ण' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण, पृ०७८
२ वही, पृ०८५
३ 'रक्षाबन्धन' : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण, पृ०७३
४ वही, पृ०६८
५ वही, पृ०६६
६ 'स्वप्नभंग' : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण, पृ०७३

नाटक "उद्धार" में देशहित के लिए सुजानसिंह अपने राज्य का त्याग कर देता है। यह जानकर महाराणा कहते हैं --" धन्य हो सुजान।.... मेवाड़ के हित के लिए तुम्हारा त्याग चिरस्मरणीय रहेगा।"[1]

धैर्य तथा सच्चरित्रता

भारतीय संस्कृति में धैर्य तथा सच्चरित्रता का विशेष महत्व है। इसके अनेक उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी उपलब्ध होते हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक "स्वप्नभंग" में प्रकाश का लड़का ताजमहल बनाते समय पत्थर से दब कर मर गया था। वह दारा से बताता है कि किस प्रकार उसके लड़के की मृत्यु हुई। यह सुनकर दारा कहता है --"बड़े दुःख की बात है बाबा। फिर भी धैर्य रखना मनुष्य का धर्म है।"[2]

औरंगजेब शाहजहां की अस्वस्थता की सूचना पा सेना लेकर दारा से युद्ध करने के लिए आता है। शाहजहां उसे समझाने के लिए जसवन्तसिंह जी को भेजना चाहते हैं। दारा का विचार है कि वह समझाने से नहीं मानेगा, उसे दण्ड देना पड़ेगा। छत्रसाल हाड़ा भी इस बात का समर्थन करते हैं,जिसे सुनकर खलीलुल्लाह कहता है कि हिन्दू लोग भाई-भाई में लड़ाई कराकर मुसलमानों को कमजोर करना चाहते हैं। तब छत्रसाल कहते हैं —"राजपूत धोखा नहीं देता,षड्यन्त्र नहीं रचता और बेईमानी नहीं करता। वह जो ठीक समझता है कहता है, जो उचित जानता है करता है।"[3] जसवंतसिंह के समझाने पर भी जब औरंगजेब नहीं मानता तब युद्ध होना निश्चित होता है। यदि जसवन्त सिंह चाहते तो रात्रि में औरंगजेब पर आक्रमण करके विजय प्राप्त कर सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। कासिम के पूछने पर कि इस विषय में उन्होंने क्या कहा,जसवन्त सिंह का सेनाध्यक्ष कहता है--"वही जो एक राजपूत कह सकता है। रात को आक्रमण करना मर्दानगी के विरुद्ध है। राजपूत शत्रु को सावधान करके आमने-सामने धर्म-युद्ध करता है। धोखे से विजय प्राप्त नहीं करता।"[4]

---

१ "उद्धार" : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण, पृ०५५
२ "स्वप्नभंग" : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण, पृ०२८
३ वही, पृ०४०
४ वही, पृ०५५

सन्तोष

सन्तोष भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। जो कुछ सुख अथवा दुःख मिलता है, उसे ईश्वर की कृपा समझ कर ग्रहण करना भारतीयता का प्रमुख गुण है।

जयशंकर प्रसाद के नाटक "विशाख" में राजा नरदेव विशाख की पत्नी चन्द्रलेखा पर आसक्त है। एक दिन वह महापिंगल के साथ उसके घर जाता है। चन्द्रलेखा के प्रणाम करने पर महापिंगल उसे राजरानी होने का आशीर्वाद देता है, जिसे सुनकर चन्द्रलेखा कहती है --"आप मुझे शाप न दीजिए। मेरी इस झोंपड़ी में राजमन्दिर से कहीं बढ़ कर आनन्द है।"[1] उनके जाने के पश्चात् वह ईश्वर से प्रार्थना करती है --" मेरा वसन्तमय जीवन है। प्रभो! इसमें पतझड़ न आने पावे। मेरा कोमल हृदय छोटे सुख में सन्तुष्ट है।"[2]

क्षमा

भारतीय संस्कृति में क्षमा महान गुण है। अपराधी से नहीं, वरन् अपराध से घृणा करने की भावना के कारण बड़े से बड़े अपराधी को भी क्षमा दान देने में भी कृपणता नहीं दिखाई देती। प्रसाद जी के "स्कंदगुप्त" में स्कन्द देशद्रोही शर्वनाग को भी क्षमा कर देता है। वह कहता है -- ".... मैं तुम्हें मुक्त करता हूं, क्षमा करता हूं।"[3] इसी प्रकार "राज्यश्री" नाटक में गौड़ का राजा नरेन्द्र, विकटघोष तथा सुरमा द्वारा राज्यवर्धन की हत्या करवाता है। सेनापति भंडि राज्यवर्धन के हत्यारे की खोज में है, अतः नरेन्द्र अपने प्राणों के लिए भयभीत है। इस बात का व ज्ञान होने पर राज्यश्री हर्ष से कहती है-- "फिर भी वह क्षम्य है। अपना सम्बन्धी है, भाई, जाने दो। आज हम लोग दान देने चल रहे हैं, क्षमा करो भाई।"[4] विकटघोष भी अपना

---

१ "विशाख" : जयशंकर प्रसाद, द्वितीय संस्करण, पृ०४८

२ वही, पृ०५५

३ "स्कन्दगुप्त" : जयशंकरप्रसाद, नवां संस्करण, पृ०८१

४ "राज्यश्री" : जयशंकर प्रसाद, सातवां संस्करण, पृ० ६६

अपराध स्वीकार कर लेता है। राज्यश्री उसे भी क्षमा कर देती है और हर्ष से कहती है-- "भाई। आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या एक यही दान रह जाय-- इसे प्राणदान दो भाई[1]।"

"चन्द्रगुप्त" में ब्राह्मण को क्षमा का अवतार माना गया है। चाणक्य से चन्द्रगुप्त तथा उसके माता-पिता सभी असन्तुष्ट हैं। अतः वह सब को छोड़कर चला जाता है फिर भी चन्द्रगुप्त की विजय के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। उन लोगों को जब अपनी भूल का ज्ञान होता है, वे चाणक्य से क्षमायाचना करते हैं। उस समय चाणक्य कहता है--" राजा न्याय कर सकता है, परन्तु ब्राह्मण क्षमा कर सकता है[2]।"

"अजातशत्रु" की मल्लिका क्षमा की साक्षात् मूर्ति है। यह जानते हुए भी कि उसके पति की मृत्यु का कारण प्रसेनजित् है, युद्ध में घायल होने पर वह उसकी सेवा करती है। स्वस्थ होने पर वह जाने की आज्ञा माँगता है जिसे सुनकर मल्लिका कहती है कि उसने उसे बन्दी बनाकर नहीं रखा है, वह जब चाहे जा सकता है। तब प्रसेनजित् कहता है--" नहीं, देवि। इस दुराचारी के पैरों में तुम्हारे उपकारों की बेड़ी और हाथों में क्षमा की हथकड़ी है[3]।" मल्लिका कारायण से महाराज प्रसेनजित् को उनके महल तक सुरक्षित पहुँचाने को कहती है, तब प्रसेनजित कहता है--"देवि मैं स्वीकार करता हूँ कि महात्मा बंधुल के साथ मैंने घोर अन्याय किया है। और आपने क्षमा करके मुझे कठोर दण्ड दिया है[4]।" प्रसेनजित् के जाने के बाद अजातशत्रु उसे ढूंढता हुआ मल्लिका की कुटी पर आता है और यह जानकर कि मल्लिका ने, जानते हुए कि प्रसेनजित् ने उसके पति का वध कराया है, उसकी सेवा की है, आश्चर्य-चकित होता है और कहता है--"तब भी आपने उस अधम जीवन की रक्षा की।

---

१ "राज्यश्री" : जयशंकर प्रसाद, सातवां संस्करण, पृ०७४

२ "चन्द्रगुप्त" : जयशंकर प्रसाद, पृ०२०१

३ "अजातशत्रु" : जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण, पृ०१११

४ वही, पृ०११२

ऐसी क्षमा ! आश्चर्य[1] !"

इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर मल्लिका विरुद्धक को लेकर राजा प्रसेनजित् के पास आती है और शक्तिमति तथा विरुद्धक दोनों के लिए क्षमा मांगती है। राजा के, शक्तिमती को क्षमा कर देने पर मल्लिका कहती है--" मैं कृतज्ञ हुई सम्राट ! क्षमा से बढ़कर दण्ड नहीं है और आपकी राष्ट्र नीति इसी का अवलम्बन करे, मैं यही आशीर्वाद देती हूं[2]।" अन्यत्र छलना अपने पति बिम्बसार तथा अपनी सपत्नी वासवी को बन्दी बनाकर रखती है तथा उन्हें अनेक क्लेश पहुंचाती है,फिर भी वासवी छलना को क्षमा कर देती है। उसे दण्ड न देकर अजात का पुत्र उसकी गोद में दे देती है और बिम्बसार से भी कहती है कि छलना को क्षमा कर दे। वह कहती है--" आर्य पुत्र ! अब मैंने इसको दण्ड दे दिया है, यह मातृत्वपदच्युत की गई है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है। एक राजमाता का इतना बड़ा दण्ड कम नहीं, अब आपको क्षमा करना ही होगा[3]।"

इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक "अशोक" में धर्मनाथ जयंत के साथ विश्वासघात करता है। जयन्त की बहन माया को जब इस विश्वासघात का पता चलता है, वह अपने सैनिकों के साथ धर्मनाथ को घेर लेती है। सैनिक धर्मनाथ को मारना चाहते हैं पर माया उन्हें रोक देती है और कहती है --" जाने दो सैनिकों,क्षमा करो, यह अनन्त काल तक जीवित रहे ! सोते जागते ,सदैव इसे विश्वासघात न भूले[4]।" धर्मनाथ के षड्यन्त्रों तथा कुकर्मों का ज्ञान जब अशोक को होता है तो वह अत्यन्त क्रोधित होता है,फिर भी उसे क्षमा कर देता है और कहता है--"विश्वप्रेम का उपासक होकर तुमको दण्ड नहीं दे सकता। जाओ ब्राह्मण मैंने तुम्हें क्षमा किया। मेरा तुमसे कोई विरोध नहीं, विरोध है तुम्हारे इन कुत्सित कार्यों से[5]।" गोविन्दवल्लभ पन्त के नाटक

---

१ "अजातशत्रु" : जयशंकर प्रसाद,दसवां संस्करण,पृ०११५
२ वही, पृ०१५७
३ वही, पृ०१७५
४ "अशोक" : लक्ष्मीनारायण मिश्र,पृ०१५७
५ वही, पृ०१६८

'राजमुकुट' में एक हत्यारे को भी क्षमा कर दिया जाता है। युद्ध में जयसिंह रणजीत को घायल कर देता है। मृत्यु के समय वह अपना अपराध स्वीकार कर लेता है कि उसने ही कर्मचन्द को मारा था। इस अपराध के लिए वह जयसिंह से क्षमा मांगता है। तब जयसिंह कहता है--"मैंने तुम्हें क्षमा किया, जा चैन से सो।[1]" उदय के राजतिलक के समय सिपाही बनवीर को बन्दी बनाकर लाते हैं। वह पन्ना से क्षमा मांगता है। उस समय चन्दन का पिता कहता है कि उसने उसके पुत्र चन्दन की हत्या की है, अत: उसे क्षमा न करें। तब पन्ना कहती है--"हां हां तुम भी इसे क्षमा करो।[2]"

सेठ गोविन्ददास के नाटक 'कुलीनता' में भी युद्ध भूमि में राजकुमारी रेवा सुन्दरी तथा अपनी पत्नी विंध्यबाला को देखकर देवदत्त के हाथ से ढाल छूट जाती है और वह यदुनाथ की तलवार का शिकार बन जाता है। अत: यदुनाथ अपने-आपको विंध्यबाला का अपराधी समझता है। उसके अन्दर विंध्यबाला के सामने जाने की शक्ति नहीं है। उस समय विंध्यबाला स्वयं उसके पास आती है और कहती है --"मैं आपको वैसा ही समझती हूं, ठीक वैसा ही। मैं आपको विश्वास दिलाती हूं, मेरे हृदय में आपके लिए कोई क्रोध, कोई घृणा, कोई बुरी भावना नहीं है।[3]"

सेठ गोविन्ददास के ही एक अन्य नाटक 'अन्त:पुर का छिद्र' में राजा उदयन की छोटी रानी मागंधी अपनी सपत्नी पद्मावती से ईर्ष्या करती है, अत: उसके चरित्र के प्रति राजा के हृदय में सन्देह उत्पन्न करती है। उदयन की वीणा में स्वयं सर्प रखकर कहती है कि पद्मावती ने उसे मार डालने के लिए ऐसा किया है। यह सुनकर उदयन कहता है--"उसे क्षमा करो मागंधी.... बोधिसत्व नगर और ग्राम में कहता फिर रहा है शत्रु को मित्र समझ कर क्षमा करो।[4]" हरिकृष्ण प्रेमी के 'स्वप्नभंग' में औरंगजेब,

---

१ 'राजमुकुट' : गोविन्दवल्लभ पन्त, प्रथम संस्करण, पृ०१२१

२ वही, पृ०१२५

३ 'कुलीनता' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण, पृ०६२

४ 'अन्त:पुर का छिद्र' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण, पृ०६६

रोशनआरा के संकेत पर दारा को मारने का प्रयत्न करता है। अपने पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों को बन्दी बना लेता है और उन्हें तरह-तरह की यातनाएं देता है। परन्तु वह सत्ता पाने के पश्चात् जब वह रोशनआरा की अवहेलना करने लगता है, तब उसे अपनी भूल का ज्ञान होता है। वह शाहजहां से क्षमा याचना करती है, तब शाहजहां कहता है--"बेटी तुम मेरी सन्तान हो। तुम गुनाह करो तब भी मैं तुम्हारा भला ही चाहूंगा।"[1]

सत्य के प्रति निष्ठा

भारतीय संस्कृति में सत्य का विशेष महत्व है। हिन्दी-नाटकों में भी सत्य के स्वरूप का उल्लेख मिलता है। प्रसाद जी के नाटक 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में सत्य को महान धर्म बताया गया है। आस्तीक वेदव्यास से बताता है कि उसने सत्य की रक्षा के लिए माँ की आज्ञा का उल्लंघन कर, युद्ध में भाग नहीं लिया, अतः वह मातृद्रोही है। यह सुनकर वेदव्यास जी कहते हैं--"वत्स, सत्य महान धर्म है। इतर धर्म क्षुद्र हैं, और उसी के अंग हैं। वह तप से भी उच्च है, क्योंकि वह दम्भ-विहीन है। वह शुद्ध बुद्धि की आकाशवाणी है। वह अन्तरात्मा की सत्ता है। उसको दृढ़ कर लेने पर ही अन्य सब धर्म आचरित होते हैं। यदि उससे तुम्हारा पद-स्खलन नहीं हुआ तो तुम देखोगे कि तुम्हारी माता स्वयं तुम्हारा अपराध क्षमा और अपना अपराध स्वीकार करेगी।"[2]

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'अशोक' में भी सत्य को सर्वोपरि माना गया है। अशोक के पिता बिन्दुसार ईर्ष्यावश अशोक को अकेले युद्ध-भूमि में जाने पर विवश करते हैं। फिर भी उसकी विजय होती है, इससे वे क्षुब्ध हो उठते हैं, अतः विजयोत्सव की आज्ञा मांगने पर मंत्री चन्द्रसेन को यह कहकर कि उन्हें उनके कार्यों के में हस्तक्षेप करने का

1 'स्वप्नभंग' : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण, पृ०१२१

2 'जनमेजय का नाग यज्ञ' : जयशंकर प्रसाद, आठवां संस्करण, पृ०८५

अधिकार नहीं है, अपमानित करते हैं। तब चन्द्रसेन कहते हैं--"अधिकार है ..... इस पापी पेट की ज्वाला इतनी प्रबल नहीं जो मुझसे सत्य की हत्या करा सके।[1]" इसी प्रकार गोविन्दवल्लभ पन्त के नाटक "राजमुकुट" में आशा शाह की मां उदय को संरक्षण देने को तैयार हो जाती है। यह देख कर पन्ना कहती है--" आपने सत्य का साथ दिया है, आपकी जय हो[2]।"

सत्य का यह रूप सेठ गोविन्ददास जी के नाटक "कर्तव्य"(पूर्वार्द्ध) में भी देखने को मिलता है। वचन की सत्यता को निभाने के लिए राजा दशरथ ने अपने प्राणों से प्रिय पुत्र राम को वनवास दे दिया और उनके वियोग में प्राण त्याग दिया। इस विषय में एक नगरवासी कहता है--" महाराज की सत्यवादिता तो विख्यात ही है, महाराज को अपना वचन पूर्ण करना पड़ा[3]।" आपके नाटक "प्रकाश" की नायिका मनोरमा भी सत्य का समर्थन करती है। मनोरमा का भाई,उसकी भाभी तथा प्रकाश तीनों ही समाज-सेवा का कार्य करते हैं। भाई और भाभी के स्वार्थपूर्ण कार्यों का विरोध करते हुए वह कहती है--" पर मैं तो सत्य मानती हूं, और जब सत्य मानती हूं तब उसका समर्थन मेरा कर्तव्य हो जाता है। सत्य बात चाहे घर के लोगों के विरुद्ध कही जाय, चाहे संसार में किसी के भी विरुद्ध, उसका समर्थन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिए और यह सदा से भारतीय आदर्श रहा है[4]।" इसी नाटक के एक स्थल पर प्रकाश कहता है--" ...... मैं तो मानता हूं कि सत्य को किसी प्रकार की रक्षा की आवश्यकता नहीं। वह हर परिस्थिति में स्वयं अपना रक्षक है[5]।"

अतिथि सत्कार तथा शरणागत रक्षा

भारतीय संस्कृति में अतिथि सत्कार तथा शरणागत रक्षा का विशेष महत्व है। भारतीय संस्कृति के अनुसार अतिथि को देवता

---

१ "अशोक" : लक्ष्मीनारायण मिश्र,पृ०३१
२ "राजमुकुट" : गोविन्दवल्लभ पन्त ,प्रथम संस्करण,पृ०६०
३ "कर्तव्य"(पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास,पृ०१२
४ "प्रकाश" : सेठ गोविन्ददास,द्वितीय संस्करण,पृ०१०५
५ वही, पृ०१४७

मानते हैं तथा शरण में आये हुए की प्राण देकर भी रक्षा करते हैं। प्रसाद के नाटक 'स्कन्दगुप्त' में शरणागत रक्षा को धर्म बताया गया है। पुष्यमित्रों ने स्कन्द के पास दूत भेजकर युद्ध में उससे सहायता मांगी। उनके दूत से स्कन्द कहता है-- 'दूत! केवल संधि-नियम से हम लोग बाध्य नहीं हैं, किन्तु शरणागत रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है।[1]' युद्ध के समय भी मालव के धन कुबेर की लड़की विजया अपने धन के लिए चिन्तित है। यह देखकर रानी जयमाला कहती है कि सोने की चमक देखने वाली आंखें तलवार की चमक नहीं देख सकतीं। यह सुनकर बंधुवर्मा कहते हैं--' प्रिये! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिए[2]।'

आपके नाटक 'अजातशत्रु' में समुद्रदत्त श्यामा वार-विलासिनी के घर आता है और पूछता है कि वहां आकर उसने अनुचित तो नहीं किया? तब श्यामा कहती है --' नहीं श्रीमान् यह तो आपका घर है। श्यामा आतिथ्य धर्म को भूल नहीं सकती-- यह कुटीर आपकी सेवा के लिए सदैव प्रस्तुत है।[3]' इसी नाटक में एक स्थान पर मल्लिका तथागत को अपने यहां आमंत्रित करती है। परन्तु उसी समय उसे पति की मृत्यु का समाचार मिलता है। इस दुःख में भी वह आतिथ्य की महत्ता को नहीं भूलती। वह दासी से कहती है--'किन्तु नहीं सरला! मैं भी व्यवहार व जानती हूं, आतिथ्य परम धर्म है।[4]'

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'अशोक' में भी अतिथि को देवता माना गया है। डायना और मेकडीमस, एण्टीपेटर से मिलने आते हैं। मार्ग में उन्हें एक ग्वाला मिलता है जो उन्हें बताता है कि गांव यहां से दूर है। जब वह दोनों थोड़ा विश्राम के पश्चात् जाने को उद्यत होते हैं तब वह कहता है-- 'क्या कहते हो पथिक! तुम यहां से भूखे चले जाओगे? नहीं, यह नहीं हो सकता-- बड़े भाग्य से अतिथि आते हैं।[5]' वह उन लोगों के लिए दूध का प्रबन्ध करता है

---

१ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण, पृ०१४
२ वही, पृ०४६
३ 'अजातशत्रु' : जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण, पृ०८३
४ वही, पृ०१००
५ 'अशोक' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ०१२३

और कहता है --" दिन ढल गया । दूध पी लो पथिक..... हमारे यहां अतिथि का आसन देवता के बराबर है।"[१] इसी प्रकार आपके नाटक 'राक्षस का मन्दिर' में भी रघुनाथ को, जो असन्तुष्ट होकर घर से चला जाता है, ललिता समझा कर घर लाती है और उससे भोजन करने को कहती है। उसके मना करने पर वह कहती है-" जी नहीं..... बड़े भाग्य से आज आप मेरे अतिथि हैं। अतिथि देवता का स्वरूप होता है।"[२]

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'छाया' में छाया अपने लेखक पति की, उनके मित्रों द्वारा निन्दा सुनकर भी उस पर विश्वास नहीं करती, परन्तु जब वह लोग जाना चाहते हैं तब अतिथि सत्कार को ध्यान में रखकर वह कहती है --"हिन्दू नारी अतिथि को भूखा नहीं जाने देती । चलिए भोजन तैयार है[३]।" वह पुन: कहती है --"..... यह भी न समझना कि आपसे स्नेह या दया पाने के लिए आपको भोजन कराना चाहती हूं। यह तो नारी का धर्म है कि उसके दरवाजे से अतिथि भूखा न जावे[४]।"

आपके नाटक 'रक्षाबन्धन' में बहादुरशाह अपने भाई चांदखां को मार डालना चाहता है। महाराणा उसे अपने यहां शरण देते हैं,फलत: बहादुरशाह उनसे युद्ध करने की धमकी देता है,जिसे सुनकर चांदखां कहता है कि उसके लिए युद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। वह बहादुरशाह के पास चला जायेगा । तब महाराणा कहते हैं--" जो मेवाड़ में आ गया वह मेवाड़ का हो गया । आज से आपकी इज्जत सारे मेवाड़ की इज्जत है।आपकी जिन्दगी सारे मेवाड़ की जिन्दगी है। मेरे दोस्त । दोस्ती सुख के दिनों में गले में हाथ डाल कर हंसने के लिए ही नहीं है, विपत्ति के समय एक-दूसरे के दु:ख को अपना समझने के लिए भी है[५]।" महाराणा को युद्ध के लिए प्रस्तुत

---

१ 'अशोक' : लक्ष्मीनारायण मिश्र,पृ०१२४
२ 'राक्षस का मंदिर' : लक्ष्मीनारायण मिश्र,प्रथम् संस्करण,पृ०६३
३ 'छाया' : हरिकृष्ण प्रेमी,द्वितीय संस्करण,पृ०६२
४ वही,पृ०६२
५ 'रक्षाबन्धन' : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण,पृ०१४

देखकर बादशाह पुन: कहता है कि उसके कारण पूरे देश को संकटमें डालना उचित नहीं है, तब विक्रम कहते हैं --'अत्याचारियों की चुनौती का जवाब देने में मेवाड़ कभी पीछे नहीं रहा । आज भी वह अतिथि-रक्षा के महान् कर्तव्य के साथ-साथ स्वधर्म का पालन करेगा ।'[1]

अतिथि सत्कार का यही रूप प्रेमी जी के एक अन्य नाटक 'स्वप्नभंग' में भी देखने को मिलता है । औरंगजेब द्वारा गद्दी पर आधिपत्य स्थापित कर लेने पर दारा के जीवन में संकट का प्रारम्भ हो जाता है । वह राज्य छोड़ कर चला जाता है और पुन: सेना एकत्र करके औरंगजेब से युद्ध करने का विचार करता है । ऐसे समय महाराणा दारा को अपने यहां आमंत्रित करते हैं,जिससे वह दारा की सहायता कर सके । इस विषय में दारा शाहनवाज से कहता है--' मैं महाराणा की इच्छा का ~~विरोध~~ विरोध कैसे कर सकता हूं ? जिसे संसार में कहीं सहारा नहीं था उसे उन्होंने सहारा दिया है । औरंगजेब की बढ़ती हुई शक्ति की अवहेलना करके अपने अस्तित्व को भी खतरे में डाल कर उन्होंने अतिथि-धर्म का पालन किया है, मैं उनकी किसी इच्छा का विरोध नहीं कर सकता ।'[2]

आपके ही दूसरे नाटक 'आहुति' में नलहारणीगढ़ की राजपूत स्त्रियां बावड़ी पर पानी भरने आती हैं । उनमें से एक स्त्री को देखकर अलाउद्दीन का मन चंचल हो उठता है । वह मीर मिहिमा से उसे अपने हरम में पहुंचाने को कहता है । परन्तु मीर मिहिमा इस अनुचित कार्य को करने से मना कर देता है । अत: रुष्ट होकर अलाउद्दीन उसे देश से निकाल देता है । रणथम्भौर के राजा हम्मीर उसे अपने राज्य में आश्रय देते हैं ,फलस्वरूप अलाउद्दीन उन पर चढ़ाई कर देता है । यह जानकर मीर मिहिमा कहता है कि उसके कारण रणथम्भौर पर विपत्ति आये, यह उचित नहीं है । वह अकेले ही दिल्ली के भरे दरबार में अलाउद्दीन से निपट लेगा । तब हम्मीर कहते हैं --' आप

---

१ 'रक्षाबन्धन' : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण,पृ०२२

२ 'स्वप्नभंग' : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण,पृ०१०९

राजपूतानी आन से शायद परिचित नहीं है मीर साहब । ......राजपूत शरणागत के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देता है । रणथम्भौर में जब तक एक भी राजपूत जीवित है,वह आपका अंगरक्षक बनकर रहेगा ।[1] युद्ध के बीच ही भैयादूज का त्यौहार आता है । उस अवसर पर महारानी मीर महिमा से कहती है--' आज भैयादूज है । हमें भाइयों का टीका करना है । मीर साहब आप हमारे मेहमान हैं--अतिथि हैं । हिन्दू अतिथि को देवता के तुल्य मानते आये हैं,इसलिए सबसे पहले आपका टीका होगा ।[2] युद्ध में अनेक गांव उजड़ गये, अनेक वीर काम आये और राज्यकोष भी खाली हो गया । यह देखकर कोषाध्यक्ष सुरजन सिंह कहते हैं कि एक विदेशी विधर्मी के लिए इतना विनाश ठीक नहीं है । मीर महिमा इतना मूल्यवान तो नहीं है जिसके लिए सारा देश उजाड़ डाला जाय । यह सुनकर हम्मीर कहते हैं-- 'सुरजनसिंह ! आज आप कैसी भटकी-भटकी बातें करते हैं ? क्या किसी क्षत्रिय ने कभी शरणागत की रक्षा से मुंह मोड़ा है । क्षत्रिय के प्राण भले ही चले जायं, उसका क्षत्रित्व नहीं जाना चाहिए । जिस दिन शरणागत क्षत्रिय के द्वार से लौटने लगेगा उस दिन क्षत्रित्व रसातल को चला जायेगा ।[3] चाचा राव रणधीर सिंह जी के वीरगति पाने का समाचार सुनकर हम्मीर दु:खी हो जाते हैं । उस समय सुरजन सिंह पुन: कहते हैं कि मीर महिमा को वापस कर देना चाहिए,क्योंकि वह हम लोगों के लिए शनी बनकर आया है । तब राजा हम्मीर कहते हैं --'जबान पर लगाम लगाओ,सुरजन ! शरणागत का अपमान करना क्षत्रिय की जिह्वा का धर्म नहीं है[4]।'जब सभी चुने हुए वीर सिपाही युद्ध में काम आ जाते हैं तब राजा हम्मीर अपने दोनों पुत्र जय और विजय को मीर महिमाशाह के साथ युद्ध भूमि में भेजते हैं । मीर महिमा के मना करने पर रानी कहती है--' अतिथि हमारा देवता है । अतिथि के लिए हम अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु देने में संकोच नहीं करते[5] ।'

---

१ 'आहुति' : हरिकृष्ण प्रेमी, संस्करण १९४०,पृ०२२-२३

२ वही, पृ० ३२

३ वही, पृ० ४४

४ 'आहुति' : हरिकृष्ण प्रेमी,संस्करण १९४०,पृ०४५

५ वही, पृ० ६६

उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटक `जयपराजय` में भी अतिथि रक्षा को क्षत्रिय का धर्म बताया गया है । मंडोर के राजकुमार रणमल अपने देश से निर्वासित होकर मेवाड़ के राजा लक्षसिंह के यहाँ आता है । राजपुरोहित फोटिंग का कहना है कि रणमल का आना अशुभ है अवश्य प्रलय होगा । यह सुन कर कुमार कहते हैं --`अशान्ति हो, महानाश अथवा प्रलय हो पर राजपूत अपनी मर्यादा को छोड़ दें, ऐसा नहीं हो सका.... रणमल हमारे अतिथि हैं,हमारी शरण में आये हैं । उनकी रक्षा करना हमारा धर्म है[1] ।` कुमार के न मानने पर मंत्री राजा लक्षसिंह से कहते हैं कि रणमल का यहाँ रहना उचित नहीं है,क्योंकि इससे अज्ञात विपत्ति आने की आशंका है । यह सुनकर लक्षसिंह कहते हैं --`अज्ञात विपत्ति आयेगी, परन्तु शरण में आये दुखी को आश्रय देना तो राजपूतों का पुरातन कर्तव्य है, असहाय की सहायता करना तो उनका धर्म है[2] ।`

आपके नाटक `दाहर अथवा सिंध पतन` में अरब निवासी अलाफ़ी को देशनिष्कासन का दण्ड मिलने पर, सिंध के राजा दाहर ने अपने राज्य में आश्रय दिया । ईराक और सिन्ध युद्ध के समय अलाफ़ी के पास पत्र आता है कि यदि वह सिन्ध के साथ विश्वासघात करने को तैयार हो जाय तो उसके अपराध को क्षमा करके उसे पुन: वापस बुला लिया जायेगा । इस बात का ज्ञान होने पर दाहर अलाफ़ी से कहते हैं कि --`यदि तुम इस पत्र के द्वारा अपने अपराध क्षमा की सूचना पाकर अरब जाना चाहो तो प्रसन्नतापूर्वक जा सकते हो । आर्यों के शास्त्र में शरणागत को सर्वदा अभयदान लिखा है[3] ।` ईराक द्वारा पुन: आक्रमण के समय युवराज कहते हैं कि अलाफ़ी पर विश्वास नहीं करना चाहिए । तब राजा उससे पुन: कहते हैं --`तुम ऐसी परिस्थिति में किस कर्तव्य का पालन करोगे,आर्य शास्त्र और आर्य गौरव सर्वस्व लुटा कर भी शरणागत की रक्षा का उपदेश देता है[4] ।`

---

१ `जयपराजय` : उपेन्द्रनाथ अश्क,चतुर्थ संस्करण,पृ०२६

२ वही, पृ०३२

३ `दाहर अथवा सिंध पतन`: उदयशंकर भट्ट, द्वितीय संस्करण,पृ०३८

४ वही, पृ०११०

भारतीय संस्कृति के अनुसार ईश्वर है और वही सृष्टि का कर्ता, पालक तथा संहारक है । सृष्टि का पालक होने के कारण वह मंगलमय सबका कल्याण करता है । ईश्वर के प्रति इस अटूट विश्वास ने जनजीवन को पूर्णत: आप्लावित कर लिया है, अत: साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है । हिन्दी नाटक भी इससे अप्रभावित न रह सके ।

प्रसाद जी के नाटक `चन्द्रगुप्त` में अलका चाण्यायन से कहती है कि उसका भाई आम्भीक विदेशियों से मिल गया है, अत: वह गृहत्याग कर देश-कल्याण हेतु उनके पास आई है । यह सुनकर चाण्यायन कहते हैं -- `अच्छा आओ देवी तुम्हारी आवश्यकता है । मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाये रहता है, हम सब उसे नहीं समझ सकते[1]।` इसी प्रकार `विशाख` में भी चन्द्रलेखा ईश्वर से प्रार्थना करती है-- `प्रभो ! एक तुम्हीं इस दु:ख से उबारने में समर्थ हो । दीनों की पुकार पर तुम्हीं तो आते हो..... कितना ही दु:ख दो फिर भी मुझे विश्वास है कि तुम्हीं मुझे उनसे उबारोगे, तुम्हीं सुधारोगे विपद भंजन[2]।`

आपके एक अन्य नाटक `स्कन्दगुप्त` में स्कन्दगुप्त पुष्यमित्रों से युद्ध कर रहा है,उसी समय मालव से बंधुवर्मा उसे सहायता के लिए बुलाते हैं । चक्रपालित भी स्कन्दगुप्त के साथ मालव जाना चाहता है, परन्तु स्कन्दगुप्त उसे रोक देता है और कहता है कि इस समय राजधानी से सहायता की आशा नहीं की जा सकती,अत: इस समय उन लोगों को अपना ही भरोसा करना चाहिए । यह सुनकर पर्णदत्त कहते हैं -- `कुछ चिन्ता नहीं युवराज ! भगवान सब मंगल करेंगे चलिए, विश्राम करें[3]।` इसी नाटक के एक स्थल पर रामा का पति शर्वनाग बन्दीगृह में महारानी देवकी की हत्या करने आता है । रामा

---

१ `चन्द्रगुप्त` : जयशंकर प्रसाद, पृ०८५

२ `विशाख` : जयशंकर प्रसाद, पृ०४६, द्वितीय संस्करण

३ `स्कन्दगुप्त` : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण, पृ०१४

यह बात देवकी से बताती है तब देवकी कहती है--' इस कठोर समय में भगवान की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान कर[1]।' परन्तु रामा को देवकी की चिन्ता है,अत: देवकी पुन: कहती है --'....... मेरी लाज का बोझ उसी पर है जिसने वचन दिया है, जिस विपदभंजन की असीम दया अपना स्निग्ध अंचल सब दु:खियों के आंसू पोंछने के लिए सदैव हाथ में लिये रहती है[2]।' रामा अपने पति को आता हुआ देखकर कहती है कि महारानी इस समय उसने पिशाच का रूप धारण कर लिया है । तब महारानी देवकी कहती है--' न घबरा रामा ! एक पिशाच नहीं,नरक के असंख्य दुर्दान्त प्रेत और क्रूर पिशाचों का त्रास और उनकी ज्वाला दयामय की कृपा-दृष्टि के बिन्दु से शान्त होती है[3]।' एक अन्य स्थान पर भीमवर्मा देवसेना से बताते हैं कि शक मंडल से विजय का समाचार आया है । जिसे सुनकर देवसेना कहती है --' भगवान की दया है[4]।' यह जानकर कि शत्रु हार गये और स्कन्द को विक्रमादित्य की उपाधि मिली है देवसेना कहती है --' मंगलमय भगवान सब मंगल करेंगे[5]।'

जयशंकर प्रसाद के दूसरे नाटक 'अजातशत्रु' में मल्लिका अपने पति की मृत्यु से दु:खी हो कहती है --' हे प्रभु ! मुझे बल दो..... विपत्तियों को सहन करने के लिए बल दो । मुझे विश्वास दो कि तुम्हारी शरण जाने पर कोई भय नहीं रहता, विपत्ति और दु:ख उस आनन्द के दास बन जाते हैं,फिर सांसारिक आतंक उसे नहीं डरा सकते हैं[6]।' दासी उसे सान्त्वना देती हुई कहती है-- 'स्वामिनी, इस दु:ख में भगवान ही सान्त्वना दे सकेंगे -- उन्हीं का अवलम्ब है[7]।' 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में भी नाग लोग रानी वपुष्टमा को उठा ले जाते हैं,परन्तु माणवक आस्तीक

---

१ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण,पृ०६६

२ वही, पृ०६६

३ वही, पृ०६६

४ वही, पृ०६८

५ वही, पृ०६६

६ 'अजातशत्रु' : जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण,पृ०६६

७ वही, पृ०१००

और सरमा अत्यन्त चतुरता से उन्हें नागों से छुड़ा कर वेदव्यास ऋषि के आश्रम में पहुंचा देते हैं । सरमा को महारानी के भविष्य के लिए चिन्तित देख वेदव्यास कहते हैं --' है अवश्य, किन्तु कोई भय नहीं । विश्वात्मा सबका कल्याण करता है ।'[1]

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'अशोक' में भी डायना के पागल हो जाने पर एण्टीओकस दु:खी होकर कहता है --' वह दयामय जो कुछ करता है, सब भलाई के लिए करता है ।'[2] इसी प्रकार दशाश्वमेध' नाटक में वीरसेन और अंगारक में द्वन्द्व युद्ध होता है । वीरसेन के विजयी होने पर भैरव सिंह कहते हैं --'महामाया अपने भक्त की रक्षा बराबर करती रही है ।'[3]

सेठ गोविन्ददास के नाटक 'कुलीनता' में भी राजा विजय सिंह और नागराज का युद्ध होता है । राजकुमारी रेवा अपने पिता विजय सिंह के लिए चिन्तित है । उसकी सहेली विंध्यबाला कहती है--'उनकी प्राणरक्षा का भी उपाय सोच रही हूं, राजकुमारी भगवान कोई न कोई उपाय सुझावेगा ही ।'[4]

आपके नाटक 'कर्ण' में भी द्यूत में युधिष्ठिर द्वारा सर्वस्व यहां तक कि द्रौपदी को भी हार जाने पर,उत्तेजित भीम से अर्जुन कहते हैं --' ..... भगवान ने हमें बड़ी बड़ी आपत्तियों से बचाया है । इससे भी वे ही बचावेंगे ।'[5] सभा में दु:शासन द्वारा वस्त्र खींचे जाने पर द्रौपदी भगवान से प्रार्थना करती है --' हे भगवान् ! परमात्मन् ! तुम हो, यह मेरा विश्वास है । धर्म है, यह भी मैं मानती हूं । क्या एक सती साध्वी का इस प्रकार अपमान हो सकेगा ? अब तुम.... केवल तुम हो, मेरे भगवन्, और कोई... ।'[6]

---

१ 'जनमेजय का नाग यज्ञ' : जयशंकर प्रसाद,आठवां संस्करण,पृ०८६
२ 'अशोक' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ०१७६
३ 'दशाश्वमेध' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रथम संस्करण,पृ० ८०
४ 'कुलीनता' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण,पृ०७०
५ 'कर्ण' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण, पृ०३३
६ वही, पृ०३७

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक `रक्षा बन्धन` में एक सैनिक के पूछने पर कि युद्ध में उसकी मृत्यु के बाद उसके बच्चों का क्या होगा, माया कहती है--` परमेश्वर को सबकी चिन्ता है।`[1]

पतिव्रत धर्म

भारतीय संस्कृति में नारी का अत्यन्त उज्ज्वल रूप देखने को मिलता है। सीता, सावित्री आदि के चरित्र इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भारतीय नारी दया, प्रेम और करुणा की मूर्ति होती है। वह पृथ्वी के समान सहनशील और आकाश के समान विशाल हृदय होती है। प्रसाद का नारी विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था। उनकी नारी त्याग और ममता की जीवन्तमूर्ति होती है। अजातशत्रु की मल्लिका दया की मूर्ति है। वह अपना अनिष्ट करने वालों को भी क्षमा कर देती है। मालविका त्यागमयी नारी है। चन्द्रगुप्त के प्रति अपने मूक प्रेम को हृदय में रखकर चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर देती है। कल्याणी का त्याग भी मन में एक सुखद टीस उत्पन्न करता है। `विशाख` की इरावती पतिपरायणा स्त्री है। वह दुराचारी पति द्वारा अनेक यंत्रणायें सहन करके भी उसके लिए मंगल कामना करती है। एक अन्य स्थान पर चन्द्रलेखा के लिए प्रेमानन्द कहते हैं-- `चन्द्रलेखा सी सती का इन्द्र भी अपकार नहीं कर सकता।`[2]

इसी प्रकार प्रसाद जी के दूसरे नाटक `स्कन्दगुप्त` में देवसेना स्कन्दगुप्त कोमन से पति मान लेती है,परन्तु परिस्थितिवश वह उसे प्राप्त नहीं कर पाती है,फिर भी आजीवन उसे ही पति रूप में मानती है। वह स्कन्द से कहती है --` इस हृदय में ..... आह ! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़कर न तो कोई आया और न वह आयेगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के भंवर में फंसा कर कलुषित न कीजिए। नाथ ! मैं आपकी ही हूं, मैंने अपने को दे

---

१ `रक्षाबन्धन` : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण,पृ०७०

२ `विशाख` : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण,पृ०१०४

दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहता[1] ।'

'अजातशत्रु' में प्रसेनजित् कहते हैं -- 'कुल-शील पालन ही तो आर्य ललनाओं का परमोज्ज्वल आभूषण है । स्त्रियों का यही मुख्य धन है[2] ।' इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर पति के हाथों प्राप्त मृत्यु को सौभाग्य की बात मानी गई है । मागंधी अपनी सपत्नी रानी पद्मावती से द्वेष रखती है,अत: वह राजा उदयन को अपने छल के जाल में फंसा कर रानी पद्मावती से विमुख कर देती है और उनके हृदय में पद्मावती के लिए सन्देह का बीजारोपण कर देती है । अत: राजा उदयन उसका वध करने को तत्पर है । यह देखकर पद्मावती कहती है --' ..... यदि मैं अपराधिनी हूं तो दण्ड भी मुझे स्वीकार है, और वह दण्ड, वह शान्तिदायक दण्ड, यदि स्वामी के कर कमलों से मिले तो मेरा सौभाग्य है । प्रभु ! पाप का दण्ड ग्रहण कर लेने से वही पुण्य हो जाता है[3] ।' राजा उदयन अत्यन्त क्रोधित होकर कहते हैं कि अपने अन्तिम समय वह जिसको चाहे प्रार्थना कर ले । तब रानी कहती है --' मेरे नाथ ! इस जन्म के सर्वस्व ! और परजन्म के स्वर्ग ! तुम्हीं मेरी गति हो और तुम्हीं मेरे ध्येय हो, जब तुम्हीं समक्ष हो तो प्रार्थना किसको करूं ? मैं प्रस्तुत हूं[4] ।'

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'वत्सराज' में कुमार के बौद्ध भिक्षु हो जाने से उदयन तथा दोनों रानियां वासवदत्ता और पद्मावती दु:खी हैं । पद्मावती इस दु:ख को सहन न कर सकने के कारण मूर्छित हो जाती है , तब वासवदत्ता कहती है --' मर जाय अभागिनी ... पति के सामने पुत्र को चिन्ता कर रही है ... जिसके पुण्य से पुत्र आते जाते हैं... यह तो अभी है ही[5] ।' कुछ चैतन्य होने पर पद्मावती अस्फुट स्वर में कुमार को पकड़ने

---

१ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद ,नवां संस्करण,पृ०१०४

२ 'अजातशत्रु' : जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण, पृ०६५

३ वही, पृ०७२

४ वही, पृ०७२-७३

५ 'वत्सराज' : लक्ष्मीनारायण मिश्र ,तृतीय संस्करण,पृ०१२०

को कहता है । तब वासवदत्ता पुन: कहता है --"भाग जाने दो .... छोड़ उसे ..... कुलघ्न पुत्र को लेकर क्या करोगी ? आर्य पुत्र के चरण हृदय से लगा अभागिनी ..... अकाल मृत्यु क्यों मरोगी ?[1] वह पुन: कहती है --" दो में जहां एक की कामना करनी होगी .... मैं पति की कामना करूंगी .... और तुम भी यही करोगी .... सती धर्म से बड़ा दूसरा क्या धर्म हमारे लिए है[2]।" पद्मावती के स्वस्थ होने पर वासवदत्ता कहती है --"पतिव्रत इस जगत का सबसे बड़ा धर्म है देव[3]।"

गोविन्दवल्लभ पन्त के 'वरमाला' नाटक में भी वैशालिनी अविक्षित को अपना पति मान लेती है अत: पिता द्वारा स्वयम्बर के आयोजन को अस्वीकार कर देती है और अविक्षित की खोज में निकल जाती है । अनेक वनों तथा पहाड़ों में ढूढ़ने के पश्चात् वह कहती है --" किन्तु हाय... मैं इसी प्रकार बैठी रहूंगी, परमेश्वर करे कि मेरे पांव जड़ बन कर इस धरती में धंस जांय और मैं कहीं न जा सकूं, मेरे विरह का रुदन जल उस जड़ को सींचने के लिए पर्याप्त हो । वह जड़ अंकुरित हो जाय और मेरे रोम-रोम उसके शाखा-पत्र में परिवर्तित हो जांय, जिसमें कोई मधुमास मेरे प्रेम को विकसित कर फूल खिला दें । किसी दिन जब प्रियतम धूप में थक कर मेरे पास आ जायगा, तो मैं उसे छाया दान दूंगी, और सूखने पर यदि शिशिर की एक भी दीर्घ और शीत रात्रि में जलकर उसे सुख पहुंचा सकूंगी, तो अपना जीवन धन्य समझूंगी[4]।"

सेठ गोविन्ददास जी के नाटक 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) में सीता राम से कहती हैं--" परन्तु आपके बिना अयोध्या अथवा मिथिला के राज-वैभव मुझे क्या सुख देते, आर्य पुत्र ? मैं सत्य कहती हूं इन तेरह वर्षों का वन का, यह सुख मैं जीवन भर न भूलूंगी[5]।" रावण सीता को अशोकवन में रखता

---

१ 'वत्सराज' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, तृतीय संस्करण, पृ०१२०

२ वही, पृ०१२१

३ वही, पृ०१२४

४ 'वरमाला' : गोविन्द वल्लभ पन्त , आठवां संस्करण, पृ०७०

५ 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण, पृ०२३

है । वहां सरमा नाम की राक्षसी सीता से कहती है कि रावण ने जब भी किसी पर दृष्टि डाली वह लोभवश अथवा प्राणों के भय से समर्पण कर देती है पर आपने अब तक उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा । यह सुनकर सीता कहती हैं --'मुझे तो अपने पर उल्टा इस बात का आश्चर्य हो रहा है कि बिना आर्य पुत्र के अब तक मैं प्राण कैसे रख सकी ।'[1] वह पुन: कहती हैं -- 'मैंने आज तक पिता तुल्य पुरुषों और बालकों के अतिरिक्त समवयस्क किसी अन्य पुरुष का पूर्णरूप से मुख भी नहीं देखा, सखि ! मनसा वाचा और कर्मणा वे ही मेरे सर्वस्व हैं ।'[2] नीति और धर्म की रक्षा के लिए रावण के यहां रहने के कारण राम सीता का त्याग कर देते हैं और कहते हैं कि वह स्वतंत्र है जहां चाहे जा सकती है । यह सुनकर सीता कहती हैं--' आप कहते हैं मैं स्वतंत्र हूं और जहां चाहे वहां जा सकती हूं, परन्तु, नाथ, इन चरणों के अतिरिक्त संसार में मेरे लिए स्थान ही कहां है ।'[3] लक्ष्मण जब सीता को वन में छोड़कर आने लगते हैं तब सीता राम को एक पत्र देती हैं,जिसमें लिखती हैं --'जब मेरा अन्त समय उपस्थित होगा उस समय आपके पाद पद्मों में चित्त रखकर मैं यही विनय करती हुई प्राणों को तजूंगी कि जन्म जन्म मुझे आपके समान ही पति प्राप्त हो ।'[4] 'प्रकाश' नाटक में इन्दु(तारा) भी कहती हैं-- '.... हिन्दू स्त्री के लिए इहलोक और परलोक दोनों की ही दृष्टि से पतिव्रत से मूल्यवान और कोई वस्तु नहीं है ।'[5]

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'छाया' में छाया अपने लेखक पति प्रकाश की मान रक्षा के लिए उससे दूर गांव में रह कर कष्टमय जीवन व्यतीत करती है । उसकी पुत्री स्नेह उससे इसका कारण पूछती है तब वह कहती है--'बेटी, लोग जब देखेंगे कि अब इतने बड़े साहित्य सेवी और कलाकार की पत्नी और बच्चों को मुट्ठी भर अन्न भी नहीं मिलता तो उनके दिल में

---

१ 'कर्तव्य'(पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास,द्वितीय संस्करण,पृ०४०

२ वही, पृ०४१

३ वही, पृ० ४२

४ वही, पृ० ७०

५ 'प्रकाश' : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण,पृ०१७६

तुम्हारे बाबूजी के प्रति अश्रद्धा होगी । लोगों ने उनकी जो तस्वीर अपने दिल में खींच रखी है, मैं उसके रंग हलके नहीं करना चाहती । इसालिए हम इस गांव में आ गए हैं बेटी[1] ।' इसी नाटक के एक स्थल पर छाया पति के प्रति विश्वास को ही अपना सम्पत्ति समझती है । छाया कहती है --' रहने दीजिए शंकर बाबू ! उनके विरुद्ध आप अपनी आंखों का विश्वास कर सकते हैं लेकिन मैं आपकी जबान का भरोसा नहीं कर सकती[2] ।' तब भवानी कहता है कि यह उसका दुर्भाग्य है कि वह उनकी बातों का विश्वास नहीं कर रही है । यह सुनकर छाया कहती है --' मेरा दुर्भाग्य । जिस दिन उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा था उस दिन मेरा भाग्य उनके ही भाग्य में मिल गया । उनसे अलग मेरा कोई भाग्य नहीं[3] ।' उनकी बातों पर जब छाया को किसी प्रकार विश्वास नहीं होता तब वे प्रयत्न करते हैं कि छाया स्वयं चलकर सब कुछ देख ले । उस समय छाया कहती है --' कवि पर उसकी छाया का विश्वास उसकी सबसे बड़ी निधि है । आज आप लोग मुझे भी कंगाल बनाने आये हैं[4] ।'

स्त्री का स्थान

नारी का यह उज्ज्वल रूप देखकर ही भारतीय संस्कृति में उसे इतना उच्च स्थान प्रदान किया गया है तथा उसे देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । भारतीय संस्कृति में नारी अवध्य मानी गई है । सेठ गोविन्द-दास के नाटक 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) में राम ने धर्म की रक्षा के लिए ताड़का का वध किया था परन्तु उसकी ग्लानि वे नहीं भूल सके । एक स्थान पर वे सीता से कहते हैं--' ताड़का की स्त्री-हत्या की ग्लानि को, यद्यपि वह पुण्य कार्य के लिए की गई थी, मैं अब तक हृदय से दूर नहीं कर सका हूं[5] ।' नारी सदा से सम्माननीय

---

१ 'छाया' : हरिकृष्ण प्रेमी , द्वितीय संस्करण, पृ०२६
२ वही, पृ० ५७
३ वही, पृ० ५७
४ वही, पृ०६०
५ 'कर्तव्य' (उत्तरार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण, पृ०५

मानी गई है उसके अपमान का परिणाम सदैव भयंकर होता है । उदयशंकर भट्ट के नाटक `अम्बा` में भीष्म को मृत्यु शय्या पर पड़े देखकर कृष्ण कहते हैं-- `एक स्त्री के अनादर का फल यह महाभारत हुआ और दूसरी स्त्री के अनादर का फल है भीष्म की मृत्यु[1] ।`

इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति में कुछ अन्य ऐसी विशेषतायें भी हैं, जो इसे अन्य संस्कृतियों से पृथक करती हैं । यथा पितृ भक्ति, स्वामिभक्ति, कर्तव्य परायणता, संस्कार, वर्णाश्रम व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, कृतज्ञता, नीति, आदर्श आदि ।

पितृ भक्ति

भारतीय संस्कृति के अनुसार पिता का स्थान ईश्वर तुल्य है । प्रसाद जी के नाटक `अजातशत्रु` में विरुद्धक पिता के विरुद्ध विद्रोह करता है, परन्तु अपनी भूल का ज्ञान होने पर वह पिता से क्षमा मांगते हुए कहता है --` पृथ्वी के साक्षात् देवता । मेरे पिता ! मुझ अपराधी पुत्र को क्षमा कीजिए[2] ।` राजा उसे क्षमा तो कर देते हैं, परन्तु अपना उत्तराधिकारी नहीं मानते,क्योंकि वह दासी-पुत्र है । तब बुद्ध कहते हैं --` ..... और भी, क्या उस आर्य पद्धति को तुम भूल गये कि पिता से पुत्र की गणना होती है[3] ।` एक अन्य स्थल पर अजातशत्रु जिसने अपने पिता बिम्बसार को राज्यलिप्सा के कारण बन्दी बना लिया था, बाद में उनके चरणों में गिर कर क्षमा मांगता है । उसे चरणों में गिरा देखकर बिम्बसार कहते हैं कि इस प्रकार उनके चरणों में गिर कर उसे सिंहासन की मर्यादा भंग नहीं करनी चाहिए । तब अजातशत्रु कहता है --` नहीं पिता और पुत्र का यही सिंहासन है[4] ।`

पितृभक्ति का उदाहरण सेठ गोविन्ददास जी के नाटक `कर्तव्य` (पूर्वार्द्ध) में भी दृष्टिगोचर होता है । राम पिता की आज्ञा से चौदह

---

१ `अम्बा` : उदयशंकर भट्ट, प्रथम संस्करण,पृ०११०

२ `अजातशत्रु` : जयशंकरप्रसाद, दसवां संस्करण,पृ० १५८

३ वही, पृ० १६०

४ `अजातशत्रु` : जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण,पृ० १७४

वर्ष का बनवास सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं । वनगमन के समय अयोध्यावासियों की व्याकुलता देखकर राम वसिष्ठ मुनि से कहते हैं --' आपके प्रयत्न से प्रभो ! अपने पर प्रजा का यह अत्यधिक प्रेम देख कर इनके वियोग से क्या मुझे दु:ख न होगा ? परन्तु पूज्यपाद पिता जी की आज्ञा का तो अक्षरश: पालन करूंगा, भगवन् ।'[1] वसिष्ठ मुनि भी प्रजा से कहते हैं --' पिता की आज्ञा मानना राम का धर्म है ।'[2]

स्वामिभक्ति

भारतीय संस्कृति का एक गुण है, स्वामिभक्ति । स्वामिभक्ति के लिए अपने प्राण उत्सर्ग करना महान कर्तव्य है । उसके कुछ उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी उपलब्ध होते हैं ।

प्रसाद जी के नाटक 'स्कन्दगुप्त' में भटार्क के कहने से शर्वनाग महादेवी की हत्या करने आता है, परन्तु उसकी पत्नी रामा उसे इस जघन्य कार्य से रोकना चाहती है । उसके न मानने पर वह कहती है -- 'तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूंगी । मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उसके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति तो क्या स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पायेगा ।'[3] गोविन्दवल्लभ पन्त के नाटक 'राजमुकुट' में स्वामी के पुत्र उदय के प्राणों की रक्षा करने के लिए पन्ना उसे बारी की टोकरी में रखकर महल से बाहर भेज देती है और उसके स्थान पर अपने पुत्र चन्दन को लिटा देती है, जिसे बनवीर उदय समझ कर मार डालता है । यह देखकर बारी कहती है --' स्वामी के ऋण का ऐसा प्रतिशोध ! तुम्हें प्रणाम है देवी ।'[4]

कर्तव्य परायणता

कर्तव्य परायणता भारतीयता का विशेष गुण है । सेठ गोविन्ददास के नाटक 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) में वशिष्ठ राम से कहते हैं --

---

१ 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) : गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण, पृ०१६

२ वही, पृ०१६

३ 'स्कन्दगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण, पृ०६४

४ 'राजमुकुट' : गोविन्दवल्लभ पन्त, प्रथम संस्करण, पृ०५४

'.... तुम्हारे सदृश्य कर्तव्यपरायण और प्रजा रंजक कौन होगा, जिसने प्रजा-रंजन के लिए वैदेही सदृश्य पत्नी का भी त्याग कर दिया[1]।' इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर लक्ष्मण की मृत्यु के से शोकाकुल राम से वशिष्ठ मुनि कहते हैं --' शोक नहीं, राम शोक नहीं । तुमने तो संसार के सम्मुख मनुष्य जीवन का ऐसा आदर्श उपस्थित किया है जैसा आज-पर्यन्त किसी ने नहीं किया । कर्तव्य के लिए तुमने राज्य छोड़ा, परम प्रिय सती-साध्वी पत्नी का चिर वियोग सहा और अन्त में प्राणों से भी प्यारे भ्राता को भी खो दिया । अगणित स्वार्थों को त्याग तुमने प्रजा को कर्तव्य का मार्ग दिखाया है[2]।'

हरिकृष्ण प्रेमी के 'रक्षाबन्धन' नाटक में युद्ध के आह्वान पर भी राजकुमार श्यामा भीलनी के प्रेम में पड़ कर समय से नहीं युद्धभूमि में नहीं पहुंच सके अत: राजा ने उसी रात श्यामा से उनका विवाह कर, प्रात:काल ही अपने एकमात्र पुत्र को फांसी की सजा दे दी । दु:खी श्यामा से चारणी कहती है--' प्रेम हमारे स्वार्थ का सर्वनाश भले ही करे, पर यदि कर्तव्य के पथ पर, बलिदान के पथ पर जाने वाले को एक क्षण भी विलमा रखे, तो उसका गला घोंटना ही पड़ेगा[3]।' वह पुन: कहती है कि राजकुमार की मृत्यु का दु:ख उसे ही अकेले नहीं है राजा क भी इससे दु:खी हैं । परन्तु वे इस दु:ख को प्रगट नहीं करते, क्योंकि --' बात यह थी कि वे संयम करना जानते थे, हृदय को कुचल कर रखना जानते थे । उन्होंने कर्तव्य-पथ पर प्रेम का उत्सर्ग करना सीखा था[4]।'

वर्ण व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है । अन्य संस्कृतियों में वर्ण व्यवस्था का उल्लेख नहीं मिलता है । अत्यन्त

---

१ 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण, पृ०७१

२ वही, पृ०६३

३ 'रक्षाबन्धन' : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण, पृ०१४

४ वही, पृ०४७

प्राचीनकाल से भारतीय समाज को व्यवस्थित रखने के लिए उसे चार वर्णों में विभक्त किया गया है -- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । ब्राह्मण का विशेष महत्व था । वह सम्माननीय होता था । राजा भी उसका सम्मान करते थे । शूद्र सबसे निम्न माने जाते थे । उनका स्पर्श भी निषिद्ध कर दिया गया था । हिन्दी नाटकों में वर्ण-भेद के अनेक उदाहरण मिलते हैं ।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में ब्राह्मण के महत्व को लेखक ने नन्द के द्वारा (इस प्रकार) व्यक्त कराया है --' यह समझ कर कि ब्राह्मण अवध्य है, तू मुझे भय दिखलाता है ।'[1] इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर चाणक्य चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक करना चाहता है, यह देखकर पर्वतेश्वर कहता है कि ये लोग भारतीय संस्कारों का प्रतिपादन नहीं करते हैं, अत: ये वृषल हैं और राज्य के अधिकारी नहीं हैं । यह सुनकर चाणक्य कहता है --' धर्म के नियामक ब्राह्मण हैं, मुझे पात्र देखकर, उसका संस्कार करने का अधिकार है ।'[2] वह पुन: कहता है --'ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव है । वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संघटन कर लेगा ।'[3] एक अन्य स्थल पर पर्वतेश्वर चाणक्य का अपमान करता है, जिससे क्रोधित होकर चाणक्य कहता है --' रे पददलित ब्राह्मणत्व .... एक बार, अपनी ही ज्वाला से जल ! उसकी चिनगारी से तेरे पोषक वैश्य, सेवक, शूद्र और रक्षक क्षत्रिय उत्पन्न हों ।'[4]

गोविन्ददास के नाटक 'कर्त्तव्य' (पूर्वार्द्ध) में भी वर्ण व्यवस्था का रूप देखने को मिलता है । वर्ण व्यवस्था के अनुसार तप का अधिकार शूद्रों को नहीं है वे केवल सेवा कार्य ही कर सकते हैं । राम के राज्य में एक ब्राह्मण पुत्र की अकाल मृत्यु हो जाती है । वशिष्ठ मुनि इसका कारण इस प्रकार बताते हैं --' दण्डकारण्य में शाम्बूक नामक एक शूद्र तप कर रहा है । दण्डकारण्य तुम्हारे राज्य में है । इस पाप से यह ब्राह्मण पुत्र मरा है ।'[5]

---

१ 'चन्द्रगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, पृ०६७
२ वही, पृ०८०
३ वही, पृ०८०
४ वही, पृ०८१
५ 'कर्त्तव्य' (पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण, पृ०७१

संस्कार

भारतीय संस्कृति के अनुसार परिवार में कतिपय संस्कारों का महत्व माना गया है । इन संस्कारों का उल्लेख हिन्दी नाटकों में भी मिलता है । प्रसाद जी के नाटक `चन्द्रगुप्त` में चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की बात सुन कर पर्वतेश्वर कहता है कि यह लोग वृषल कहे हैं अतः सिंहासनारूढ़ होने योग्य नहीं है । यह सुनकर चाणक्य कहता है--`आर्य क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व मिला, वस्तुत: ये क्षत्रिय हैं । बौद्धों के प्रभाव में आने से इनके श्रौत संस्कार छूट गये हैं अवश्य, परन्तु इनके क्षत्रिय होने में कोई सन्देह नहीं[१] ।`

इसी प्रकार भारतीय संस्कृति में अग्निहोत्र की अग्नि को सदा प्रज्ज्वलित रखने की व्यवस्था की दी गई है । प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह इस अग्नि को सदैव प्रज्ज्वलित रखे । प्रसाद जी के नाटक `जनमेजय का नाग यज्ञ` में भी कुलपति वेद ने अग्निहोत्र के लिए पुन: विवाह किया । इस बात का उल्लेख करते हुए कश्यप कहते हैं --` अभी तो कुछ वर्ष हुए अग्निहोत्र के लिए उन्होंने फिर पाणिग्रहण किया है[२] ।` इसी नाटक में एक स्थान पर सोमश्रवा कहता है --`पाणिगृहीता भार्या पितृकुल में वास करेगी तो मेरा अग्निहोत्र कैसे चलेगा[३] ।` सेठ गोविन्ददास ने `कर्तव्य`(पूर्वार्द्ध) में इस बात का उल्लेख इस प्रकार किया है --` मण्डप के बीच अग्निहोत्र की वेदी में से थोड़ा थोड़ा धूम उठ रहा था[४] ।`

कृतज्ञता

कृतज्ञता भी भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण तत्व है । प्रसाद जी के नाटक `चन्द्रगुप्त` में सिल्यूकस वन में अचेत पड़े हुए चन्द्रगुप्त

---

१ `चन्द्रगुप्त` : जयशंकर प्रसाद, पृ०८०

२ `जनमेजय का नाग यज्ञ` : जयशंकर प्रसाद,आठवां संस्करण,पृ०२७

३ वही, पृ०६०

४ `कर्तव्य`(पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास,द्वितीय संस्करण,पृ०२२

के प्राणों की रक्षा करता है । चैतन्य होने पर वह कहता है--'भारतीय कृतघ्न नहीं होते । सेनापति ! मैं आपका अनुगृहीत हूं ।'[1] उन्हें परस्पर बातें करते देख अलका समझती है कि चन्द्रगुप्त ने भी शत्रुओं से अभिसंधि कर ली है। वह दाण्डयायन से इस बात का उल्लेख करती है,जिसे सुन कर चन्द्रगुप्त कहता है--'देवी कृतज्ञता का बन्धन अमोघ है ।'[2] इस कृतज्ञता के कारण ही जब सिकन्दर और सिल्यूकस युद्ध करते हुए महल में घुसते हैं और चन्द्रगुप्त के सैनिकों द्वारा घेर लिए जाते हैं तब चन्द्रगुप्त कहता है --'यवन सेनापति मार्ग चाहते हो या युद्ध ? मुझ पर कृतज्ञता का बोझ है तुम्हारा जीवन ।'[3] वह उन्हें छोड़ देता है और कहता है --' .... जाओ सेनापति ! सिकन्दर का जीवन बच जाय तो फिर आक्रमण करना ।'[4] इतना ही नहीं दुबारा युद्ध में घायल सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त उसके सेना निवेश में पहुंचा देता है और कहता है--'यवन सम्राट ! आर्य कृतघ्न नहीं होते । आपको सुरक्षित स्थान पर पहुंचा देना ही मेरा कर्तव्य था । सिन्ध के इस पार अपना सेना निवेश में आप हैं, मेरे बन्दी नहीं । मैं जाता हूं ।'[5]

नीति और आदर्श

भारतीय नीति के अनुसार ब्राह्मण,दार्शनिक,साधु,स्त्री, बालक तथा निर्बल को अवध्य माना जाता है । परन्तु सद्सिद्धान्तों की रक्षा के लिए बड़े से बड़ा युद्ध करना भी कर्तव्य है । सेठ गोविन्ददास के नाटक 'शशिगुप्त' में ब्राह्मण और साधु को अवध्य बताया गया है । एक स्थल पर सिकंदर क्रोधित हो चाणक्य को मारने का प्रयत्न करता है तब पर्वतक कहता है--'यह आप क्या कर रहे हैं सम्राट, यह आप क्या कर रहे हैं । यह देश दार्शनिकों, साधुओं और वीरों की भूमि है । इस देश में दार्शनिक और साधु अवध्य है ।'[6]

---

१ 'चन्द्रगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, पृ० ८३
२ वही, पृ०८६
३ वही, पृ०१२४
४ वही, पृ०१२४
५ वही, पृ०१६५
६ 'शशिगुप्त' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण,पृ०८६

आपके दूसरे नाटक `कर्त्तव्य` (उत्तरार्द्ध) में महाभारत युद्ध के समय हुए रक्तपात को देखकर अर्जुन विचलित हो उठते हैं । उस समय कृष्ण उन्हें समझाते हुए कहते हैं--` ..... यों तो संसार में एक चिउंटी की हत्या भी निन्दनीय है,परन्तु सद्सिद्धान्तों की हत्या के सम्मुख अक्षौहिणियों की हत्या भी तुच्छ वस्तु है[1] ।` एक अन्य स्थल पर जरासंध के सत्रह बार के आक्रमण में हुई धन जन की हानि देख कर अठारहवीं बार जरासंध के चढ़ाई करने पर कृष्ण युद्ध न करने की घोषणा कर देते हैं, जिसे सुन कर उद्धव कहते हैं कि युद्ध से भागना अधर्म है । तब कृष्ण कहते हैं --`देखो उद्धव धर्म का काम लोकरक्षा है । यदि जरासंध देश जीतने के लिए युद्ध करने आता होता तो देश की रक्षा करने के निमित्त युद्ध करना अनिवार्य था । इसी प्रकार यदि किसी सद्सिद्धान्त की रक्षा के लिए युद्ध करना आवश्यक होता तो भी युद्ध करना ही पड़ता, क्योंकि स्थायी रूप से लोक-रक्षा सद्सिद्धान्तों की रक्षा से ही हो सकती है[2] ।`

भारतीय आदर्श के अनुसार स्त्री के सम्मान की रक्षा करना परमधर्म है । इसका सुन्दर उदाहरण हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक `आहुति` में देखने को मिलता है । नलहारणी गढ़ की बावड़ी पर अनेक राजपूत स्त्रियों का सौन्दर्य देखकर अलाउद्दीन चकित रह जाता है । वह उनमें से एक स्त्री को अपने महल में लाना चाहता है और यह काम वह मीर महिमा द्वारा कराना चाहता है । परन्तु मीरमहिमा इस कार्य को करने के लिए तैयार नहीं होता, वरन् कहता है --`मीर महिमा ऐसी बात सुनना भी गुनाह समझता है जहांपनाह !.... एक बहादुर सिपाही किसी औरत की अस्मत और शान के खिलाफ कोई कदम नहीं उठा सकता[3] ।` यह सुनकर अलाउद्दीन स्वयं वहां जाने का प्रयत्न करता है, परन्तु मीर महिमा उसे रोककर कहता है कि जब तक सभी स्त्रियां महल में नहीं चली जातीं वह उन्हें उधर नहीं जाने देगा । उस समय

---

१ `कर्त्तव्य` (पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास, द्वितीय संस्करण,पृ०१५४

२ वही,पृ०१३०

३ `आहुति` : हरिकृष्ण प्रेमी,संस्करण १६४०,पृ०४

अलाउद्दीन क्रोधित होकर कहता है कि यदि वह चाहे तो उसे मृत्यु दण्ड दे सकता है, परन्तु वह उसे एक अवसर और देना चाहता है । तब मोर महिमा कहता है-- `मैं मौका नहीं चाहता । बहनें किले में दाखिल हो चुकी हैं । मेरा फर्ज़ पूरा हो चुका । हर एक मर्द का फर्ज़ कि वह औरत की हिफाज़त करे । औरत चाहे वह किसी कौम की हो, इबादत की मुस्तहक है[1] ।`

प्रजापालन

भारतीय संस्कृति के अनुसार प्रजा के रंजन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व राजा पर है । अपना सर्वस्व देकर भी प्रजा को सुखी रखना राजा का धर्म है । सेठ गोविन्ददास के नाटक `कर्तव्य` (पूर्वार्द्ध) में राम राज्याभिषेक से पूर्व माता से कहते हैं-- `..... प्रजा में कोई भी मनुष्य, आध्यात्मिक,आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से दुखी न रहे, अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए राजा को अपने सर्वस्व की आहुति देना पड़े तो भी वह पीछे न हटे, राजा के लिए कहीं भी, किसी प्रकार की भी,बुरी आलोचना तथा अपवाद न सुन पड़े, यह महान उच्च आदर्श है[2] ।` उदयशंकर भट्ट के नाटक `सगर विजय` में भी राजा सगर कहते हैं-- `.... राजा प्रजा की रक्षा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । वह केवल प्रजा का मूर्त स्वर है । इसीलिए राजा बनने से पूर्व मैंने निश्चय किया है कि मैं प्रजा में शान्ति स्थापित करूँ[3] ।`

देशभक्ति तथा वीरता

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में भारत के अतीत के शौर्य की कहानी कही है जिससे जनमानस को बल मिला है । परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त होने के लिए उस समय देश-प्रेम की अत्यधिक आवश्यकता थी । प्रसाद जी ने इस आवश्यकता की पूर्ति की । आपके पात्रों में देश-प्रेम की भावना कूट कूट कर भरी है । उनके लिए देश प्रेम सारे सम्बन्धों से अधिक महत्वपूर्ण है । देशप्रेम की यह भावना भारत के लिए गौरव का विषय है ।

१ `आहुति` : हरिकृष्ण प्रेमी, संस्करण,१९४०, पृ०६
२ `कर्तव्य` (पूर्वार्द्ध) : सेठ गोविन्ददास,द्वितीय संस्करण,पृ०७
३ `सगर विजय` : उदयशंकर भट्ट,पृ०९९

यहां मैं,बहनें और पत्नी अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक युद्ध के साज सजा कर स्वयं अपने हाथों तिलक करके पिता,पुत्र,भाई और पति को युद्ध में भेज देती हैं ।यहां युद्ध में हुई मृत्यु को अहोभाग्य समझते हैं । ऐसा है इस देश का देश-प्रेम ।

जयशंकर प्रसाद के नाटक `स्कन्दगुप्त` में युद्धभूमि में बन्धुवर्मा के घायल हो जाने से उनके सैनिक दु:खी हो जाते हैं, यह देखकर बंधुवर्मा कहते हैं --` बंधुगण ! यह रोने का नहीं,आनन्द का समय है । कौन वीर इसी तरह जन्मभूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने जाता हूं ।`[1] इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर देशद्रोह करने पर मां स्वयं अपने पुत्र को दंड दिलाने के लिए तत्पर दिखाई देती है । कमला अपने देशद्रोही पुत्र भटार्क के लिए कहती है--`इस पिशाच ने छलना के लिए रूप बदला है मेरी कोई न सुनेगा नहीं तो मैं स्वयं इसे दंडनायक को समर्पित कर देती ।`[2] वह पुन: कहती है -- `.... मैंने भूल की, सूतिका गृह में ही तेरा गला घोंट कर क्यों न मार डाला ।`[3] एक अन्य स्थल पर विजया कुंभा की लहरों से बचे असहाय स्कन्द को अपना रत्नगृह सौंप कर उसका प्रणय मोल लेना चाहती है । तब स्कन्द कहता है--` मैं सम्राट बनकर बैठने के लिए नहीं हूं । शस्त्र बल से शरीर देकर भी यदि हो सका तो जन्म-भूमि का उद्धार कर लूंगा । सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से, मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नहीं चाहता ।`[4]

`अजातशत्रु` में भी सेनापति बंधुल को राजा प्रसेनजित् काशी का सामन्त बना कर भेजते हैं । रानी महामाया बंधुल की पत्नी मल्लिका से बताती है कि बंधुल को वहां मार डालने के उद्देश्य से भेजा गया है अत: उसे चाहिए कि वह बंधुल को वापस बुला ले । तब मल्लिका कहती है --`रानी ! बस करो । मैं प्राणनाथ को अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं कर सकती, और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती । सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी

---

१ `स्कन्दगुप्त` : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण,पृ०१०३

२ वही, पृ० ७५

३ वही, पृ०११९

४ वही, पृ०१४२

विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा-- जब तक कि स्वयं राजा राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाय[१]।' वीरता का उदाहरण प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी उपलब्ध होता है। सिल्यूकस और सिकन्दर भारत पर चढ़ाई करते हैं। युद्ध में सिल्यूकस को पर्वतेश्वर घायल कर देता है। यह देखकर सिल्यूकस की सेना भागने लगती है। तब पर्वतेश्वर कहता है --'सेनापति ! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिन्ता नहीं। उन्हें बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना जानते हैं[२]।'

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'अशोक' में कलिंग युद्ध के अवसर पर कलिंग के राजकुमार एक युवक को यह कहकर कि वह अपनी माँ का एकमात्र पुत्र है, सेना में भर्ती नहीं करते हैं। यह जानकर उसकी माँ स्वयं अपने पुत्र को लेकर आती है और सेना में भर्ती करने का अनुरोध करती है। वह कहती है--' जिस माता का पुत्र देश के काम नहीं आता, उसका पुत्रवती होना निष्फल होता है[३]।' एक अन्य स्थल पर राजकुमार जयन्त कहते हैं --'... जन्मभूमि की रक्षा मनुष्य का जो सबसे बड़ा कर्तव्य है, उसके लिए मरना अमर होना है[४]।'

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'रक्षाबन्धन' में देश प्रेम को सभी सम्बन्धों से महत्वपूर्ण बताया गया है। रत्नसिंह के पुत्र युद्ध के आह्वान पर श्यामा मीठनी के प्रेम से छूट कर समय से नहीं पहुंच सके, परिणामस्वरूप रत्नसिंह ने उसी रात उनका विवाह श्यामा से कर दिया तथा प्रात: उन्हें फांसी का दण्ड दे दिया। अत: श्यामा का सारा दु:ख आक्रोश में परिणत हो गया। उसकी यह दशा देखकर चारणी उससे कहती है कि कुमार की मृत्यु

---

१ 'अजातशत्रु' : जयशंकर प्रसाद, दसवां संस्करण, पृ०६१

२ 'चन्द्रगुप्त' : जयशंकर प्रसाद, पृ०१०२

३ 'अशोक' : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ०१२७

४ वही, पृ०१३५

का दु:ख महाराणा को भी है, परन्तु वे शान्त हैं, क्योंकि --"हमारा देश पुत्र, पिता, भाई, प्रियतम, प्रियतमा, प्राण सभी से बढ़कर है[१]।" वह पुन: कहती है --" देश सर्वप्रथम है सर्वोपरि है[२]।" उसकी बातों से श्यामा को प्रबोध होता है और वह कहती है --" तुम सच कहती हो, देश सर्वोपरि है सर्वश्रेष्ठ है। हमारे दु:खों की क्षुद्र सरितायें उसके कष्ट और संकट के महासमुद्र में डूब जानी चाहिए[३]।" इसी नाटक में महाराणा द्वारा किये गये भीलराज के अपमान के कारण अन्य सरदारगण असन्तुष्ट हो गए हैं। उसी समय बहादुरशाह के आक्रमण कर देने से सैनिक हतोत्साहित हो जाते हैं। रानी कर्मवती सरदारों को सम्बोधित कर कहती हैं--"महाराणा विक्रमादित्य के पिछले व्यवहारों से आप लोग असन्तुष्ट हैं, यह अनुचित नहीं है, पर यह तो सोचिए कि एक व्यक्ति के अपराध पर सारे मेवाड़ को दण्ड देना कहां का न्याय है? देश का मानापमान हम सबके माना-पमान के ऊपर है। राणा का महत्व देश के महत्व के आगे गौण है[४]।" श्यामा का पुत्र विजय युद्ध में जाने को तत्पर है, जिसे देखकर भीलराज कहते हैं कि उसे युद्ध में नहीं जाना चाहिए, क्योंकि राजपुत्र होते हुए भी भीलनी से उत्पन्न होने के कारण उसे राजकुमार का सम्मान प्राप्त नहीं होगा। यह सुनकर विजय कहता है--" बाबा, मैं साधारण सिपाही की भांति, अपनी जन्मभूमि के लिए लड़कर प्राण दूंगा[५]।" भीलराज के कहने पर कि वे उसे युद्ध में एक साधारण सिपाही की भांति नहीं जाने देंगे, विजय कहता है --

"...... मेरे शरीर का सिसोदिया वंश से सम्बन्ध है, यह बिल्कुल भूल जाओ। मेवाड़ क्या केवल महाराणाओं का है, क्या केवल क्षत्रियों का है? नहीं, वह हम सब का है, हममें से प्रत्येक का है। मेवाड़ के भील जो इस देश पर सैकड़ों वर्षों से अपने शीश चढ़ा रहे हैं, वह क्या मेवाड़ के राज-सिंहासन के लोभ से, या

---

१ "रक्षाबन्धन" : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण, पृ०१५
२ वही, पृ०१५
३ वही, पृ०१५-१६
४ वही, पृ०३२
५ वही, पृ०५७

सेनापति बनने के लिए ? वे केवल कर्तव्य की आवाज पर कुर्बान हो रहे हैं। मैं, कुछ नहीं, केवल मेवाड़ का एक सैनिक बनना चाहता हूं।[1]" इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर श्यामा और चारणी गांव-गांव में घूम कर देश-प्रेम का सन्देश देती हैं। एक ग्राम में ग्रामवासियों से चारणी कहती है--" एक दिन मरना तो सबको पड़ेगा, भैया। फिर अपनी जन्मभूमि के लिए क्यों नहीं मरते ?[2]" युद्ध में रानी कर्मवती के भाई अर्जुन वीरगति को प्राप्त करते हैं। बाघसिंह जी यह समाचार रानी कर्मवती को देने में संकोच करते हैं। यह देखकर रानी कहती है--" कहो-कहो। भयंकर से भयंकर बात कहते हुए भी क्षत्रियों को कण्ठावरोध न होना चाहिए। जानते नहीं क्षत्राणियों का हृदय फूल से कोमल होते हुए भी वज्र से कठोर होता है।[3] जब मेवाड़ की रक्षा नहीं हो पाती तब स्त्रियां जौहर व्रत धारण कर लेती हैं। उनकी चिता से उठती लपटों को देखकर बाघसिंह कहते हैं --" देखा वीरो! मेवाड़ के गौरव का दृश्य देखा। जिस देश की माताएं, देश को परतंत्र देखने से पहले जौहर की ज्वाला में जल जाना पसन्द करती हैं, उसे कोई कब तक परतंत्र रख सकता है।[4]" बहादुरशाह विजयी तो हो जाता है, परन्तु इसे वह अपनी सबसे बड़ी पराजय मानता है। पोर्चगीज़ के कहने पर कि सेना के बल से सब कुछ किया जा सकता है, बहादुरशाह कहता है--" यह ख़्याल बिलकुल ग़लत है। क्या तुमने उन राजपूतों को नहीं देखा, जो घायल होकर पड़े हुए थे ? हमें किले में दाखिल होते देखकर उन्होंने अपने हाथ से अपने कलेजे में छुरी मार ली। ऐसे पानीदार लोगों पर हुकूमत करने का सपना देखना, हवा में किले बांधना है।[5]"

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'उद्धार' में भी राजा अजयसिंह के कहने पर कि देश की आशा अब हमीर पर ही अवलम्बित है, उसे देश के लिए खून की होली खेलनी पड़ेगी, हमीर कहता है --" खून की होली में अवश्य खेलूंगा काका जी और जन्मभूमि को पराधीनतापाश से मुक्त करने के लिए आठों

---

१ 'रक्षाबन्धन' : हरिकृष्ण प्रेमी, प्रथम संस्करण, पृ०५८
२ वही, पृ० ६८
३ वही, पृ०७३
४ वही, पृ०११५
५ वही, पृ०१२५

पहन लूंगा , किन्तु युवराज या महाराणा बनने की लालसा से नहीं[1]।"
इसी नाटक में एक अन्य स्थल पर हमीर के मित्र कलपति की मां, युवकों से
कहती है--" स्वाधीनता संग्राम के लिए किसी आमंत्रण की आवश्यकता नहीं
होती । स्वाधीनता प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है और उसके प्राप्त
करने और उसकी रक्षा करने के लिए युद्ध करने का प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य
है[2]।" मालदेव की कन्या कमला का विवाह हमीर से होता है। वह
चित्तौड़ अपने पिता के पास आती है और वृद्ध माली से बताती है कि वह चि
चित्तौड़ में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित कर उसे स्वतंत्र कराने आई है। यह
सुनकर माली पूछता है कि क्या वह पिता के प्रति विद्रोह करेगी ? तब कमला
कहती है--" अभी तो तुमने कहा था, दादा, देश मां है । मां के पैरों में
बेड़ियां पहनाने वाले को क्षमा नहीं किया जा सकता, चाहे वह भाई हो,
पिता हो, चाहे पति हो[3]।" माली के पूछने पर कि क्या पति को भी ?
कमला कहती है--" हां पति को भी । देशभक्ति पति-प्रेम से भी ऊंचा धर्म है,
दादा । एक व्यक्ति के देश-द्रोह का परिणाम हजारों लाखों करोड़ों देश-
वासियों को भुगतना पड़ता है[4]।" एक अन्य स्थान पर हमीर तथा कलपति
चित्तौड़ को स्वतन्त्र कराने के लिए अपनी सेना लेकर चित्तौड़ के निकट पहुंच
जाते हैं। कलपति कहता है कि उसे ऐसा आभास हो रहा है जैसे कोई अज्ञात
शक्ति उसे चित्तौड़ की ओर खींच रही है। तब हमीर कहता है --" और मेरी
भुजाएं भी फड़क रही हैं। जब विदेशी सैनिकों को मैं मेवाड़-भूमि पर इठलाते
हुए चलते देखता था तब मुझे जान पड़ता था जैसे कोई मेरी मां के वक्षस्थल
पर पांव रख रहा है। मेरी आंखों में खून उतर आता था जी चाहता था
अभी उनसे भिड़ जाऊं । दो चार को यमलोक पहुंचा कर स्वयं भी इनका
अनुसरण करूं[5]।"

---

१ "उद्धार" : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण,पृ०३४-३५
२ वही, पृ०६८
३ वही, पृ०१२०
४ वही, पृ०१२०
५ वही, पृ०१२४

'स्वप्नभंग' नाटक में राजपूतों की वीरता के विषय में दारा कहता है --" फिर भी राजपूत राजपूत ही हैं। वीरता में उनका मुकाबला कौन कर सकता है? राजपूत मरना जानते हैं, लेकिन गाजर-मूली की तरह नहीं।[१]" इसी प्रकार 'मित्र' नाटक में महाकाल ने देश पर प्राण-न्योछावर करने की लालसा हृदय में संजो रखी है। रत्नसिंह अपने सैनिकों से महाकाल का परिचय कराते हुए बताते हैं कि वह नाम के अनुरूप ही वीर हैं। वेह पुन: कहते हैं कि यदि उनका वश चले तो वह उन्हें भारत का सम्राट बना देवें। यह सुनकर महाकाल कहते हैं--" क्यों कांटों में घसीटते हो राजकुमार। हम तो देश के तुच्छ सेवक हैं। जीवन में केवल एक बात सीखी है-- वह यही कि मौत से न डरना। प्राणों में एक ही लालसा पाली है वह यही कि अपने देश के मान के लिए प्राण देना है।[२]"

देश-प्रेम से ओत-प्रोत व्यक्ति स्वशरीर तथा निज सम्पत्ति की भी चिन्ता नहीं करता है। सेठ गोविन्ददास के नाटक 'महत्व किसे' में देशव्रत जी से कर्मचन्द जी काग्रेस और देश के विषय में चर्चा करते हुए कहते हैं--" जो कुछ भी हो, देशव्रत जी, काग्रेस की इज्जत तो बचानी होगी। चाहे मेरा सर्वस्व चला जाय, पर इस प्रान्त में काग्रेस का तिरंगा झण्डा अपने रहते नीचा न होने दूंगा।[३]" वे पुन: कहते हैं --"..... मैं तो अपना सौभाग्य समझता हूं कि मेरा शरीर, मेरा घर देश के काम आता है।[४]" इस प्रकार इस युग के नाटकों में सर्वत्र भारतीय संस्कृति का गौरवपूर्ण रूप दिखायी देता है।

निष्कर्ष

नाटक क्षेत्र में जिस समय प्रसाद जी का आविर्भाव हुआ, उस समय तक भारतीय सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन अत्यन्त विकृत एवं

---

१ 'स्वप्नभंग' : हरिकृष्ण प्रेमी, पृ०६०

२ 'मित्र' : हरिकृष्ण प्रेमी, द्वितीय संस्करण, पृ०२५

३ 'महत्व किसे' : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण, पृ०३४-३५

४ वही, पृ०३६

विशृंखल हो चुका था। देशवासी स्वधर्म की गरिमा का विस्मरण कर पाश्चात्य धर्म तथा संस्कृति को अपनाने लगे थे। हिन्दू धर्म की कट्टरता तथा रुढ़िवादिता से त्रस्त जनता ईसाई धर्म अपनाने लगी थी। समाज में भेदभाव, अन्धविश्वास तथा अनेक कुप्रथाओं का प्रचलन था। ऐसे समय प्रसाद जी ने अपने नाटकों के माध्यम से जनता में पुन: सांस्कृतिक चेतना जागृत करने का स्तुत्य प्रयास किया। इस कार्य में तत्कालीन अन्य नाटककारों यथा-- लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट एवं वृन्दावनलाल वर्मा आदि ने भी सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार शनै: शनै: भारतीय जनमानस में स्वसंस्कृति के प्रति स्वाभिमान एवं गौरव की भावना का उदय हुआ।

इस युग में ऐतिहासिक नाटकों की रचना अपेक्षाकृत अधिक हुई, क्योंकि प्राचीन इतिहास के गौरवशाली रूप के माध्यम से पुन: भारतीय गौरव की स्थापना सरलतापूर्वक की जा सकती थी। भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल रूप का दिग्दर्शन कराने के लिए भी आवश्यक था कि भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग की झांकी प्रस्तुत की जाय। अत: प्रसाद जी तथा उनके समकालीन अन्य नाटककारों ने अपने नाटकों की कथा का चुनाव अधिकांशत: इतिहास के उस युग से किया जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता का स्वर्णिम युग था। इस युग के सामाजिक नाटकों में भी समाज-सुधार तथा सामाजिक उन्नयन की प्रबल कामना दृष्टिगत होती है। फलत: इस युग के नाटकों में धार्मिक सामन्जस्य, एकता की भावना, दया, परोपकार, त्याग, धर्म पर विश्वास, देश-प्रेम, शरणागत रक्षा, वीरता आदि के साथ-साथ कर्मफल तथा पुनर्जन्म में विश्वास, नियति की प्रबलता, आत्मा की अमरता आदि भारतीय संस्कृति के तत्त्व पाये जाते हैं।

प्रसाद-युग के नाटकों पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस युग के अधिकांश नाटकों में बौद्ध धर्म का उज्ज्वल

रूप तथा इस धर्म द्वारा प्रतिपादित मानवता का सिद्धान्त, विश्वमैत्री की भावना, अहिंसा और सत्य आदि गुण उपलब्ध होते हैं। सामाजिक तथा राजनैतिक उथल-पुथल के उस युग में भौतिकता के प्रगाढ़ तमस् से मुक्ति पाने के लिए मानवतावाद की अत्यन्त आवश्यकता थी। प्रसाद जी युगद्रष्टा थे, अत: उन्होंने युग की इस आवश्यकता को समझा और इसका प्रचार किया। बौद्ध धर्म से प्रभावित नाटकों में प्रसाद जी का 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'राज्यश्री', 'चन्द्रगुप्त', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'वत्सराज', 'अशोक', सेठ गोविन्ददास का 'हर्ष', वृन्दावनलाल वर्मा का 'हंसमयूर' आदि नाटक महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार इस युग के नाटकों द्वारा भारतीय संस्कृति के गौरवशाली रूप का दिग्दर्शन होता है।

-0-

पंचम अध्याय

-०-

प्रसादोत्तर नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप

प्रसादोत्तर युग में नाटकों तथा एकांकियों की पर्याप्त रचना हुई वस्तु एकांकियों की रचना अपेक्षाकृत अधिक हुई । नाटक जो लिखे भी गये उनमें नवीनता न थी । इस युग में समस्या-नाटकों का विशेष प्रचलन हुआ । सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत समस्याओं को नाटक का विषय बनाया गया । इन नाटकों द्वारा समाज में फैले आडम्बरों तथा सामाजिक कुरीतियों को सम्मुख लाने का प्रयत्न किया गया ।

प्रसाद द्वारा पुनः स्थापित होकर भारतीय संस्कृति की उत्तरोत्तर वृद्धि करती गई । प्रसादोत्तर काल के नाटकों द्वारा इसमें पर्याप्त सहयोग प्रदान किया गया । अन्तर इतना ही था कि प्रसाद-युग के नाटकों में अधिकांशतः इतिहास के स्वर्ण युग का चित्रण किया गया, जब कि आधुनिक युग में अधिकांशतः सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया गया । इन नाटकों के द्वारा भारतीय संस्कृति का स्वरूप दिखाने का प्रयत्न किया गया । इस युग के नाटकों में भारतीय संस्कृति के अनेक रूप परिलक्षित होते हैं,यथा--

आत्मा का स्वरूप

भारतीय संस्कृति के अनुसार आत्मा अजर है,अमर है । श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि --

> 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भवति वा न भूयः ।
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।'
>
> --श्रीमद्भगवद्गीता २।२०

अर्थात् आत्मा न जन्म लेती है न मरती है अथवा न यह है, न होगा, न हुई है। यह अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश हो जाने पर भी इसका नाश नहीं होता।

इस बात की पुष्टि वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक 'बीरबल' में भी की गई है। एक स्थान पर अकबर कहता है--'सुरूप कुरूप का भेद बाहरी पदार्थों के लिए है। भीतर जो आत्मा है उसका सौन्दर्य स्थायी और अनन्त है, परन्तु उसको पहिचानना पड़ता है[१]।'एक अन्य नाटक 'झाँसी की रानी' में भी यही भाव व्यक्त किया गया है। युद्ध के समय अंग्रेजों की गोली से रानी की दासी मोतीबाई की मृत्यु हो जाती है। रानी उसके मृत शरीर को सम्हालती हुई कहती है--' आत्मा अमर है, शरीर का चाहे जो कुछ हो[२]।'

इसी प्रकार चन्द्रराज भण्डारी के नाटक 'सिद्धार्थ-कुमार' में भी बुद्ध के पूछने पर कि संसार का दुःख दूर करने के लिए क्या प्रयत्न करना चाहिए तथा अन्त में जीव की क्या स्थिति होती है, ऋषि अराड़कमाल कहते हैं --' ..... सबसे ऊँची स्थिति ब्रह्म है। ब्रह्म अमूर्तिक है। अक्रिय है, निर्विकार है, निर्गुण है, सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह ब्रह्म जड़ वस्तुओं से अलग है। जिस प्रकार अग्नि पर से राख दूर हो जाने पर वह चमकने लगती है, या जिस प्रकार पिंजड़े में पड़ा हुआ पक्षी आजादी मिलने से स्वच्छन्द हो उठता है, उसी प्रकार जड़ वस्तुओं से दूर भागते रहने से ब्रह्म की स्थिति मिलती है। वही मुक्ति है। मुक्ति के साधनों में मुख्य साधन श्रद्धा है। 'आत्मा निर्विकार है' इस प्रकार की भावनामय श्रद्धा रखने से मनुष्य निर्लिप्त हो जाता है और परमपद को प्राप्त होता है[३]।'

जीवन की नश्वरता

भारतीय संस्कृति के अनुसार संसार नश्वर है। जड़-चेतन सभी का अन्त अवश्यम्भावी है, क्योंकि जो जन्म लेता है, वह मृत्यु को

१ 'बीरबल' : वृन्दावनलाल वर्मा, तृतीय संस्करण, पृ०१०५
२ 'झाँसी की रानी' : वृन्दावनलाल वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०१०४
३ 'सिद्धार्थ कुमार' : चन्द्रराज भंडारी, प्रथम संस्करण, पृ०११५

अवश्य प्राप्त होता है, यह शाश्वत नियम है । यही जीवन का महान सत्य है । यह सत्य जीवन में ही नहीं,अपितु कला और साहित्य में भी दिखायी देता है । हिन्दी नाटकों में अनेक स्थानों पर इस सत्य का प्रतिपादन किया गया है ।

`बुद्धदेव` में भी सिद्धार्थ के सन्यास ग्रहण करने पर उनके पिता कहते हैं कि वह उनके बिना जीवित नहीं रह सकते । तब सिद्धार्थ कहते हैं-- `पिता जी ! संसार असार है, यौवन सदा नहीं रहता; बुढ़ापा अवश्य आता है; अन्त में मनुष्य काल का ग्रास बन जाता है । यदि इसे आज अपनी इच्छा से नहीं छोड़ा तो कल वैसे छोड़ना पड़ेगा[1] ।` इसी नाटक में एक स्थल पर बुद्ध के पास, कृष्णा नाम की एक स्त्री अपने मृत पुत्र को जीवित कराने के लिए लाती है । बुद्ध उससे कहते हैं--` मृत्यु से बचने का कोई उपाय नहीं कर सकता ।.... जिस प्रकार पके हुए फल का डाली से टूट गिरने के का भय रहता है, जिस प्रकार मिट्टी के खिलौने को बनकर बिगड़ने का भय रहता है, इसी प्रकार जन्मधारी को मरने का भय रहता है । अज्ञानी हो या ज्ञानवान हो, निर्धन हो या धनवान हो, सब को ही मृत्यु का आखेट होना पड़ता है । जो जन्म धारण करेगा वह एक दिन अवश्य मरेगा[2] ।`

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के नाटक `अमरसिंह राठौर` में भी अकबर,ड्योढ़ी पर न जाने के कारण अमरसिंह को एक लाख प्रतिदिन के हिसाब से दण्ड देने की आज्ञा देता है । जिसे सुनकर रानी कहती है कि उसका हार देकर वह दण्डमुक्त हो जाय । तब अमरसिंह कहते हैं --` तुम्हारा हार लेकर जुर्माना अदा कर दूं ?..... अरी मूर्ख ! नौ करोड़ का खजाना सदैव मेरे यहां तैयार रहता है । यह राठौर वंश की इज्जत का सवाल है... पृथ्वी पर राठौर की अप्रतिष्ठा करने वाला जीवित नहीं रह सकता । जीवन एक पानी का बुलबुला है, रहा-रहा- न रहा - न रहा[3] ।`

---

१ `बुद्धदेव` : विश्वम्भर सहाय `व्याकुल`, प्रथम संस्करण,पृ०७६

२ वही, पृ०१२४

३ `अमरसिंह राठौर`: आचार्य चतुरसेन शास्त्री, प्रथम संस्करण,पृ०३४

इसी बात की पुष्टि आपके दूसरे नाटक 'राजसिंह' में भी की गई है । रत्नसिंह की मृत्यु से दु:खी राजसिंह से जोधासिंह कहते हैं --'..... महाराज, यह शरीर नश्वर है और जीवन नगण्य । कर्त्तव्य और बलिदान ही उसके मूल्य की वृद्धि करता है ।'[1] इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर जयसिंह की पत्नी कमल कुमारी कहती है --'.... सृष्टि के आदि से अब तक अथवा प्रलय तक एक ही क्रम और एक ही गति से कृमि,कीट, पतंग, पशु-पक्षी, मनुष्य, देव, यक्ष, किन्नर और राक्षसों के जीवन इसी भाँति पानी के बबूले की भाँति उदय हुए और अस्त हुए । इस महाकाल के महाप्रांगण में वे जीवन एक क्षण-भंगुर प्रमाणित हुए हैं,जिनका नाम इतिहास के पृष्ठों पर अमर है[2]।'

चन्द्रराज भण्डारी के नाटक 'सिद्धार्थ कुमार' में भी मृत्यु के बन्धन को अनिवार्य माना गया है । सिद्धार्थ से एक स्त्री अपने मृत पुत्र को जीवित करने का आग्रह करती है । सिद्धार्थ उससे एक मुट्ठी सरसों ऐसे घर से लाने को कहते हैं जहां किसी की मृत्यु न हुई हो पर उसे ऐसा एक भी घर नहीं मिलता, तब सिद्धार्थ कहते हैं--'प्रिय बहन... तुझे मालूम हो गया कि सारा जगत मृत्यु के दृढ़ बन्धन में बंधा हुआ है वज्र से भी अधिक कठोर महामारी से भी अधिक भयंकर और भविष्य से भी अधिक अनिवार्य यह मृत्यु बन्धन है । कोई भी जीवित प्राणी इस बन्धन से मुक्त नहीं । जो आया है वह अवश्य जायगा[3]।'

इसी बात की पुष्टि रामवृक्ष बेनीपुरी के नाटक 'तथागत' में भी की गयी है । बुद्ध के पास गौतमी अपने मृत पुत्र को लेकर आती है और उसे जीवित करने का अनुरोध करती है । बुद्ध उससे कहते हैं कि जिस घर में आज तक कोई मृत्यु न हुई हो उस घर से यदि वह एक मुट्ठी सरसों ला दे तो उसका पुत्र जीवित हो सकता है । परन्तु एक भी घर उसे ऐसा नहीं मिलता जहां किसी की मृत्यु न हुई हो । यह जानकर बुद्ध कहते हैं--'और तू इसके बाद भी रोती है गौतमी । दुनियां में ऐसा कोई नहीं है जो मर नहीं जायेगा ।

---

१ 'राजसिंह' : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, द्वितीय संस्करण,पृ०१५६
२ वही,पृ० १६३
३ 'सिद्धार्थ कुमार' : चन्द्रराज भण्डारी,प्रथम संस्करण,पृ०१११

दुनियां में ऐसा कोई घर नहीं, जिसमें कोई मर न चुका हो । मृत्यु आर्य सत्य है, गौतमी । सबको मरना है, सबको जाना है[1]।'

वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक 'पूर्व की ओर' में भी गजमद कहता है--' .... यह शरीर नश्वर है, किसी दिन भस्म हो जायेगा[2]।'

आपके दूसरे नाटक 'बीरबल' में भी एक स्थान पर अकबर कहता है--' फौजो, इस संसार में कुछ भी टिकाऊ नहीं है । कैसे कैसे लोग आये और चले गये[3]।'

नियति

जीवन की नश्वरता ने भाग्यवाद को जन्म दिया और यह विश्वास दृढ़ हुआ कि भगवान जो चाहेगा वही होगा, क्योंकि भारतीय संस्कृति में ईश्वर को सर्वशक्तिमान माना गया है । उसकी इच्छा के बिना संसार में एक तृण भी नहीं हिल सकता । उसकी इच्छा को मनुष्य भाग्य की बात कहकर स्वीकार करता है अथवा' जो होना होगा, होकर रहेगा', कहकर सन्तोष कर लेता है । इस भाग्यवाद के दर्शन हिन्दी के नाटकों में भी अनेक स्थानों पर होते हैं ।

वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक 'पूर्व की ओर' में अश्वतुंग तथा गजमद को दण्डस्वरूप आज्ञा दी जाती है कि उन्हें पूर्व दिशा में समुद्र के बीच जहां भी पृथ्वी दिखाई दे वहां छोड़ दिया जाय । यह सुनकर अश्वतुंग चिंतित हो जाता है । तब गजमद कहता है --' नितान्त व्यर्थ । जो होना होगा, होगा । एक बात निश्चित है कि कुछ न कुछ होगा, क्या होगा, उसको कोई नहीं जानता[4]।' आपके एक अन्य नाटक 'राखी की लाज' में भी एक स्त्री सोमेश्वर और चम्पा को कोसती है तब दूसरी स्त्री कहती है--' भगवान सबका भला करे । अपने मुंह से न कहो ।

---

१ 'तथागत' : रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रथम संस्करण, पृ०९७

२ 'पूर्व की ओर' : वृन्दावनलाल वर्मा, पृ०५०

३ 'बीरबल' : वृन्दावनलाल वर्मा, तृतीय संस्करण, पृ० १०

४ 'पूर्व की ओर' : वृन्दावनलाल वर्मा, पृ०५८

जो होना है सो तो होगा ही[१]।'

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के नाटक 'सीताराम' में भी राम द्वारा परित्याग करने पर लक्ष्मण सीता को वन में छोड़ने जाते हैं। जब वह लौटने लगते हैं तब सीता कहती हैं कि राम से कहना --'कहना महाराज अभागिनी सीता ने कहा है ...... इसमें आपका दोष नहीं, मेरे ही भाग्य का दोष है[२]।' इसी प्रकार 'सम्राट अशोक' में भी कुन्द कहती है --' क्या कहूं जो भाग्य में होता है वही होता है[३]।'

'राजस्थान का भीष्म' में भी मनुष्य को नियति का दास बताया गया है। मारवाड़ से मेवाड़ के राजकुमार चंड के लिए टीका आता है, परन्तु उसे महाराणा अपने लिए स्वीकार कर लेते हैं और वचन देते हैं कि मेवाड़ का उत्तराधिकारी चंड न होकर मारवाड़ की राजकुमारी से उत्पन्न पुत्र होगा। चंड के छोटे भाई रघुनाथ को पिता की यह नीति उचित नहीं जान पड़ती। वह मेवाड़ के भविष्य के लिए चिन्तित है और चंड से कहता है--'भविष्य में क्या होने वाला है किस को मालूम है। हम तुम सब नियति के अधीन है[४]।'

अनासक्त कर्मयोग

फल की आशा का परित्याग कर, ईश्वर को अर्पण करके किया गया कर्म निष्काम कर्म कहलाता है। आसक्ति रहित होकर केवल कर्तव्य समझ कर, ईश्वर की इच्छा समझ कर कोई कर्म करने से उस कर्म के करने पर भी मनुष्य मुक्त रहता है। भारतीय संस्कृति में अनासक्त कर्म योग का विशेष महत्व है। इसका प्रभाव हिन्दी नाटकों में भी दृष्टिगोचर होता है।

---

१ 'राखी की लाज' : वृन्दावनलाल वर्मा, ग्यारहवां संस्करण, पृ०५४

२ 'सीताराम' : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, द्वितीय संस्करण, पृ०२२

३ 'सम्राट अशोक' : चन्द्रराज भण्डारी, पृ०७८

४ 'राजस्थान का भीष्म' : देवीलाल सामर, प्रथम संस्करण, पृ०१६

वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक "झांसी की रानी" में किले पर अंग्रेजों का अधिकार हो जाने के कारण रानी तथा अन्य लोगों को महल में रहना पड़ता है यह देखकर मुन्दर कहती है कि अंग्रेजों ने झांसी को निगल लिया। तब झांसी की रानी कहती है --" राज्य मिल जाता तो क्या हम लोग चुप होकर बैठ जाती। झांसी का राज्य स्वराज्यस्थापना का एक उपाय ही तो था। उपाय अब भी हमारा जारी रहेगा। भगवान कृष्ण की आज्ञा को याद करो हमको केवल कर्म करने का अधिकार है, फल का नहीं।"[1] जब अंग्रेजी सेना झांसी से अठारह मील दूर रह जाती है तब लक्ष्मीबाई कहती है --" कुछ थोड़ा समय और मिल जाता तो मैं इस प्रदेश भर के नर नारियों को तैयार कर लेती और इतना गोला बारूद और अन्य सामान इकट्ठा कर लेती कि अंग्रेजों के मार भगाने में कोई सन्देह नहीं रहता। फिर भी जो कुछ है उसी के बल भरोसे बहुत कुछ किया जा सकेगा। हमको केवल कर्म करने का अधिकार है, उसके फल से कोई सरोकार नहीं।"[2]

इसी प्रकार रामवृक्ष बेनीपुरी के नाटक "तथागत" में आसक्ति को सारे दुःखों का कारण बताया गया है। एक स्थल पर बुद्ध अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहते हैं --" आसक्ति दुःख का निवास स्थान है, इसलिए अपने और पराये दोनों से आसक्ति छोड़ो।"[3]

कर्मफल तथा पुनर्जन्म

भारतीय संस्कृति के अनुसार संसार की विषमता का कारण कर्मफल है, क्योंकि अपने कर्मों के फलानुसार ही कोई अमीर कोई गरीब, कोई सुखी और कोई दुःखी रहता है। इन कर्मों के अनुरूप ही अगले जन्म में जीव विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करता है।

वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक "पूर्व की ओर" में नागद्वीप वासियों की बर्बरता का कारण अग्निमित्र उनके पूर्व जन्म के कर्म

---

१ "झांसी की रानी" : वृन्दावनलाल वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०४४

२ वही, पृ०८०

३ "तथागत" : रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रथम संस्करण, पृ० १२०

बताते हैं। वे कहते हैं -- " वह उनके पूर्व जन्म और वातावरण का विकार है।[1] " "हंसमयूर" में राजकुमारी सुनन्दा भिक्षुणी बन जाती है, परन्तु राज्याधिकारियों तथा नगरवासियों को भय है कि कहीं शत्रु देश के सैनिक इन्हें पहचान कर इनका वध न कर डालें। यह देखकर सुनन्दा कहती है --" यदि मैं मारी जाऊंगी तो पूर्वजन्म का कर्मफल गल जायेगा और मैं मोक्ष पा जाऊंगी।[2] " एक अन्य स्थल पर कापालिक, पुरन्दर के शिष्य बकुल की बलि देना चाहते हैं, परन्तु कालकाचार्य इन्हें रोकते हैं और कहते हैं --" तुम लोगों को कीड़े मकोड़ों की योनियों में जन्म लेकर दारुण यातनाएं सहनी पड़ेंगी। इस कुकर्म से विरत हो और ज्ञान के दीप से आगे का पथ परखो[3]।

स्वर्ग नर्क की कल्पना

भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य अपने शुभ कर्मों द्वारा स्वर्ग और अशुभ कर्मों द्वारा नर्क की प्राप्ति करता है। इसी बात की पुष्टि वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक "फूलों की बोली" में की गयी है। सिद्ध अपने शिष्य कलभद्र के साथ भोली स्त्रियों को धोखा देकर आभूषण आदि चुराता है। एक दिन दोनों में बंटवारे के लिए विवाद होने पर कलभद्र सिद्ध को मारने के लिए छुरी निकाल लेता है। तब सिद्ध कहता है-- "तो मार ले अपने को और मर जा गुरुघाती। तुझको नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा।[4] " सिद्ध आभूषण की चोरी के अपराध में पकड़ा जाता है। न्याय के समय पंच की राय अपने विरुद्ध जानकर वह उनसे कहता है --" पंच जी, परमात्मा का ध्यान करो। अन्याय की बात कहने से पंच को रौरव नरक मिलता है।[5] " "हंसमयूर" में भी कालकाचार्य कापालिकों को बलि देने से रोकते हैं और कहते हैं --" तुम लोग जो कुछ कर रहे हो वह अधर्म और अनीति है, दुराचार है। सब

---

१ "पूर्व की ओर" : वृन्दावनलाल वर्मा, पृ०१५६

२ "हंसमयूर" : वृन्दावनलाल वर्मा, तृतीय संस्करण, पृ०२७

३ वही, पृ०४४

४ "फूलों की बोली" : वृन्दावनलाल वर्मा, द्वितीय संस्करण, पृ०५५

५ वही, पृ०८६

के सब नरक जाओगे । रौरव नरक की यातनायें सहोगे ।[1]"

मोक्ष

तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रथम वल्ली के प्रथम अनुवाद के शंकरभाष्य में मोक्ष की व्याख्या करते हुए कहा गया है--

"अविद्याकाम कर्मोपादान हेतु निवृत्तौस्वात्मन्यवस्थानं मोक्ष इति ।"

अर्थात् अविद्या, कामना और कर्म के उपादान कारण से निवृत्ति हो जाने पर स्वयं आत्मा में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। भारतीय संस्कृति में मोक्ष का स्थान सर्वोपरि माना गया है।

वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक "पूर्व की ओर" में बताया गया है कि संसार का मोह छोड़कर ही मनुष्य में विवेक उत्पन्न हो सकता है जो मोक्ष का द्वार है। इस विषय में भिक्षु जय कहते हैं -- " लोभ और मोह के घात-प्रतिघातों से मन चंचल हो जाता है। मन की चंचलता को शान्त करने के लिए प्रत्येक प्रकार के मोह का त्याग कर देना चाहिए। परिग्रह, मत्सर, द्वेष, क्रोध इन सब का दमन करना परम आवश्यक है। भगवान अविलोकितेश्वर की मूर्ति का अनवरत ध्यान करने से मन में शान्ति बसने लगती है। कार्य-कारण के अटूट सम्बन्ध का अनुसन्धान मन करने लगता है और विवेक का उदय हो जाता है।[2]"

एक अन्य नाटक "हंस मयूर" में उज्जैन के मेले में एक स्थल पर कापालिक पुरन्दर, जीवित समाधि लेने जा रहा है, दूसरे स्थान पर वकुल मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बता रहा है, जिसे सुनकर कुछ स्त्रियां कहती हैं कि ये साधु सदा उल्टी बातें करते हैं। तब वकुल कहता है-- " अरी देवियों, बैनों, हम सन्यासी हैं। तुमको सच्चा ज्ञान देते हैं। सामने जो कुछ हो रहा है और होने वाला है, सब आडम्बर है, सब पाखण्ड है। यह सब वासनाओं का खुला (हुआ) द्वार है। यह विष की खेती है। अमृत की खेती करो। श्रद्धा के

---

१ "हंसमयूर" : वृन्दावनलाल वर्मा, तृतीय संस्करण, पृ०४६

२ "पूर्व की ओर" : वृन्दावनलाल वर्मा, पृ०१८६

बीज बोओ। उस पर तप की वर्षा होगी। प्रज्ञा के हल, पापों से लाज करने की हरिस, मन की जोत और स्मृति की फार से अपने जीवन खेत को जोतो। सत्य तुम्हारा खुरपा हो, उत्साह बैल हो। यही सच्चा योग क्षेम है। इसी से अमृत फल मिलेगा।[1]" इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि जीव की अन्तिम गति मोक्ष है और मोक्ष को जीव निष्काम सत्कर्मों के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है।

धार्मिक सामंजस्य तथा समन्वय

धार्मिक सामंजस्य तथा समन्वय भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। भारत में समय-समय पर अनेक धर्म तथा संप्रदाय के लोग आये और यहां की संस्कृति में घुल-मिल कर एकाकार हो गये। यहां जब आर्यों का आगमन हुआ तब उन्होंने अनार्यों के साथ-साथ उनकी संस्कृति को भी आत्मसात् कर लिया, जिसका रूप अब भी अनेक धार्मिक अनुष्ठानों में परिलक्षित होता है। इसके बाद भी भारत में अनेक धर्मों तथा मतों का प्रतिपादन हुआ यथा, बौद्ध, शैव, शाक्त, मुगल आदि जो कालान्तर में भारतीय धर्म के ही अंग बन गये। इस प्रकार समन्वय तथा सामंजस्य के कारण भारतीय संस्कृति का सदा संवर्धन होता रहा। इसके अनेक उदाहरण हिन्दी नाटकों में भी उपलब्ध होते हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक "पूर्व की ओर" में अश्वतुंग के सम्राट बनने के बाद एक सभा होती है, जिसमें चन्द्रस्वामी शैव मन्दिर तथा कन्दर्प केतु बौद्ध मन्दिर बनवाने की इच्छा प्रकट करते हैं। अश्वतुंग सबको अपनी इच्छानुसार मन्दिर बनवाने की आज्ञा दे देता है और कहता है--"सबको अपने अपने धर्म को मानने की स्वतन्त्रता रहेगी।[2]" इसी प्रकार आपके नाटक "हंसमयूर" में पूरा नाटक हंस और मयूर के समन्वय पर आधारित है। मलपुर जनपद के नायक इन्द्रसेन का विचार है कि धार्मिक द्वेष छोड़कर सबको मिलकर रहना

---

१ "हंसमयूर" : वृन्दावनलाल वर्मा, तृतीय संस्करण, पृ०३६

[illegible]

२ "पूर्व की ओर" : वृन्दावनलाल वर्मा, पृ०१६३

चाहिए और हूणों तथा शकों का सामना करना चाहिए। वह रामचन्द्र नाग से कहता है--" भक्ति और पुरुषार्थ का हंस और मयूर का, मेल होना चाहिए।[1]" वह पुन: कहता है --" हंस बुद्धि-विवेक, प्रज्ञा, मेधा, भक्ति और संस्कृति का प्रतीक है, मयूर तेज बल और पराक्रम का। दोनों का समन्वय ही आर्य संस्कृति है।[2]"

एक अन्य नाटक "बीरबल" में अकबर मुसलमान होकर भी कृष्ण की भक्ति में विश्वास करता है। वह कृष्ण की भक्ति में विभोर होकर कहता है --" .....कन्हैया अकेले हिन्दुओं का नहीं है, मुसलमानों का भी है .... वह कन्हैया जिसकी मुस्कान इन्सान की जिन्दगी है, ... जिसकी आन बान सारे जहान का सहारा है, जिसकी मुरली महान से महान की क्षमा की जाने योग्य कमजोरी है।[3]" अकबर एक नये धर्म को साकार करने की योजना बनाता है जिसमें सभी धर्मों का समन्वित रूप हो। उस धर्म के विषय में वह कहता है --"मुझको एक नयी बात सूझी है उसी को कह रहा था। जानवर की हत्या करने वाले को प्राण दण्ड दिया जायेगा। इससे लोगों में दया का भाव जाग उठेगा। सूर्य की पूजा, जो प्रकाश का पुंज है और संसार भर को प्रकाश देता है। जो कोई भी ईश्वर का ध्यान लगाता है वह प्रकाश का ही तो ध्यान है। इसको ब्राह्मणों से लिया है। आग सबसे बढ़कर जिन्दा चीज है। इसको पारसियों से और अल्लाह का नाम मुसलमानों से। इस मजहब का नाम होगा दीन इलाही।[4]" इसी प्रकार मिश्रबन्धु द्वारा रचित "ईशानवर्मन" नाटक में ईशान वर्मन हूण सैनिकों से कहते हैं --" ..... हम लोग दुष्कर्मों के शत्रु हैं, सुधरे हुए दुष्कर्मियों के नहीं चाहे हिन्दू हो, चाहे बौद्ध, चाहे और कोई मत वाले, फिर भी आप भारतीय के नाते से हमारे भाई हैं।[5]"

यही भावना डा० रामकुमार वर्मा के नाटक "शिवाजी" में भी देखने को मिलती है। युद्ध में लूट की सम्पत्ति के साथ आबा जी सोनदेव

---

१ "हंसमयूर" : वृन्दावनलाल वर्मा, तृतीय संस्करण, पृ०१२०
२ वही, पृ०१२१
३ "बीरबल" : वृन्दावनलाल वर्मा, तृतीय संस्करण, पृ०८५
४ वही, पृ०६१
५ "ईशानवर्मन" : मिश्रबंधु, प्रथम संस्करण, पृ०१४३

गौहरबानू को भी पकड़ लाते हैं और उसे अपनी बहन काशी के पास रखते हैं। गौहरबानू अपने दुःखों का कारण बाबा जी को मानती है, परन्तु काशी का विचार है कि उसके दुःखों का कारण हिन्दू मुसलमानों के बीच की शत्रुता है। वह कहती है --"..... अगर मैं इस समय शाहंशाह की जगह दिल्ली की सुलतान होती तो कहती --" हिन्दुओं और मुसलमानों, तुम हिन्दुस्तान में न्याय की तराजू के दो पलड़े हो, एक दूसरे को सम्भाले रखो। इस तरह सधे रखो कि किसी के साथ किसी तरह का पक्षपात न हो। दोनों एक ही गीत के स्थायी और अन्तरा हो। इस तरह स्वर खींचो कि बेताल न हो सको। सांस को खींचने और छोड़ने की तरह तुम दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हो। जिन्दगी में कभी न रुकने वाले हमेशा साथ ही साथ चलने और रहने वाले ऐसे ही तुम दोनों हो[1]।" गौहरबानू को बन्दी बनाने वाले आबा सोनदेव से शिवाजी कहते हैं-- "आबा जी तुम जानते हो कि सेना के आक्रमण में मेरा आदेश है कि..... कुरान की उतनी ही इज्जत होनी चाहिए जितनी भवानी की पूजा की या समर्थ गुरु रामदास की वाणी की -- मसजिद का दरवाजा उतना ही पवित्र है, जितना तुम्हारे मन्दिर का कलश। शिवा के लिए इस्लाम धर्म उतना ही पूज्य है जितना हिन्दू धर्म। जमीन पर गिरा हुआ कुरान का एक एक पन्ना शिवा ने तलवार से उठा कर मौलवियों के सिर पर रख दिया है। मेरे लिए धर्म के ख्याल से हिन्दू और मुसलमान में कोई फर्क नहीं है[2]।"

संसार दुःखमय है

बौद्ध धर्म का सार है कि संसार दुःखमय है। यहां जरा व्याधि, मृत्यु सदा मनुष्य को दुःख पहुंचाती है अतः मन को संसार से उपराम कर ईश्वर में लगाना चाहिए। 'सम्राट अशोक' में यही भाव देखने को मिलते हैं। एक स्थान पर अशोक सोचता है --" अहर यह संसार तो दुःखमय है ही, जहां पर हमेशा जीवन कलह का व्यापार जारी रहता है,

---

१ 'शिवाजी' : डा० रामकुमार वर्मा, पृ०५२

२ वही, पृ०८६

जहां पर ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, बन्धुविरोध का घृणित कीचड़ भरा हुआ है, वह संसार दुःखमय नहीं तो क्या है।[1]"

सन्तोष

भारतीय संस्कृति के अनुसार संतोष में ही सारा सुख निहित है, यही मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। रामवृक्ष बेनीपुरी के नाटक 'तथागत' में बुद्ध अपने शिष्यों से कहते हैं --" यदि निर्वाण चाहते हो, तो संतोष का अभ्यास करो। संतोष होने पर सुख मिलता है और संतोष ही धर्म है। संतुष्ट मनुष्य भूमि पर भी शान्तिपूर्वक सोते हैं और असन्तुष्ट मनुष्य स्वर्ग में भी जलते रहते हैं।[2]"

अहिंसा

भारतीय संस्कृति में अहिंसा को धर्म माना गया है-- 'अहिंसा परमोधर्मः'। यहां हिंसा को अत्यन्त निम्न कर्म समझा जाता है, क्योंकि यहां की नीति, जीवों पर दया करना, निर्बलों की सहायता करना और दुःखियों का दुःख दूर करना है।

वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक 'धीरे धीरे' में भी इस बात की पुष्टि की गयी है। कि जमींदार गुलाब सिंह के जंगल से कुछ लकड़ी काटने की बात को लेकर मतभेद प्रारम्भ होता है और मारपीट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उस समय ग्रामवासियों का नेता सगुणचन्द अपने साथियों से कहता है--" हमने संसार को प्रमाणित कर दिया है कि हम शेर बच्चे हैं। परन्तु अब हमें रुक जाना चाहिए। अहिंसा हमारा परम धर्म है। हम लोग लाठी तलवार की लड़ाई नहीं लड़ते। सत्य हमारा सबसे बड़ा हथियार है।[3]"

प्रस्तुत उदाहरण में भी सगुणचन्द ने अहिंसा और सत्य की महत्ता को स्वीकार किया है। क्योंकि सत्य और अहिंसा की सदैव

---

1 'सम्राट अशोक' : चन्द्रराज भण्डारी, पृ०१०२
2 'तथागत' : रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रथम संस्करण, पृ०१२०
3 'धीरे धीरे' : वृन्दावनलाल वर्मा, द्वितीय संस्करण, पृ०५१

विजय होती है। हमारे देश के कर्णधारों ने सत्य और अहिंसा के ही बल पर अपने देश को स्वतन्त्र कराया है।

इसी प्रकार 'पूर्व की ओर' नाटक में भी एक स्थान पर अयमिक्षु कहता है-- 'लोहा से लोहा कटता है पर हिंसा से हिंसा नहीं कट सकती[१]।' एक अन्य स्थल पर सम्राट बनने पर अश्वतुंग अपने राज्य में बलि का निषेध करते हुए कहता है--'नरबलि तथा पशुबलि का सर्वथा निषेध किया जाता है[२]।' आपके एक अन्य नाटक 'हंस मयूर' में भी कालकाचार्य कहते हैं --'सावधान। शान्त।। नागरिक। हिंसा से निरत होने का साधन हिंसा नहीं हो सकती[३]।' 'बीरबल' में अहिंसा से प्रभावित होकर अकबर कहता है --' कोई भी जानवर खाने पीने के लिए नहीं मारा जायेगा[४]।' वह पुन: कहता है --' मैंने ध्यान लगाकर एक नये मजहब का नक्शा बनाया है -- जैनियों से लिया है, अहिंसा यानी किसी भी जानवर का न मारा जाना, जो कोई मारे उसका सिर कटवा कर फिंकवा देना[५]।'

क्षमा

भारतीय संस्कृति का अद्भुत गुण है क्षमा। यह गुण हिन्दी नाटकों में भी देखने को मिलता है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के नाटक 'अशोक' में अशोक राज्यलिप्सा के कारण अपने बड़े भाई की हत्या करा देता है। उसकी भाभी शीला बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेती है। कलिंग युद्ध के समय घायल सैनिकों की सेवा करते हुए उसे ज्ञात होता है कि अशोक की हत्या का षड्यन्त्र हो रहा है, उस समय वह अशोक के सभी पूर्व अपराध क्षमा कर उसके प्राणों की रक्षा करने का निश्चय करके कहती है--' अशोक मेरे देवर, मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया। मैंने तुम्हें हृदय से क्षमा कर दिया। मैं

---

१ 'पूर्व की ओर' : वृन्दावनलाल वर्मा, पृ०१४८

२ वही, पृ०१६२

३ 'हंस मयूर' : वृन्दावनलाल वर्मा, तृतीय संस्करण, पृ०२८

४ 'बीरबल' : वृन्दावनलाल वर्मा, तृतीय संस्करण, पृ०८६

५ वही, पृ०६०

आज अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होऊंगी और तुम्हें मृत्यु के मुंह से बचा लूंगी।[1]

'तथागत' में भी अन्तिम निर्वाण के समय बुद्ध अपने शिष्यों से कहते हैं-- "क्षमा के समान कोई तप नहीं, जो क्षमावान हैं, उन्हें ही शक्ति मिलती है, उसे ही धर्म प्राप्त होता है।"[2] इसी प्रकार 'अजितसिंह' में राजकुमार अजित शत्रुओं से मिल कर राजा को विष दे देते हैं। मरणासन्न राजा उसे क्षमा कर देते हैं, परन्तु रानी कहती है कि यह महापातक है अत: इसके लिए क्षमा नहीं है। यह सुनकर राजा कहते हैं--" क्षमा है महारानी। माता के हृदय में पुत्र के लिए सदैव क्षमा है। मैंने उन्हें क्षमा कर दिया है तुम भी उन्हें क्षमा करो।"[3]

धैर्य तथा सच्चरित्रता

रामकुमार वर्मा के नाटक 'शिवाजी' में आबाजी सौनदेव के नेतृत्व में शिवाजी की सेना कल्याण पर चढ़ाई करती है। वहां के खजाने के साथ, वहां के सूबेदार मुल्लाअहमद की पुत्रवधू गौहरबानू जो अत्यन्त सुन्दरी है, को भी सौनदेव पकड़ लाता है और अपनी बहन काशी के संरक्षण में रखता है। काशी दु:खी गौहर बानू से कहती है--" बानू तुम्हें धैर्य रखना चाहिए। नारी की मर्यादा रोने में नहीं है, दृढ़ता से दु:ख को सुख बनाने में है। हमारे इतिहास में इसके अनेक उदाहरण हैं, हम लोगों ने अपना बलिदान कर दिया है, किन्तु आंखों में आंसू नहीं आने दिए।"[4] भारतीय संस्कृति में पराई स्त्री को सदा मां, बहन और बेटी के रूप में देखा जाता है। स्त्रियों, बच्चों, पशुओं और अपाहिजों की रक्षा करना उनका प्रथम कर्तव्य माना जाता है। जब आबा जी सौनदेव गौहरबानू को पकड़ने का प्रयत्न कर रहा था, तब रामचन्द्र उसकी रक्षा का प्रयत्न कर रहा था। परन्तु दुर्भाग्य से गौहर ने रामचन्द्र को शत्रु समझ कर उसे अपने कृपाण का निशाना बनाया।

---

१ 'अशोक' : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पृ०१२६
२ 'तथागत' : रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रथम संस्करण, पृ०११६
३ 'अजितसिंह' : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, तृतीय संस्करण, पृ०१६२
४ 'शिवाजी' : रामकुमार वर्मा, पृ०४८

जब यह बात शिवा जी को ज्ञात होती है तब वह रामचन्द्र की बहन सोना से कहते हैं--" ..... तुम्हारा भाई याज्ञ रामचन्द्र लौट कर नहीं आया। यह बुरा हुआ। लेकिन अच्छा यह हुआ कि उसके प्राण एक स्त्री की रक्षा करने में गये। उसने मेरे आज्ञाओं की रक्षा की।[1]" सोमदेव ने गौहरबानू को शिवाजी को भेंट किया। पर उस अत्यन्त सुन्दरी गौहर के प्रति भी शिवाजी ने अपने मन में विकार न आने दिया। उन्होंने उसमें अपनी माँ का रूप देखा। वे गौहरबानू से कहते हैं--" ..... आपकी इस सुन्दरता में मुझे अपनी माँ जीजाबाई का मुख दीख पड़ता है, अपनी माँ जीजाबाई की मुस्कान दीख पड़ती है। आपके बोलने में मुझे जीजाबाई का आशीर्वाद सुन पड़ता है।[2]" उसके पश्चात् शिवाजी आबा जी सोनदेव को बुलाकर कहते हैं --" आबा जी तुम जानते हो कि सेना के आक्रमण में मेरा आदेश है कि शत्रुओं के देश की स्त्री का किसी तरह भी अपमान नहीं होना चाहिए -- उन्हें माँ और बहनों के समान आदरणीय और पूज्य समझ कर उनकी इज्जत करनी चाहिए -- बच्चों को कभी उनके माता-पिता से जुदा मत करो -- गाय मत पकड़ो और ब्राह्मणों के ऊपर अत्याचार मत करो।[3]"

<u>नीति</u>

भारतीय नीति के अनुसार कर्तव्य पालन में शत्रु और मित्र का भेद नहीं माना जाता है। उनकी शत्रुता केवल रणभूमि तक ही सीमित रहती है। सत्येन्द्र जी के नाटक 'मुक्तियज्ञ' में छत्रसाल औरंगजेब से मिलने दिल्ली जाता है। एक दिन यमुना के किनारे औरंगजेब की पुत्री बदरुन्निसा से उसकी भेंट होती है, जो यमुना में कूद कर आत्मघात करने आई थी। छत्रसाल उसे प्राण देने से रोकता है और उसके दुःख का कारण पूछता है। बदरुन्निसा बताती है कि उसकी बुआ रोशनआरा उसके पिता औरंगजेब को

---

१ 'शिवा जी' : रामकुमार वर्मा, पृ०८१

२ वही, पृ०८४

३ वही, पृ०८६

मार डालना चाहती है। उससे यह अत्याचार सहन नहीं हो सकता है, अत: वह प्राण विसर्जन करना चाहती है। वह कुनाल से अनुरोध करती है कि यदि वह बचा सकता है तो उसके पिता को बचा ले। परन्तु उसके पिता तो उसके शत्रु हैं। तब कुनाल कहता है --"बहिन शत्रुता का नाता राजनैतिक नाता है। वह नैतिकता का पतन है। और बहिन का नाता विशुद्ध नैतिक नाता है। क्षत्रिय के लिए नैतिकता सबसे बढ़कर है। बहिन तुम्हारे हित के लिए कुनाल अपनी शत्रुता भूल जायेगा।"[1]

त्याग

भारतीय संस्कृति में त्याग और बलिदान का विशेष महत्व है। त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति महान व्यक्ति होता है। वह दूसरों के सुख के लिए अपने सुखों का हंसते हुए त्याग कर देता है ।

त्याग की यह भावना 'रेवा' में भी दृष्टिगोचर होता है। आशाद्वीप की राजकुमारी से उसके गुरु बताते हैं कि दूर देश से एक राजकुमार आयेगा और वही उसका पति होगा। राजा और रानी के निधन के बाद रेवा उस द्वीप की रानी बनती है। बहुत दिनों की प्रतीक्षा के बाद कन्नौज का राजकुमार यशोवर्मन उस देश में आता है और रेवा का आतिथ्य ग्रहण करता है। रेवा का एक विदेशी से आत्मीयता बढ़ाना, देशवासियों को उचित नहीं लगता। वे इस विषय में ही रेवा से बात करना चाहते हैं। रेवा को यह बात ज्ञात है,अत: वह राजकुमार से कहती है -- " देखो राजकुमार मैं आशाद्वीप की रानी हूं,और इस तरह अपनी सम्पूर्ण प्रजा की माता हूं। मैं नहीं चाहती कि अपनी किसी भी व्यक्तिगत इच्छा या स्वार्थ के लिए मैं अपनी प्रजा के चित्त को कष्ट पहुंचाऊं।"[2] प्रजा से बात करने के बाद वह यशोवर्मन से लौट जाने को कहती है और एकान्त में बैठ कर स्वयं से

---

१ "मुक्तियज्ञ" : प्रो० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण,पृ०४६-४७
२ "रेवा" : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार,पृ०११०

कहती है --" मैं रानी हूं, नागरिकों की मां हूं, उनकी माता बनकर रहूंगी । उनके लिए मैं अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का बलिदान कर दूंगी । तुम जाओ राजकुमार ! मेरे हृदय को समझे बिना तुम स्वदेश को वापस लौट जाओ[1]।"

त्याग का एक अन्य उदाहरण "अजित सिंह" में भी उपलब्ध होता है। इस नाटक में रजिया का त्याग सराहनीय है। रजिया अजित सिंह को प्यार करती है और अजित सिंह भी उससे विवाह करना चाहते हैं, परन्तु राजनीतिक परिस्थितिवश दुर्गादास उसका विवाह उदयपुर की राजकुमारी से करना चाहते हैं। इसलिए दुर्गादास रजिया से कहते हैं कि वह यहां से चली जाय इसी में अजित की भलाई है। यह सुनकर रजिया कहती है --" तब,.... तब मैं चली जाऊंगी ठाकुर[2]।" और वह चली जाती है। पीपला की छावनी में अकेली बैठी हुई वह कहती है --"..... मुझे कितना चाहते हैं उन्होंने मुझे बीबी बनाने को कहा था, मगर मैं चली आई। ठाकुर ने मुझे कहा था कि इससे वह बर्बाद हो जाएंगे, उनके बाप-दादों के नाम पर धब्बा लग जायेगा। क्या मैं अपने राजा को अपने ही हाथों बर्बाद कर देती[3] ?"

इसी प्रकार "प्रताप प्रतिज्ञा" में हल्दी घाटी के पराजय के बाद प्रताप को पुनः सैन्य संगठन करने के लिए भामाशाह अपना सम्पूर्ण संचित धन देने को तत्पर है। यह देखकर राणा प्रताप कहते हैं-- "भामाशाह,..... तुम महान हो गए! तुम्हारा त्याग कितना उज्ज्वल है[4]।" चन्द्रराज भण्डारी के नाटक "सिद्धार्थ कुमार" में त्याग को सर्वोत्तम धर्म बताया गया है। सिद्धार्थ के सन्यास ग्रहण करने के पश्चात् यशोधरा भी सन्यासिनी का जीवन व्यतीत करती है। एक दिन वह एक सन्यासिनी से अनुरोध करती है कि वह ऐसा उपदेश दे जिससे शान्ति मिले। यह सुनकर सन्यासिनी कहती है --" यशोधरा ! धर्म का सूक्ष्म तत्व तो बहुत गूढ़ है। पर मोटे तरीके से दूसरों के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करना ही सब धर्मों की जड़ है। मनुष्य

---

१ "रेवा" : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पृ०११३
२ "अजितसिंह" : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, तृतीय संस्करण, पृ०५६
३ वही, पृ०१२५-१२६
४ "प्रताप प्रतिज्ञा" : जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, प्रथम संस्करण, पृ०८१

जाति के चरणों में हंसते -हंसते अपने सुख का बलिदान कर देना ही सर्वोच्च धर्म है।[1]"

शरणागत रक्षा

भारतीय संस्कृति में शरणागत रक्षा धर्म माना गया है। "राजसिंह" में अम्बर का राजा रामसिंह अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता है और अपनी बहन चारुमति का विवाह अकबर से करना चाहता है। अपने उद्धार का अन्य उपाय न देखकर चारुमति राजसिंह को पत्र लिखती है और उसका आश्रय चाहती है। उस समय राजसिंह अपने सरदारों से कहता है -- "..... मरना मारना ही सूरमा की शोभा है और शरणागत की रक्षा करना प्रत्येक क्षत्रिय का धर्म है।[2]" इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर जोधपुर की रानी अकबर के अत्याचारों से किसी प्रकार बचती हुई अपने पुत्र को लेकर राजसिंह के पास आती है। राजसिंह उन्हें आश्रय देता है, फलत: क्रुद्ध होकर अकबर राजसिंह पर चढ़ाई कर देता है। तब राव केसरी सिंह कहते हैं -- " हम मर मिटेंगे पर शरणागत की रक्षा करेंगे[3]।"

ईश्वर पर विश्वास

भारतीय संस्कृति के अनुसार ईश्वर जगत का पिता है अत: वह सदा जीवों की इष्ट साधना ही करता है। उसके दिये दु:खों में कौन-सा सुख छिपा है, इसे संसारी जीव नहीं जान पाते अत: ईश्वर प्रदत्त सभी सुखों तथा दुख दु:खों को सहर्ष स्वीकार करना ही चाहिए।

लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक "अंधा कुंआ" में भी भगौती अपनी पत्नी सूका पर अत्यधिक अत्याचार करता है। उसके छोटे भाई की पत्नी राजी सूका को प्यार करती है अत: वह उसे घर से अलग कर देता है और पुन: "लच्छी" नाम की लड़की से विवाह कर लेता है परन्तु वह भी सूका को बहुत प्यार करती है। यह देखकर गांव की एक

---

1 "सिद्धार्थ कुमार" : चन्द्रराज भंडारी, प्रथम संस्करण, पृ०१०६
2 "राजसिंह" : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, द्वितीय संस्करण, पृ०१०४
3 वही, पृ०१८७

स्त्री कहती है -- "भगवान सबका मालिक है दीदी। 'जाको राखै साइयाँ मार न सकिहैं कोय'[1]।"

'मुक्तियज्ञ' में भी इसी बात की पुष्टि की गयी है। औरंगजेब के बुन्देलखण्ड पर चढ़ाई करने पर छत्रसाल देश की रक्षा में दत्तचित्त है, परन्तु ओड़छा की रानी हीरादेवी छत्रसाल के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रही है। हीरा देवी की लड़की विमला जो पुरुष वेश में 'विमल' नाम से जानी जाती है, देशहित के लिए इस षड्यन्त्र से छत्रसाल को अवगत कराती है। जिसे सुनकर छत्रसाल कहता है -- "किंचित भी भय मत खाओ। वह सर्वशक्तिमान सब भला करेगा[2]।" वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक 'पूर्व की ओर' में भी गजमद कहता है -- "शिव महादेव ने देह क दी वही आगे की चिन्ता करेगा[3]।"

पतिव्रत धर्म

पतिव्रत धर्म नारी का परम धर्म है। यह धर्म भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। भारतीय नारी पति के कष्टों को स्वयं सहन करने के लिए सदा तत्पर रहती है। 'अशोक' में अशोक ने राज्यलिप्सा के कारण भाई का वध करवाया तथा चंडगिरि की भी हत्या करा दी। इतना ही नहीं, उसने अनेक युद्ध भी किये, जिसमें कलिंग का युद्ध सबसे भीषण युद्ध था। उसमें हुए रक्तपात से तथा अशोक द्वारा किये गये इन दुष्कर्मों से दुःखी हो अशोक की पत्नी तिष्यरक्षिता भगवान से प्रार्थना करती है -- "..... ओफ उफ इतने लोगों की यन्त्रणाएं होंगी। प्रभो! उनके कर्मों का सम्पूर्ण दण्ड मुझ अकेली को देना[4]।"

इसी प्रकार 'सीताराम' में जब लक्ष्मण सीता को वन में छोड़कर जाने लगते हैं तब वह कहती हैं कि राम से कहना -- "कहना महाराज ..... मैं आपके बिना कभी न रहती, तुरन्त प्राण त्याग देती

---

1 'अंधा कुंआ' : लक्ष्मीनारायण लाल, प्रथम संस्करण, पृ०८७
2 'मुक्तियज्ञ' : प्रो० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण, पृ०११६
3 'पूर्व की ओर' : वृन्दावनलाल वर्मा, तृतीय संस्करण, पृ०१००
4 'अशोक' : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पृ०१०५

पर आपका तेज मेरे शरीर में है। इसलिए बालक के जन्म लेने तक मैं सूर्य में दृष्टि लगा कर तप करूंगी कि जिससे फिर मुझे आप ही पति मिलें।[1]
बाल्मीकि आश्रम में एक सखी कहती है कि राम ने सीता को त्याग कर उचित नहीं किया। यह सुनकर सीता कहती है — "प्यारी सखी, रघुकुल-कमल की निन्दा मत करो।"[2] एक अन्य स्थल पर जब राम तथा उनकी मातारं बाल्मीकि आश्रम में सीता से मिलती हैं तब राम पुत्रों को तो ग्रहण कर लेते हैं,परन्तु लोकापवाद के भय से सीता को ग्रहण नहीं करते हैं। तब सीता कहती हैं कि एक बार उन्होंने अग्नि परीक्षा दी है और आज वे पुन: अपनी परीक्षा देंगी। वह धरती को सम्बोधित कर कहती हैं--" हे माता वसुन्धरे, जो मैंने आज तक पति के चरणों को छोड़ और किसी का ध्यान भी न किया हो, कभी स्वप्न में भी पति पर क्रोध न किया हो, जो मैं पवित्र सती हूं तो वसुन्धरे मां, तुम अभी फट जाओ और मुझे अपनी गोद में ले लो।"[3] पतिव्रत धर्म के प्रभावस्वरूप पृथ्वी फट जाती है और सीता को अपनी गोद में ले लेती है।

नारी का महत्व

भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नारी के महत्व का दिग्दर्शन इसी बात से हो जाता है कि भारतीय धर्म के अनुसार बिना धर्मपत्नी के कोई भी धार्मिक कार्य, यज्ञ-अनुष्ठान आदि सफल नहीं हो सकते। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के नाटक "सीताराम" में वशिष्ठ मुनि राम से अश्वमेध यज्ञ करने को कहते हैं तब राम कहते हैं--" महाराज, मैं भाग्यहीन, पत्नी और पुत्र रहित राजा हूं। यज्ञ का अधिकारी नहीं।"[4]

पितृ भक्ति तथा भ्रातृ भक्ति

भारतीय संस्कृति पितृप्रधान संस्कृति है। यहां पिता और ज्येष्ठ भ्राता को उतना ही सम्मान दिया गया है, जितना ईश्वर को। इनकी आज्ञा का अनुसरण करना धर्म बताया गया है।

---

१ "सीताराम" : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, द्वितीय संस्करण,पृ०२२

२ वही,पृ०५४

३ वही,पृ०६६

४ वही, पृ०३५

'मुक्तियज्ञ' में सागराधिपति शुभकरण देश द्रोह को पाप समझते हैं परन्तु ओरछा की महारानी हीरा देवी से वचनबद्ध होने के कारण विवश होकर उन्हें देशद्रोह में भाग लेना पड़ता है, परन्तु वे अपने पुत्र छत्रसाल को देश के उद्धार में सम्मिलित होने को कहते हैं। तब छत्रसाल कहता है-- "ओ आज्ञा पिता जी ईश्वर मुझे बल दे, जिस प्रकार राम ने दशरथ की, भीष्म ने शान्तनु की आज्ञा पालन की, उसी प्रकार मैं भी आपकी आज्ञा पालन करने में समर्थ हो सकूं-- मैं भी अपने देश और धर्म की रक्षा में कुछ काम आ सकूं, व यह चलते समय मुझे आशीर्वाद दीजिए।[1]"

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के नाटक "सीताराम" में भी जब लक्ष्मण सीता को वन में छोड़कर लौटने लगते हैं तब वे दुःख के अतिरेक से मूर्छित हो जाते हैं। यह देखकर उनके जाने के बाद सीता कहती हैं -- "गये तेज और विनय के अवतार बड़े भाई की आज्ञा को ईश्वर की आज्ञा मानने वाले जती लक्ष्मण।[2]"

कर्तव्यपरायणता तथा स्वामिभक्ति

भारतीय संस्कृति के अनुसार स्वामी के लिए प्राण देना भी पावन कर्तव्य समझा जाता है। कर्तव्यनिष्ठा भी भारतीयता की अपनी ही विशेषता है।

प्रो० सत्येन्द्र के नाटक 'मुक्ति यज्ञ' में रौशन आरा औरंगजेब से असन्तुष्ट हो, उसकी हत्या करने आती है, परन्तु छत्रसाल उसे बचा लेता है। औरंगजेब इसके लिए छत्रसाल के प्रति आभार प्रदर्शित करता है। तब छत्रसाल कहता है-- "शाहंशाह आलमगीर! मैंने केवल अपना कर्तव्य किया। अन्यायी के हाथों से प्राणिमात्र के प्राणों की रक्षा करना हम क्षत्रियों का पावन धर्म है।[3]"

---

१ "मुक्ति यज्ञ" : प्रो० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण, पृ०२४

२ "सीताराम" : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, द्वितीय संस्करण, पृ०२४

३ मुक्तियज्ञ" : प्रो० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण, पृ०५०

स्वामिभक्ति का उदाहरण भी व्यथित हृदय के नाटक 'स्नेह बन्धन' में भी उपलब्ध होता है। महाराणा तथा शक्तसिंह के बीच आखेट को लेकर युद्ध होने लगता है। आपसी द्वेष को शान्त करने के लिए राजपुरोहित पहले तो उन्हें समझाते हैं, परन्तु न मानने पर अपने प्राणों की आहुति देकर दोनों भाइयों का क्रोध शान्त करते हैं। वे कहते हैं--"....दोनों एक दूसरे के रक्त के प्यासे.... किन्तु नहीं, मैं अपनी आंखों के सामने मेवाड़ के राजवंश का सर्वनाश न होने दूंगा। मेवाड़ के राजवंश का नमक मेरे प्राणों में मिला है मैं उसका मूल्य चुकाऊंगा[1]।"

इसी बात की पुष्टि 'प्रताप प्रतिज्ञा' में भी की गई है। हल्दी घाटी के युद्ध में घायल महाराणा प्रताप को मुगल सैनिकों से घिरा हुआ देखकर स्वामिभक्त चन्द्रावत, जो स्वयं घात-विघात अवस्था में थे, प्रताप से यह कहते हुए कि --" आज महाराणा प्रताप के बदले यह चन्द्रावत प्राणों की आहुति देगा,[2]" राणा का छत्र तथा राजचिह्न अपने मस्तक पर रख लेते हैं। मुगल सैनिक उन्हें ही राणा प्रताप समझ कर उनपर टूट पड़ते हैं। इस प्रकार वह स्वामिभक्त सरदार अपने प्राणों की आहुति देकर स्वामी के प्राणों की रक्षा करता है।

प्रजापालन

प्रजा के सन्तोष के लिए राम अपनी सती साध्वी पत्नी सीता को गर्भावस्था में त्याग देते हैं। ऐसा करते हुए वे अत्यन्त दुःखी होकर कहते हैं--" अरे हृदय तू फट जा..... नहीं, मैंने सदा अपनी बलि दी और अब सब से बड़ी बलि दूंगा। प्रजा के लिए गर्भवती सीता को त्याग दूंगा[3]।"

---

१ "स्नेह बन्धन" : व्यथित हृदय, पृ०४७

२ "प्रताप प्रतिज्ञा" : जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, प्रथम संस्करण, पृ०५५

३ "सीताराम" : चतुरसेन शास्त्री, द्वितीय संस्करण, पृ०११

देशभक्ति

प्रसादोत्तर नाटकों में देश-प्रेम का गौरवशाली रूप देखने को मिलता है ।प्रो० सत्येन्द्र के नाटक `मुक्तियज्ञ` में एक स्थान पर दलपति कहता है --` ..... हे मातृभूमि ! ये उदय होते हुए सूर्य साक्षी हैं, ये अनन्त और व्यापक महाकाश साक्षी है । तेरी स्वतन्त्रता ही मेरा ध्येय है। मुझे कोई सहायक मिले या न मिले, मुझे अपने प्राणों की आहुति ही क्यों न देनी पड़े, परन्तु मैं अपने ध्येय से नहीं हटूंगा[1] ।`

इसी प्रकार स्नेहबन्धन में देश-प्रेम को सर्वोपरि माना गया है । कुशला खड्ग की धार तेज करने के पश्चात् अपने पति प्रेमसिंह से उसका धार देखने को कहता है,परन्तु कायर प्रेमसिंह इसके लिए तैयार नहीं होता वह उससे दया की भिक्षा मांगता है तब कुशला कहती है --` न आज मेवाड़ की समस्त स्त्रियां वज्र की भांति कठोर हो गई हैं.....उनके हृदय में न पुत्र की ममता है और न पति का प्रेम । वे केवल एक राग जानती हैं-- पति और पुत्रों का मातृभूमि के चरणों पर बलिदान[2] ।` एक अन्य स्थान पर प्रतापसिंह द्वारा निर्वासित शक्त सिंह क्रोधवश सलोम से मिल जाता है । सलोम मेवाड़ को विध्वंस करने के लिए शक्तसिंह से मेवाड़ के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहता है । तब शक्त सिंह कहता है--`न, मुझसे न हो सकेगा समृाट ! मैं महाराणा प्रताप से असन्तुष्ट अवश्य हूं,किन्तु मैं मेवाड़ का सर्वनाश नहीं चाहता । मैं नहीं चाहता, मेरी मातृभूमि पैरों से कुचल दी जाय, उसके जन्म-सिद्ध अधिकारों को रौंद कर उसे जन्म जन्मान्तर के लिए दासता की कर्कश जंजीरों से बांध दिया जाय । मुझे क्षमा कीजिए समृाट ! मैं अपने हाथों अपनी जननी जन्मभूमि को विष का प्याला नहीं पिला सकता[3] ।`अकबर के कहने पर कि प्रताप निष्कंटक राज्य चाहता है,इसी कारण उसे राज्य से निष्कासित कर दिया है, शक्तसिंह कहता है --` मेरे हृदय में अशान्ति और

---

१ `मुक्तियज्ञ` : प्रो० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण,पृ०२७

२ `स्नेहबंधन` : व्यथित हृदय`,पृ०६४

३ वही, पृ०७०

विद्रोह की आग न पैदा कीजिए सम्राट ! मैं मेवाड़ का रहने वाला राजपूत हूं। मेवाड़ी राजपूत अपने प्राणों से भी अधिक अपनी मातृभूमि को चाहता है, और चाहता है अपने देश के गौरव को। वह बड़े-बड़े साम्राज्यों को उस पर निछावर करता है, बड़े बड़े सत्ताधारियों को उसके सामने तुच्छ समझता है। मैं मरुस्थल में भटकूंगा, दर दर अन्न और जल की याचना करूंगा, किन्तु मातृ-भूमि को अपने ही हाथों दासता के कठोर बन्धन में न बंधाऊंगा[1]।'

'प्रताप प्रतिज्ञा' में भी बालेट के लिए प्रतापसिंह तथा शक्त सिंह में परस्पर युद्ध होने लगता है। राजपुरोहित उन्हें रोकने का प्रयत्न करते हैं। उनके न मानने पर वे आत्मघात कर लेते हैं, जिससे युद्ध रुक जाता है और दोनों ही पश्चात्ताप करते हैं तथा उनसे क्षमा मांगते हैं। उस समय पुरोहित कहते हैं--'वत्स ! मेरे लिए पश्चात्ताप न करो। मैं आज संसार को दिखा देना चाहता हूं कि भारत के ब्राह्मण केवल दान लेना ही नहीं जानते, समय पड़ने पर देश के लिए प्राण भी होम देते हैं[2]।'

इसी प्रकार 'राजस्थान का भीष्म' में मेवाड़ के महाराणा मारवाड़ की राजकुमारी का टीका स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और घोषणा कर देते हैं कि राज्य का उत्तराधिकारी चंड न होकर मारवाड़ की राजकुमारी से उत्पन्न पुत्र होगा। महाराज की इस घोषणा से चंड के छोटे भाई रघुवंश को मेवाड़ का भविष्य अन्धकारमय दिखायी देने लगता है, क्योंकि चंड सभी अधिकारों तथा राज्य से वंचित कर दिया गया है। यह सुनकर चंड कहता है--' मातृभूमि की सेवा के लिए अधिकारों की आवश्यकता नहीं है। उनके नशे में तो मनुष्य कभी-कभी अपना कर्तव्य भी भूल जाता है। मातृभूमि का हित प्राणों से भी प्रिय है। तुम उसकी चिन्ता न करो[3]।'

इससे ज्ञात होता है कि किसी भी भारतीय को अपनी मातृभूमि अत्यन्त प्रिय है। वह अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए अपनी अमूल्य

---

१ 'स्नेह बन्धन' : व्यथित हृदय, पृ०७१

२ 'प्रताप प्रतिज्ञा' : जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, प्रथम संस्करण, पृ०२२

३ 'राजस्थान का भीष्म' : देवीलाल सामर, प्रथम संस्करण, पृ०६

वस्तु का भी अर्पण करने के लिए सहर्ष तत्पर हो जाता है । इसीलिए कहा गया है--

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।'

निष्कर्ष

प्रसादोत्तर युग में जनक्रान्ति चरमसीमा तक पहुंच चुकी थी और राष्ट्रीय चेतना तीव्रतर होती जा रही थी, फलत: समूचे देश में विस्तृत पैमाने पर सत्ता के विरुद्ध अनेक षड्यन्त्र रचे जा रहे थे । सत्याग्रह आन्दोलन, भारत छोड़ो आन्दोलन आदि के फलस्वरूप जनमानस आक्रोश और क्रान्ति से अभिभूत हो रहा था । ऐसे समय तत्कालीन नाटकों ने जनक्रान्ति की अग्नि में समिधा का कार्य किया । अनेक देशप्रेम सम्बन्धी नाटकों के प्रणयन ने जनता में देशप्रेम की ज्वाला फूंक दी । इसके अतिरिक्त पूर्व पुरुषों के उज्ज्वल चरित्रों के तथा भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्वों के वर्णन द्वारा जनमानस में भारतीयता की भावना जागृत करने में इस युग के के पौराणिक नाटकों को आशातीत सफलता प्राप्त हुई । ऐतिहासिक नाटकों द्वारा भारत के गौरव का उल्लेख कर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया । अंग्रेजों की कूटनीति से उत्पन्न हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को दूर करने में भी इन नाटकों का पर्याप्त सहयोग रहा है । इन ऐतिहासिक नाटकों की कथा अधिकांशत: मुगलकालीन इतिहास से ली गई तथा इन नाटकों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना जागृत करने की चेष्टा की गई । इन नाटकों में हरिकृष्ण प्रेमी का 'रक्षाबन्धन', 'स्वप्नभंग', 'मित्र' 'आहुति', वृन्दावनलाल वर्मा का 'वीरबल', डा० रामकुमार वर्मा का 'शिवाजी' तथा प्रो० सत्येन्द्र का 'मुक्तियज्ञ' आदि उल्लेखनीय नाटक हैं ।

इस युग के नाटकों पर बौद्ध धर्म का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । अनेक नाटकों में प्राप्त विश्वबन्धुत्व की भावना, अहिंसा, धार्मिक सहिष्णुता आदि के उदाहरण इसके प्रमाण हैं । बुद्ध के जीवन से प्रभावित होकर अनेक नाटककारों ने उनके चरित्र के आधार पर अनेक

नाटकों की रचना की, जिसमें रामवृक्ष बेनीपुरी का 'तथागत', विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल' का 'बुद्धदेव', चन्द्रराज भण्डारी का 'सिद्धार्थ कुमार' आदि महत्त्व-पूर्ण नाटक हैं। इस युग के सामाजिक नाटकों द्वारा समाज-सुधार का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया। जीवन में नित्यप्रति घटनेवाली घटनाओं तथा समस्याओं द्वारा समाज-सुधार की प्रबल प्रेरणा प्रदान की गई। इस प्रकार इस युग के नाटकों ने सांस्कृतिक उन्नति के साथ-ही-साथ समाज-सुधार में भी योग दिया।

-0-

षष्ठम् अध्याय

-0-

एकांकी नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप

इस भौतिकतावादी युग में जब जीवन की गति इतनी तीव्र हो गई है, भला किसके पास इतना समय है कि वह बड़े-बड़े नाटक देखे या पढ़े। इस समयाभाव ने ही एकांकियों को जन्म दिया। एकांकी जब अपने लघु कलेवर में रस तथा प्रभाव का अक्षय भण्डार लिए अवतीर्ण हुई तब उसका भव्य स्वागत हुआ। एकांकी की इस समयानुकूलता ने ही इसे इतने अल्प समय में इतना अधिक लोकप्रिय बनाया। आज एकांकी का प्रचलन ही सर्वाधिक हो रहा है। यह लघु होने के कारण कम समय में ही पर्याप्त मनोरंजन करती है।

इन एकांकियों का प्रारम्भ कब से हुआ, इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वानों का विचार है कि एकांकी प्राचीन विधा है, क्योंकि पहले भी एक अंक के नाटक लिखे जाते थे। कुछ विचारकों के अनुसार प्रारम्भ में नाटक के अभिनय के बीच जो थोड़ा अवकाश मिलता था उस समय जो प्रहसन या छोटे नाटक खेले जाते थे। उन्हीं का विकसित रूप एकांकी है। कुछ अन्य विचारकर्ताओं का विचार है कि एकांकी, नाटक की सर्वथा नवीन विधा है। ऐसी स्थिति में 'हिन्दी एकांकी' का जन्म संस्कृत प्रणाली से और 'आधुनिक हिन्दी एकांकी' का प्रारम्भ प्रसाद-युग से हुआ, मान लेना अनुचित न होगा, क्योंकि प्रसाद से पूर्व एकांकी संस्कृत नाट्य शास्त्र के आधार पर भाण तथा वीथी की परम्परा में लिखे जाते थे। यद्यपि उस समय बंगला तथा पाश्चात्य प्रभाव से नाटक साहित्य प्रभावित अवश्य हुआ था, तथापि उन नाटकों की आत्मा संस्कृत शैली से अनुप्राणित थी। अभी तक लघु नाटकों को ही एकांकी के नाम से अभिहित किया जाता था, परन्तु प्रसादयुग में एकांकी ने अपना स्वतंत्र

रूप धारण किया कर लिया । तत्कालीन एकांकी ने पर्याप्त पश्चात्य प्रभाव ग्रहण कर लिया था तथा पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी थी ।

द्वितीय महायुद्ध ने समाज के साथ-साथ साहित्य पर भी गहरा प्रभाव छोड़ा । हिन्दी एकांकी भी इनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके । परिणामत: एकांकी का विषय राष्ट्रीय आन्दोलन, आक्रोश, विद्रोह युद्ध की विभीषिका, भुखमरी एवं राष्ट्रीय तथा राजनैतिक घटनाएं होने लगीं । सामाजिक रूढ़ियों तथा कुरीतियों को भी एकांकी में स्थान मिला । नारी-समस्या तथा प्रेम सम्बन्धी समस्या की ओर भी एकांकीकारों का ध्यान आकर्षित हुआ । समाज की इन बुराइयों पर एकांकियों के माध्यम से अनेक व्यंग्य बाण छोड़े गए तथा उन्हें दूर करने की प्रेरणा प्रदान की गई । अल्प समय में अधिक प्रभावोत्पादन की क्षमता के कारण यह अधिक लोकप्रिय तथा उपयोगी सिद्ध हुई । प्रभावोत्पादकता के गुण के कारण इसके माध्यम से प्रस्तुत समस्याओं का तीव्र प्रभाव समाज पर हुआ । इस प्रकार समाज में प्रचलित कुरीतियों को दूर करने में इन एकांकियों ने स्तुत्य प्रयास किया । 'प्रतिशोध', 'सर्वस्व समर्पण' आदि प्रेम सम्बन्धों पर आधारित एकांकी हैं । इसके अतिरिक्त धार्मिक असमानता को दूर कर विभिन्न धर्मों के सामन्जस्य का प्रयत्न भी इन एकांकियों ने किया । अनेक एकांकियों में इस समस्या का विशद् वर्णन उपलब्ध होता है । 'मनु और मानव', 'समुद्रगुप्त पराक्रमांक', 'ध्रुवतारिका' आदि एकांकी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

इन एकांकियों के अतिरिक्त कुछ अन्य एकांकी भी लिखे गये, जिनमें नाटकीयता की अपेक्षा काव्यात्मकता का गुण प्रधान था । इन्हें भावनाट्य का नाम दिया गया । इसके अतिरिक्त कुछ एकांकी ऐसे भी लिखे गये जिनमें स्वर तथा गेयता की प्रधानता थी । इन्हें गीतिनाट्य के नाम से अभिहित किया गया । गीतिनाट्य में प्रसाद जी का 'करुणालय' मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' तथा भाव नाट्य में उदयशंकर भट्ट का 'विश्वामित्र', 'राधा', 'मेघदूत' आदि प्रमुख हैं ।

यद्यपि हिन्दी एकांकी शिल्प की दृष्टि से पूर्णत: पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है तथापि इसमें भारतीयता का गुण ही प्रमुख-रूप से परिलक्षित होता है, क्योंकि इन सभी एकांकियों में भारतीय संस्कृति का स्पष्ट रूप देखने को मिलता है । बाह्य दृष्टि से इन पर पाश्चात्य प्रभाव अधिक है अवश्य है, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से ये पूर्णत: भारतीय हैं । इसी कारण इन एकांकियों में भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल रूप परिलक्षित होता है ।

<u>ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या</u>

भारतीय संस्कृति के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है । उसका ज्ञान ही जीवन का सार तत्व है, वह ज्ञान ही अमरत्व है । सांसारिक वस्तुएं मिथ्या हैं, भ्रम हैं, उनका अस्तित्व क्षणभंगुर है । इस भावना की पुष्टि रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक `चारुमित्रा` में की गई है । कलिंग युद्ध के भीषण रक्तपात से दु:खी होकर रानी तिष्यरक्षिता उपगुप्त को शान्ति का उपदेश देने के लिए आमंत्रित करती है । उपगुप्त तिष्यरक्षिता से अशोक के विषय में कहते हैं --` ...... वे विजय के आकांक्षी हैं । विजय प्राप्त करें, किन्तु हिंसा से नहीं अहिंसा से .... वे ज्ञानप्राप्ति में प्रयत्नशील हों, राज्य प्राप्ति में नहीं । ज्ञान अमर है राज्य क्षणभंगुर है ।`[1]

यह दार्शनिकता ही भारतीय संस्कृति का मूल है । सेठ गोविन्ददास जी के मोनोड्रामा `प्रलय और सृष्टि` में नायक अपने को सम्बोधित कर जो कुछ कहता है उसमें पूरा भारतीय दर्शन परिलक्षित होता है । वह कहता है --` ... ... दार्शनिकों की सृष्टि की परिभाषा जब मैं तेरे सफेद कागों से पढ़ता तब .... तब मुझे उनमें कितना तर्क दिखाई पड़ता -- ईश्वर है, यह जगत् उसकी माया है, वह सच्चा है, यह झूठा है । (एक क्षण

---

1 `चारुमित्रा` : रामकुमार वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०४४

सोंच कर) `ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या` । मनुष्य योनि चौरासी लाख योनियों में सबसे श्रेष्ठ इसलिए है कि वह ज्ञान दृष्टि से सृष्टि को देखे, इस माया रूपी जगत से तर,ईश्वर को प्राप्त कर सकती है (धुआं छोड़ते हुए) माया रूपी जगत में तरने के लिए हम सब पैदा हुए हैं, होते रहे हैं, अभी भी होते हैं, और होते रहेंगे । पूर्व जन्म में जो कुछ किया था, इस जन्म में उसका फल भोग रहे हैं, इस जन्म में जो कुछ करेंगे उसका फल अगले जन्म में मिलेगा अत: .... अत: इस मायारूपी जगत में जो कुछ अच्छा बुरा है, जो सुख दु:ख है, वह सब स्वाभाविक है । यह सब कुछ ईश्वर की इच्छा से हो रहा है ।`[1] एक अन्य स्थल पर नायक मोटरु को सम्बोधित कर कहता है--` सब ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूं, तू ब्रह्म है ।`[2]

इसी बात की पुष्टि उदयशंकर भट्ट के भावनाट्य `राधा` में भी की गई है । कृष्ण की मुरली सुन कर सुध-बुध खोयी राधा तथा गोपियों से कृष्ण कहते हैं --

` है क्षणिक सभी कुछ यहां अरी,
छीजता विपल-पल प्राण तरी,
अक्षय उस जीवन का प्रकाश
जिसका जग केवल एक श्वास ।`[3]

आत्मा का स्वरूप

आर्य संस्कृति में आत्मा को अजर,अमर एवं शाश्वत माना गया है । पंचतत्व मय शरीर जो-- क्षिति,जल,पावक, गगन और समीर से निर्मित है, पुन: पंचतत्वों में विलीन हो जाता है, परन्तु आत्मा सदैव अमर रहती है । शरीर रूपी पिंजड़े में बन्दी आत्मा रूपी शुक अवसर पाते ही पिंजड़े से निकल कर असीम गगनमण्डल में स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करने लगता है, जिसे शरीर की

---

१ `प्रलय और सृष्टि`(नाटुकथा) : सेठ गोविन्ददास,प्रथम संस्करण,पृ०५

२ वही, पृ०८

३ `राधा`(व विश्वामित्र तथा दो भाव नाट्य) : उदयशंकर भट्ट,पृ०१२०-१२१

मृत्यु कहते हैं । आत्मा एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करती है, परन्तु नष्ट कदापि नहीं होती । रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक `उत्सर्ग` में भी यही भाव व्यक्त किया गया है । डा० शेखर ने एक ऐसे यंत्र का आविष्कार किया है, जिसके द्वारा शरीर की मृत्यु के बाद भी उसकी आत्मा को बुलाया जा सकता है । इस विषय में वह अपने सहयोगी विनोद से बताते हैं कि --`मृत्यु तो जीवन का एक मोड़ है । जिस प्रकार एक चौड़ा रास्ता जंगल में एक पगडंडी होकर छिप जाता है और हमें नहीं दीख पड़ता उसी प्रकार मृत्यु के बाद जीवन-पथ भी रहस्य के वन में प्रवेश कर जाता है[१]।` इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर मंजुला के पूछने पर कि क्या जीवित और मृत व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है, डा० शेखर कहते हैं --`अन्तर क्या है, शरीर की रेखा मिट जाय तो यह संसार और वह संसार एक ही है । शरीर तो जैसे एक भीगा कपड़ा है जो आत्मा से लिपट गया है और अवसर मिलते ही आत्मा उस शरीर को फेंक कर अपने सच्चे तेज में आ जाती है । या समझ लो कि एक शैतान बालक की तरह आत्मा शरीर के दरवाजे को खोल कर बाहर निकल भागती है । इसी को मरना कहते हैं[२]।`

मोह माया का त्याग

मोह, माया, ईर्ष्या, द्वेष आदि का त्याग करने के पश्चात् ही मनुष्य शान्तिदायिनी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । इस बात का उल्लेख रामकुमार वर्मा के `चारुमित्रा` में भी प्राप्त होता है । कलिंग युद्ध के अवसर पर रानी तिष्यरक्षिता को उपदेश देने हेतु आमंत्रित बौद्ध भिक्षु उपगुप्त रानी से पूछते हैं कि क्या अशोक घर में नहीं है ? रानी इसका उत्तर देते हुए कहती है कि वीर पुरुषों का घर तो रणक्षेत्र होता है । यह सुनकर

---

१ `उत्सर्ग` (चारुमित्रा) : रामकुमार वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०६३

२ वही, पृ०६६

उपगुप्त कहते हैं -- 'देवि, रणक्षेत्र हृदय को शान्ति नहीं दे सकता । तथागत ने कहा है -- अहंकार और ईषणा का नाश करो । यह युद्ध अधिकार लिप्सा है, इसका अन्त नहीं है देवि[1]।'

जीवन की नश्वरता

मृत्यु जीवन का अनन्त विश्राम है । जीवन-पथ पर निरन्तर चलने वाले पथिक के लिए मृत्यु ही विश्रामदायिनी है । यह कठोर होते हुए भी अनिवार्य है । परिवर्तन विकास का मूल है,अत: संसार के विकास के लिए परिवर्तन अत्यावश्यक है । मृत्यु एवं नाश द्वारा ही संसार में परिवर्तन परिलक्षित होता है । आज जिसका अस्तित्व है कल वह मात्र खण्डहर के रूप में अवशिष्ट रह जायेगा । जीवन की यह नश्वरता भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है । इसके उदाहरण हिन्दी एकांकियों में भी उपलब्ध होते हैं । लक्ष्मी-नारायण मिश्र के एकांकी नाटक 'कौशाम्बी' में कौशाम्बी के ध्वंसावशेष पर खड़े होकर हर्ष हुयेनच्वांग से कहते हैं कि वह जहां खड़ा है उस स्थान पर एक दिन उदयन का राजप्रासाद था और आज केवल एक खण्डहरमात्र अवशेष रह गया है । यह सुनकर हुयेनच्वांग कहता है --'इसीलिए तो संसार में लिप्त नहीं होना है राजन् ! तथागत संसार की नश्वरता से ही सब कुछ छोड़ने को कह गये[2]।'

इसी प्रकार 'आदिम युग' के में पुरूष एक गाय के बच्चे को घायल अवस्था में उठा लाता है, जिसकी मृत्यु हो जाती है । यह देख कर वह वृद्धा से पूछता है कि क्या सबकी मृत्यु होती है, यह सुनकर वृद्धा कहते हैं --'हां एक दिन सब की यही दशा होगी[3]।' जीवन के परिवर्तन के लिए मृत्यु को आवश्यक माना गया है । मनु की मृत्यु के पश्चात् दु:खी परिवार से कर्दम कहते हैं --' यह भयंकर होते हुए भी आवश्यक है । जैसे हरे भरे वृक्ष का सूख कर

---

१ 'चारुमित्रा' : रामकुमार वर्मा, प्रथम संस्करण,पृ०४३

२ 'कौशाम्बी'(अशोकवन) : लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०५७

३ 'आदिमयुग' : उदयशंकर भट्ट, पृ०१६

ठूंठ हो जाना स्वाभाविक है, उसी प्रकार मृत्यु भी अनिवार्य है[१]।'

एक अन्य एकांकी 'गिरती दीवारें' में भी यह बात स्पष्ट की गई है कि काल चक्र से कोई बचता नहीं बचता । प्रद्युम्नकुमार का विचार है कि समय के साथ सबमें परिवर्तन आना आवश्यक है । पुरानी बातों में कोई तथ्य नहीं है,अत: उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है । यह जानकर उनके भाई विनय कहते हैं कि यदि यह सत्य है तो उन्हें अपना शरीर जो पुराना(वृद्ध) हो गया है उसे भी छोड़ देना चाहिए । यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार कहते हैं --' ...... क्या शरीर छोड़ना न छोड़ना मेरे हाथ में है ? उस ईश्वर ने शरीर दिया है, जब चाहेगा तब ले लेगा । जब उसे लेना होता है तब वह थोड़े ही देखेगा कि शरीर नया है या पुराना[२]।'

इस बात की पुष्टि 'देवताओं की छाया में' भी की गई है । शहर में बन रहे मकान के, जिसमें रहीम काम करता है, गिर जाने का समाचार पाकर मर जाना कहती है कि कल से वह रहीम को काम पर नहीं जाने देगी तब रज्जी कहती है --'-बनो--जिसकी आ जाय उसे कौन बचा सकता है और जिसकी बनी है उसे कौन मिटा सकता है[३]।' उदयशंकर भट्ट के भावनाट्य 'विश्वामित्र' में भी विश्वामित्र मेनका से कहते हैं --

' कुछ भी स्थायी नहीं कह रहा भ्रांत जग
नश्वर इस जग में, है स्थायी कुछ नहीं[४]।'

रामकुमार वर्मा के 'उत्सर्ग' में भी जीवन के लिए मृत्यु को आवश्यक बताया गया है । डा० शेखर अपने बनाये हुए क यन्त्र पर छाया देवी की आत्मा को बुलाते हैं,जो उनसे कहती है कि वह उनकी पुत्री सदृश मंजुला को जीवित नहीं रहने देगी । यह सुनकर डा०,शेखर, छाया देवी की आत्मा को नष्ट करने की धमकी देते हैं, तब छाया देवी की आत्मा कहती है--' तुम

---

१ 'आदिमयुग' : उदयशंकर भट्ट, पृ०५४

२ 'गिरती दीवारें'(समस्या का अन्त) : उदयशंकर भट्ट,प्रथम संस्करण,पृ०३१

३ 'देवताओं की छाया में' : उपेन्द्रनाथ अश्क, द्वितीय संस्करण,पृ०३५

४ 'विश्वामित्र' (विश्वामित्र और दो भाव नाट्य) : उदयशंकर भट्ट,पृ०३२

अपनी सीमा से बहुत आगे बढ़ते जा रहे हो । मृत्यु के रहस्य को कोई नहीं जान सकता,लेकिन तुम अपने परिश्रम से बहुत कुछ जान गये । यह रहस्य संसार के मनुष्यों के लिए नहीं है । ईश्वर ने मृत्यु को जीवन के बाद इसीलिए बनाया है कि संसार का जीवन जीवन रहे ।[1]'

'सही रास्ता' में भी मृत्यु की अनिवार्यता का दिग्दर्शन होता ~~~~ है । सत्यप्रकाश की मृत्यु का समाचार सुनकर उनके मित्र जयचन्द उनकी भतीजी प्रभा को सान्त्वना देते हुए कहते हैं --'लेकिन, प्रभा जी ! धैर्य रखिए । संसार में यह कष्ट किसे नहीं झेलना पड़ता ? जो संसार में आता है, उसे एक दिन जाना ही है । कोई जल्दी जाता है, किसी को थोड़ी देर लग जाती है[2]।'

इसी प्रकार 'बुझता दीपक' में मृत्यु को जीवन का दूसरा पक्ष बताया गया है । कांग्रेस कमेटी का सदस्य राधे सदा सत्य और न्याय का पक्ष लेता है,अत: जीवन में असफल रहता है । यहाँ तक कि उसकी प्रेमिका सुषमा भी उसे छोड़कर चली जाती है । अपनी भूल का ज्ञान होने पर जब वह वापस आती है, राधे को मृत्यु शैया पर देखकर उससे पूछती है कि उसे यह क्या हो गया है? तब राधे कहता है--' कुछ नहीं सुषमा ! जहाँ जन्म है वहीं मृत्यु भी है[3]।'

नियति

भारतीय संस्कृति के अनुसार नियति नटी सम्पूर्ण संसार को अदृष्ट सूत्र के बन्धन में बद्ध कर अपने संकेत पर नचाती है । इस बात की पुष्टि हिन्दी एकांकी नाटकों में भी की गई है । भानुप्रताप सिंह सेंगर के एकांकी नाटक 'शकारि विक्रमादित्य' में ध्रुवस्वामिनी तथा चन्द्रगुप्त दोनों ही नियति के सम्मुख अशक्त तथा असहाय हैं । ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को

---

१ 'उत्सर्ग' (चारुमित्रा) : डा० रामकुमार वर्मा,प्रथम संस्करण,पृ०६१

२ 'सही रास्ता' (रिमझिम) : डा० रामकुमार वर्मा, पृ०३०२

३ 'बुझता दीपक' (नाटकसंग्रह): भगवतीचरण वर्मा,पृ०१०६

वाग्दत्ता है, परन्तु रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी से विवाह करना चाहता है । देश पर शकों का आक्रमण हो रहा है अत: परस्पर भाई-भाई के मध्य उत्पन्न वैमनस्य की विभीषिका से देश की रक्षा के लिए मंत्री वीरसेन चन्द्रगुप्त को बाध्य करते हैं कि वह ध्रुवस्वामिनी का विवाह रामगुप्त से हो जाने दे । यह सुनकर चन्द्रगुप्त कहता है --' भवितव्य को कोई नहीं टाल सकता । ईश्वर की यही इच्छा, पितृव्य आर्य । ध्रुवदेवी आपको सौंप कर जाता हूँ[1] ।'

गणेशप्रसाद द्विवेदी के 'सर्वस्व समर्पण' में भी विनोद और निर्मला के परस्पर आकर्षण को देखकर विनोद की पत्नी उमा के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है,जिसका शिकार विनोद बनता है । एक दिन वह निर्मला से कहता है --'निर्मला ! क्या यह अदृष्ट को मंजूर नहीं था कि हमारी और तुम्हारी जीवन-नौका एक साथ चले जाने देते[2] ।' विनोद और निर्मला के बीच से हट जाने के लिए उमा अपनी माला निर्मला के गले में डालकर उसे विनोद को सौंप देती है, परन्तु यह कह कर कि --'दैव ने जिससे हमको वंचित रखना उचित समझा है वह मैं दूसरे को धोखा देकर न लूंगी[3]' निर्मला वह माला उमा को वापस कर देती है ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के एकांकी नाटक 'अशोक वन' में भी नियति को बलवान माना गया है । राम रावण युद्ध का कारण सीता स्वयं को मानती हैं । यह सुनकर चित्रांगदा कहती है --' ऐसी ही होनी थी होनी कब टली है[4] ।'

सत्येन्द्र शरत् के 'प्रतिशोध' में यह विश्वास व्यक्त किया गया है कि जीव मात्र नियति के क्रीड़ा कन्दुक हैं । नियति सुन्दरी इनसे क्रीड़ा करती है और उसमें ही आनन्द प्राप्त करती है । शकुन्तला को कार्डहाउस बनाते देखकर अजित कहता है कि वह बिल्कुल बच्ची है,इसीलिए उसे खिलौने से

---

१ 'शकारि विक्रमादित्य'(विक्रमार्क) : भानुप्रताप सिंह सेंगर,पृ०१२२

२ 'सर्वस्व समर्पण'(सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक) : गणेशप्रसाद द्विवेदी संस्करण,१६३५,पृ०१५४

३ वही, पृ०१७०

४ 'अशोकवन' : लक्ष्मीनारायण मिश्र,तृतीय संस्करण,पृ०१०६

खेलने में आनन्द आ रहा है । यह सुनकर शकुन्तला कहती है--' हम भी तो नियति के खिलौने हैं । वह हमें बनाता है हमसे खेलता है-- उसे भी अपने खेल में बहुत आनन्द आता है[1]।'

कर्मफल तथा पुनर्जन्म

कर्मफल तथा पुनर्जन्म पर अटूट विश्वास अनेक हिन्दी एकांकियों में उपलब्ध होती है । 'आदिम युग' में मनु अपने पुत्र उत्तानपाद की उद्दण्डता से दुःखी होकर गृह त्याग देते हैं और तप करने चले जाते हैं,परन्तु उन्हें वहां शान्ति नहीं मिलती । कर्दम उनसे कहते हैं कि उन्होंने विधि का विधान तोड़कर कर्म से मुख मोड़ा है, इसीलिए उन्हें शान्ति नहीं मिल रही है । यह सुनकर मनु कहते हैं कि क्या उत्तानपाद जैसी सन्तान उत्पन्न करना भी विधि का विधान है ? उस समय कर्दम कहते हैं --' ...... मैं देखता हूं कि अच्छे बुरे का नाम संसार है । यदि एक तरफ उत्तानपाद है तो दूसरी ओर प्रियव्रत भी तो है । शतरूपा आकूती भी तो हैं । मनुष्य स्वतन्त्र प्राणी हैं, कर्म का फल वह भोगेगा । तुम क्यों चिन्ता करते हो[2]।'

'कुमारसम्भव' में भी कालिदास की विलासवती पर विशेष कृपा को वह अपने पूर्व जन्म की सुकृति मानती है । चन्द्रगुप्त कहते हैं कि उसने कालिदास को अपने आधीन कर लिया है । तब विलासवती कहती है --' ..... महाराज, यह न जाने मेरे पूर्व जन्म के कौन से सौभाग्य का फल है कि मेरे ऊपर कविवर ने अपने कृपा-कण बरसाए[3]।'

इसी प्रकार 'रूप की बीमारी' में सोमेश्वरचन्द्र अपने लड़के रूपचन्द्र की बीमारी का कारण अपने पूर्व जन्म के पापों को मानते हैं । वे रूपचन्द्र से कहते हैं --' सोचता था -- तुम्हारी पढ़ाई के बाद सारा काम तुम्हें सौंप कर आराम से शंकर का भजन करूंगा, लेकिन पूर्वजन्म के पाप कहां जायेंगे[4]।'

---

१ 'प्रतिशोध' (तार के खंभे) : सत्येन्द्र शरत्, प्रथम संस्करण,पृ०८५

२ 'आदिमयुग' : उदयशंकर भट्ट,पृ० ४८

३ 'कुमारसम्भव'(आदिमयुग) : उदयशंकर भट्ट,पृ०१६२

४ 'रूप की बीमारी'(रेशमी टाई): डा० रामकुमार वर्मा, चतुर्थ संस्करण,पृ०७६

धार्मिक सामंजस्य तथा समन्वय

भारतीय संस्कृति समन्वय प्रधान संस्कृति है,अत: इसमें अनेक धर्मों तथा सम्प्रदायों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है । यह संस्कृति अपनी उन्नति के साथ-साथ अन्य संस्कृतियों की उन्नति में भी सहायक रही है ।

उदयशंकर भट्ट के एकांकी `मनु और मानव` में अपनी संस्कृति द्वारा दूसरों को उन्नत बनाने के प्रयत्न का उल्लेख मिलता है । आर्यों और अनार्यों के युद्ध के समय इक्ष्वाकु कहते हैं --` क्या हमारा कर्तव्य नहीं है कि हम जहां दस्युओं को शिक्षित करें,वहां अपनी संस्कृति द्वारा उनको उन्नत भी बनावें ।`[1]

`समुद्रगुप्त पराक्रमांक` में समुद्र गुप्त हिन्दु धर्म तथा बौद्ध धर्म की एकता के लिए स्वयं भागवत धर्म का अनुयायी होने पर भी बौद्ध मठों तथा बुद्ध की मूर्ति का निर्माण करवाता है । उसकी इस धार्मिक समन्वय की भावना को देखकर धवलकीर्ति कहता है --` .......आपने भागवत धर्म में विश्वास रखते हुए भी बोधगया में भिक्षुओं के लिए मठ बनवाने की आज्ञा दे दी ।`[2]

`ध्रुवतारिका में थी हिन्दु धर्म तथा मुस्लिम धर्म के एकत्व की भावना व्यक्त की गई है । अकबर की पुत्री सफीयत का हिन्दु धर्म पर विश्वास देख कर उसकी सहेली आयशा कहती है --` ..... शाहजहां आलमगीर औरंगजेब की पोती और शाहजादा अकबर सफीयत-उन-निसा- बानू इस्लाम और हिन्दु धर्म में कोई भेद नहीं मानती और उसके सामने दुनियां के दो बड़े मजहब अपना भेद भूल कर दो सितारों की तरह एक दूसरे को देख रहे हैं ।`[3]

संसार ईश्वरमय है

भारतीय दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि में ब्रह्म ही एक पुरुष है और उसका अर्धांश प्रकृति है, जिसके संयोग से सृष्टि उत्पन्न होती है ।

---

१ `मनु और मानव` (आदिम युग) : उदयशंकर भट्ट, पृ०१३४
२ `समुद्रगुप्त पराक्रमांक(विभूति) : डा० रामकुमार वर्मा,द्वितीय संस्करण, पृ०८२
३ `ध्रुवतारिका` : डा० रामकुमार वर्मा,संस्करण१९५०,पृ०६

इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म का ही अंश है,अत: समस्त संसार ईश्वरमय है। इस बात की पुष्टि वृन्दावनलाल वर्मा के एकांकी नाटक `कनेर` में की गई है। एक स्थान पर हेमनाथ कहते हैं --` ..... परमात्मा की शक्ति प्रत्येक कण में बसी हुई है। मनुष्य में भी है। वह उसको जब जान लेता है और उसका प्रयोग करता है तब उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं रहता[1]।`एक अन्य स्थल पर राबर्ट कहता है कि जो लोग कायर हैं और जीवन में कठिनाइयों का सामना नहीं कर पाते हैं वे ही सन्यास की ओर भागते हैं। तब हेमनाथ कहते हैं-- `फिर भी इस तरह का समाज, इन सब गुनाहों और बेवकूफियों की ठोकरें खाता हुआ संसार की दिव्यता की ओर बढ़ता है। उस आदर्श की जो परमात्मा की जानकारी है-- प्रत्येक अणु में उसका होना, प्रत्येक परमाणु[2] में उसकी चेतना और परमानन्द फिर भी सबसे अलग और आनन्द बेजोड़।`

विश्वमैत्री तथा समता की भावना

भारतीय संस्कृति की विशेषता उसकी विश्वमैत्री की भावना है,इसमें धार्मिक,सामाजिक, राजनैतिक तथा व्यक्तिगत सभी प्रकार की समता की भावना उपलब्ध होती है। हिन्दी एकांकी भी इस भावना से ओत-प्रोत है। उदाहरणार्थ जनार्दनराय के नाटक `आधीरात` में महाराणा कुंभा कहते हैं --`सच्ची[3] स्वाधीन वह जाति है जो दूसरों को अपने समान स्वाधीन होने देती है।`

`मनु और मानव` में भी इसी बात की पुष्टि की गई है। मनु कहते हैं --` मैं किसी के विरुद्ध नहीं हूं। प्रत्येक जाति को संसार में जीवित रहने का अधिकार मिलना चाहिए। दस्यु भी उतनी ही स्वतन्त्रता के अधिकारी हैं,जितने कि हम आर्य लोग[4]।`पराजित अनार्यों के सरदार वासुकी से मनु कहते हैं --`हम तुम्हारी रक्षा करेंगे, तुम्हें ज्ञान देंगे। तुम्हें पूर्ण

---

१ `कनेर` : वृन्दावनलाल वर्मा, द्वितीय संस्करण,पृ०३२

२ वही, पृ०३८

३ `आधीरात` : जनार्दनराय, प्रथम संस्करण,पृ०६४

४ `मनु और मानव` (आदिम युग) : उदयशंकर भट्ट,पृ०१३४

स्वतन्त्रता होगी कि दूसरों को कष्ट न पहुंचाते हुए सुख से रह सको । न हम तुम्हारे विचारों में बाधा देंगे और न किसी प्रकार का कष्ट ही तुमको होगा ।[१]'

अभेद की भावना

अभेद की भावना का मूल कारण सम्पूर्ण सृष्टि को ईश्वरमय मानने की प्रवृत्ति है । ऐसा विश्वास है कि दु:खों का कारण भेद बुद्धि है । पृथकत्व तो स्थूल दृष्टि से देखने में है, वस्तुत: ब्रह्म तो सबमें व्याप्त है । अभेद की भावना के वशीभूत होकर उदयशंकर भट्ट के एकांकी नाटक 'आदिम युग' में शतरूपा कहती है --' ...... परन्तु मैं तो जितना सोचती हूं, मुझे ज्ञात होता है जैसे मैं ही ईश्वर हूं, मैं ही ब्रह्म हूं, मैं ही जीवन हूं, मैं ही मोदा हूं ।[२]'

यह एकता की भावना सेठ गोविन्ददास जी के नाटकीय संवाद-विकास में भी देखने को मिलता है । आकाश और पृथ्वी संसार के विकास के विषय में परस्पर विचार-विमर्श कर रहे हैं । आकाश कहता है कि संसार का निरन्तर विकास हो रहा है । अपने मत की पुष्टि के लिए वह बुद्ध का चरित्र दिखाता है,जिसमें बुद्ध कह रहे हैं --' .... जिस प्रकार समस्त समुद्र में एक ही स्वाद है,उसी प्रकार समस्त सृष्टि में भी एकता ही विद्यमान है । पृथकत्व का निरूपण ही दु:ख उत्पन्न करता है । एकता के अनुभव के पश्चात् स्थूल दृष्टि से देखने वाले जरा,व्याधि,मरण,अप्रिय का संयोग और प्रिय का वियोग कहां रह जाता है ? कहां रह जाता है स्वार्थ ? निजता कहां रह जाती है और कहां उसकी पूर्ति की तृष्णा ।[3]' पृथ्वी का विचार है कि संसार का विकास नहीं हो रहा है । वह अपने मत की पुष्टि के लिए कहती है --'मनुष्य ने जो आज सहस्रों वर्ष पहले जान लिया था, अर्थात् सृष्टि की एकता, उससे अधिक न तो वह जान पाया और न सामूहिक रूप से इस ज्ञान का अनुभव कर इसके अनुसार वह अपने कर्म बना सका । तुम जानते हो कि यह ज्ञान सर्वप्रथम भारतवर्ष में वैदिककाल के ऋषि मुनियों को हुआ था । उन्होंने वेदान्त में 'अद्वैत' के नाम से इसका

---

१ 'मनु और मानव'(आदिमयुग) : उदयशंकर भट्ट,पृ०१५१

२ 'आदिमयुग' : उदयशंकर भट्ट,पृ०४४

३ 'विकास' : सेठ गोविन्ददास,प्रथम संस्करण,पृ०४०

प्रतिपादन किया था । इस ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य मनुष्य को ही बन्धु मानकर उसके हित में दत्तचित्त रहे, वैदिक ऋषियों का इतना ही कथन न था । उन्होंने तो इससे भी बढ़कर `वसुधैव कुटुम्बकम्` कह समस्त सृष्टि को अपना कुटुम्ब मानने और `सर्वभूत हितेरत:` कहकर समस्त योनियों के उपकार में दत्तचित्त रहने को कहा था । आचार में `अभेद` रखने का उन्होंने उपदेश दिया था । भगवान श्रीकृष्ण ने इस `अभेद` आचार धर्म का निष्काम होकर पालन करने की आज्ञा दे इसे और भी ऊंचा उठा दिया था[1] ।`

दया तथा परोपकार

दया तथा परोपकार के अनेक दृष्टान्त हिन्दी एकांकियों में उपलब्ध होते हैं । डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी `ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया` में दया को मानव जीवन का धर्म बताया गया है । विवाहोपरान्त अपनी पत्नी के साथ आते हुए नीरू,झाड़ी में पड़े हुए बालक को उठा लेता है । यह देखकर पत्नी नीमा कहती है कि इस बच्चे के विषय में लोग जाने क्या-क्या कहेंगे ? यह सुनकर नीरू कहता है--` मैं गांव वालों से सब बात बतला दी दूंगा । रास्ते में पड़ा पाया इस बच्चे को । इन्सान का धरम है, रहम करना । मैंने रहम किया, उठा लिया इसे[2] ।` इसी प्रकार विश्वम्भरसहाय `व्याकुल` के `बुद्धदेव` में बुद्ध दया का उपदेश देते हुए कहते हैं--` ..... संसार भर[3] पर दया करो । किसी तुच्छ से तुच्छ जीव को भी किसी रीति से मत सताओ[3] ।`

क्षमा

क्षमा का रूप रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक `चारुमित्रा` में देखने को मिलता है । कलिंगयुद्ध की विभीषिका से त्रस्त रानी तिष्यरक्षिता का मन बहलाने के लिए चारुमित्रा नृत्य करती है यह देखकर अशोक को यह सन्देह हो जाता है कि चारुमित्रा कलिंग बाला है, अत: वह नृत्य द्वारा रानी को प्रसन्न कर युद्ध समाप्त कराना चाहती है । इस कारण वह क्रोधित हो

१ `विकास` : सेठ गोविन्ददास,प्रथम संस्करण,पृ०११७
२ `ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया`(ऋतुराज) : रामकुमार वर्मा,पृ०११६
३ `बुद्धदेव` : विश्वम्भरसहाय`व्याकुल`, प्रथम संस्करण,पृ०१७३

उसे दण्डित करना चाहता है,परन्तु रानी के कहने से क्षमा कर देता है और कहता है --" अशोक ने किसी को भी अपराध करने पर क्षमा नहीं किया, किन्तु इस समय क्षमा करता हूं।"[1]

"क्षमा" का अत्यन्त सुन्दर रूप सेठ गोविन्ददास जी के नाटकीय संवाद "विकास" में दृष्टिगोचर होता है। ईसा को जिस समय सूली पर चढ़ाया जाता है उस समय मृत्यु की यंत्रणा से तड़पते हुए भी वे सूली पर चढ़ाने वालों को क्षमा कर देते हैं और भगवान से उनके लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं --"क्षमा। भगवन्। क्षमा। उन्हें क्षमा करना जिन्होंने मुझे सूली पर चढ़ाया है। अज्ञान के कारण वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं।"[2] पुनः दृश्य-परिवर्तन पर ईसाई धर्म के प्रवर्तक स्टीफिन का जीवन चरित दिखाई देता है, जिसमें उन्हें पत्थर मार मार कर मार डाला जाता है। मरते समय वह मारने वालों को क्षमा कर भगवान से प्रार्थना करते हैं --" हे ईश्वर। मैं इस शरीर की तनिक भी चिन्ता नहीं करता। मेरी आत्मा शीघ्र ही तेरे चरणों में आ रही है। मरते-मरते मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूं कि मेरी हत्या का दोष इन अज्ञानियों के मस्तक पर न लगे। भगवान् इन्हें क्षमा करना[3]।"

उदारता तथा त्याग

भारतीय संस्कृति के अनुसार वास्तविक सुख प्राप्त करने का साधन उदारतापूर्वक किया गया त्याग है। बाध्य होकर किये गये त्याग का अल्पांश भी दुःख का कारण होता है, परन्तु उदारतापूर्वक किया गया महान त्याग अपरिमित शान्ति तथा सुख का आगार होता है। "उत्सर्ग" एकांकी के नायक डा० शेखर त्याग की साक्षात मूर्ति हैं। वह अपने मित्र की विधवा पत्नी की रक्षा और उसकी पुत्री

---

1 "चारुमित्रा" : रामकुमार वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०३१

2 "विकास" : सेठ गोविन्ददास, प्रथम संस्करण, पृ०९७-९८

3 वही, पृ०९९

मंजुला के पालन हेतु अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग कर देते हैं । वह छाया देवी की आत्मा से, जिसे वह अपने बनाये हुए यंत्र द्वारा बुलाते हैं, बताते हैं कि-- ' मित्र की विधवा पत्नी और लड़की मंजुला के पोषण का भार मैंने अपने कंधे पर लिया । मैंने सोचा, तुमसे विवाह करने पर मैं अपने मित्र की विधवा पत्नी की सेवा नहीं कर सकूंगा ।[1]' वे पुन: कहते हैं --' मैंने तुमसे विवाह नहीं किया छाया, केवल एक पवित्र उद्देश्य के लिए । अपने जीवन की समस्त सेवाओं को एक पवित्र स्मृति में उत्सर्ग करने के लिए ।[2]'

ईश्वर पर विश्वास

भारतवर्ष धर्मप्रधान देश है । भारतीय धर्म में अनेक देवी-देवताओं तथा ईश्वर पर अपार श्रद्धा रखने और धर्मपूर्ण आचरण का निर्देश किया गया है । धर्म ने जन मानस को इस प्रकार आच्छादित कर लिया है कि उसके अतिरिक्त अन्य कल्पना भी असम्भव है । धर्म पर विश्वास रखने के कारण ही ईश्वर पर अटूट विश्वास जन जीवन में सर्वत्र परिलक्षित होता है । साहित्य जनमानस का दर्पण है, अत: हिन्दी एकांकी में भी ईश्वर विश्वास की प्रतिच्छाया उपलब्ध होती है ।

उदयशंकर भट्ट के एकांकी नाटक 'मनु और मानव' में ईश्वर पर अटूट विश्वास व्यक्त किया गया है । इस विश्वास के कारण ही श्रद्धा कहती है--' देवता ही तो हमारा बल है । देवताओं में विश्वास करो ।....[3] मैं कहती हूं ' विश्वास कर देवताओं में विश्वास कर ये ही तुझे बल देंगे ।' एक अन्य स्थान पर श्रद्धा पुन: कहती है--' मैं तो समझती हूं जो कुछ हो रहा है उसपर विश्वास करते चलो । उसे बनाते चलो । देवता सब कर देंगे[4] ।' इसी नाटक में एक स्थान पर व्यक्तिगत शत्रुता के कारण विश्वामित्र के गोत्र वाले वशिष्ठ के पुत्र शक्ति को मारते हैं । उसके स्वस्थ

---

१ 'उत्सर्ग' (चारुमित्रा) : रामकुमार वर्मा,प्रथम संस्करण,पृ०८६

२ वही,पृ०८७

३ 'मनु और मानव' (आदिम युग) : उदयशंकर भट्ट,पृ०८१

४ वही,पृ०८२

होकर घर आने पर उनकी माँ अरुन्धति कहती है --" यह ईश्वर की कृपा है कि शक्ति सकुशल लौट आये।"[1] एक अन्य स्थल पर श्रद्धा कहती है --" यज्ञ करो। यज्ञ से देवता प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करेंगे।"[2] अत्रि ऋषि भी कहते हैं --" देवता प्रसन्न होकर हमको बल देते हैं।"[3] आर्यों और दासों की युद्ध की भयंकरता देखकर मनु कहते हैं कि समाज को व्यवस्थित करने के लिए सबको वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्थित हो जाना चाहिए, परन्तु इसके लिए कोई तैयार नहीं है, क्योंकि सभी ब्राह्मण बने रहना चाहते हैं। यह देखकर अरुन्धति कहती है -- "देवता हमारी रक्षा करेंगे मनु। तुम चिन्ता क्यों करते हो।"[4]

"देवताओं की छाया में" में भी इसी बात की पुष्टि की गई है। मरजाना का विवाह रहीम से होने वाला है, जो शहर में बन रहे मकान में मजदूरी करता है। शहर में बन रहे मकान के गिर जाने की सूचना पाकर मरजाना कहती है कि कल से वह रहीम को काम पर नहीं जाने देगी। यह सुनकर बेगा कहती है --"अल्लाह सबका रखवाला है बेटी।"[5] जब यह ज्ञात होता है कि जिस मकान में रहीम काम कर रहा था वही मकान गिरा है तब मरजाना घबरा कर रोने लगती है, उस समय बेगा पुनः कहती है --"दिवानी न बन। अल्लाह सबका रखवाला है, चल बैठ मैं देखती हूँ।"[6] परन्तु मरजाना को धैर्य नहीं होता। उसकी सखी भरी कहती है--" हौसला करो। खुदा पर भरोसा रखो। अल्लाह सब ठीक ही करेगा।"[7] मरजाना के कहने पर कि उसे बुरे बुरे विचार आ रहे हैं, भरी पुनः कहती है--" अल्लाह रहम करेगा।"[8]

---

१ "मनु और मानव"(आदिम युग) : उदयशंकर भट्ट, पृ०१०३
२ वही, पृ०१०६
३ वही, पृ०१०७
४ वही, पृ०१०८
५ "देवताओं की छाया में" : उपेन्द्रनाथ अश्क, द्वितीय संस्करण, पृ०३४
६ वही, पृ०३६
७ वही, पृ०३८
८ वही, पृ०३८

एक अन्य एकांकी नाटक 'लक्ष्मी का स्वागत' में भी ईश्वर को सर्वशक्तिमान माना गया है। रौशन अपने पुत्र अरुण की चिन्ताजनक अवस्था देखकर दुःखी है। उस समय उसका मित्र सुरेन्द्र कहता है --"पागल न बनो, क्यों, उसके घर में क्या कमी है? वह चाहे तो मुर्दे में जान आ जाय, मरणासन्न उठ कर खड़े हो जायं[1]।"

इसी प्रकार रामकुमार वर्मा के एकांकी 'भरत का भाग्य' में रामवनगमन की अवधि समाप्त होने पर भी राम के आने का कोई समाचार न पाकर भरत अत्यन्त व्याकुल होकर माण्डवी से कहते हैं --" देवि। अभी तक महाप्रभु के आने की सूचना नहीं मिली।.... ओह देवि। वे तो इतने कृपालु हैं। पर दुःख को भी अपना दुःख मान लेते हैं। फिर अपने सेवक अपने दास पर तो उनकी कृपा असीम होती है[2]।" यह सुनकर माण्डवी कहती हैं--" आर्य, महाप्रभु की कृपा ही हमारे संतोष का बल है[3]।"

स्वामिभक्ति

रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक 'चारुमित्रा' में चारुमित्रा स्वामी के प्राणों की रक्षा के लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर देती है। कलिंग युद्ध में कुछ कलिंग सैनिक एक दिन छुप कर अशोक का वध करने वाले हैं, परन्तु चारुमित्रा को यह बात ज्ञात हो जाती है। वह अशोक के प्राणों की रक्षा के लिए उन सैनिकों से युद्ध करती हुई घायल हो जाती है। इस विषय में उपगुप्त बताते हैं कि --" उन सैनिकों ने चारुमित्रा को लालच दिया, कलिंग की विजय का स्वप्न दिखलाया, किंतु चारुमित्रा ने कहा--" मैं अपने स्वामी से विश्वासघात नहीं कर सकती। मैं देश को जितना आदर देती हूं, उतना ही स्वामिभक्ति को[4]।"

---

१ 'लक्ष्मी का स्वागत' (देवताओं की छाया में) : उपेन्द्रनाथ अश्क, द्वितीय संस्करण, पृ०८४

२ 'भरत का भाग्य' (ऋतुराज पूर्वार्द्ध) : रामकुमार वर्मा, पृ०८८

३ वही, पृ०८८

४ 'चारुमित्रा' : रामकुमार वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०५२

मातृ भक्ति

मातृ भक्ति का दृष्टान्त रामकुमार वर्मा के एकांकी 'भरत का भाग्य' में दृष्टिगत होता है। राम के वनवास के चौदह वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उनके आने की सूचना न पाकर भरत माण्डवी से कहते हैं --'देवि ! मैं सत्य कहता हूं कि उनकी वनयात्रा की अवधि बीत जाने पर भी यदि मैं जीवित रहूं तो संसार में मुझसे बढ़कर अधम कौन होगा[1]।' भरत राम की पादुका को सिंहासन पर रखकर राज्य करते हैं। उन्हें वह पादुका भी राम से कम प्रिय नहीं है। हनुमान जी बटु का रूप धारण कर राम के आने की सूचना देने आते हैं और उन्हें महाराज कह कर प्रणाम करते हैं। यह सुनकर भरत कहते हैं --'मुझे महाराज न कहो, बटु। इन पादुकाओं को महाराज कहो। मेरे प्रभु राम की पादुकाएं। यही साकेत की शासिका हैं। मैं तो इनका सेवक मात्र हूं। तुम यहां की कार्य शैली से अपरिचित ज्ञात होते हो[2]।'

कर्तव्य परायणता

भारतीय संस्कृति में कर्तव्य परायणता को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया गया है। इसकी महत्ता तप से भी अधिक है। उदयशंकर भट्ट के एकांकी 'आदिमयुग' में मनु शान्ति की खोज में गृहत्याग कर तप करने चले आते हैं, परन्तु उन्हें वहां शान्ति नहीं मिलती। कर्दम उनकी इस अशान्ति का कारण बताते हुए कहते हैं --'तुमने कर्तव्य का पालन नहीं किया, इसीलिए तुम अशान्त हो, भ्रान्त हो। तुमने शतरूपा को त्याग कर तप के द्वारा शान्ति प्राप्त करनी चाही, इसीलिए तुम्हें तप करने पर भी शान्ति नहीं मिल रही है। कर्तव्य संसार में बड़ा है, तप से भी, शक्ति से भी[3]।'

---

१ 'भरत का भाग्य' (ऋतुराज पूर्वार्द्ध) : रामकुमार वर्मा, पृ०८०

२ वही, पृ०८२

३ 'आदिमयुग' : उदयशंकर भट्ट, पृ०४८

आपके भावनाट्य `मेघदूत` में भी कुबेर यक्ष से कहते हैं--

`जीवन में कर्तव्य प्रथम है
तू कर्तव्य भ्रष्ट है कामी ।`[1]

पतिव्रत धर्म

इस भारत भूमि पर सीता, सावित्री जैसी पतिव्रता नारियों ने अपने गुणों द्वारा समस्त हिन्दू नारी का मुख उज्ज्वल किया है । इन नारी चरित्रों का नाटक में वर्णन कर नारी के गौरव की महिमा का प्रतिपादन किया गया है । इनके द्वारा प्रतिपादित पतिव्रत धर्म के अनेक उदाहरण हिन्दी एकांकियों में प्राप्त होते हैं । `अशोकवन` में रावण अनेक प्रयत्नों द्वारा सीता पर विजय प्राप्त करना चाहता है, परन्तु असफल रहता है । तब वह रानी चित्रांगदा को सीता का शृंगार करने के लिए भेजता है । उसे देखकर सीता पूछती हैं कि क्या वह भी रावण के अनाचार में सहयोग दे रही है ? यह सुनकर चित्रांगदा कहती है कि--`छाती पर पत्थर रखकर रही हूं । पति की कामना में योग देना नारी का सबसे बड़ा धर्म है ।`[2] सीता उससे पूछती है कि यह तो उसका अपना धर्म है जिसका वह निर्वाह कर रही है, परन्तु उनका(सीता का) धर्म क्या है यह भी बता दे । इसका उत्तर देते हुए चित्रांगदा कहती है कि यदि वह उनके धर्म की बात कहेगी तो वह उसके पति की कामना के विरुद्ध होगा । यह सुनकर सीता कहती हैं--` बस बस मां कह दिया तुमने मेरा धर्म । जाने दो जो स्थान आर्यपुत्र से भरा है उसका सपना भी विजयी रावण न देख सकेंगे ।`[3] सीता मां का अनुरोध मानकर चित्रांगदा से शृंगार करा लेती हैं । रावण के आने पर चित्रांगदा कहती है कि उसने बेटी सीता का

---

१ `मेघदूत`(कालिदास) : उदयशंकर भट्ट,पृ०४५

२ `अशोकवन` : लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रथम संस्करण,पृ०१४

३ वही, पृ०१५

शृंगार कर लिया । यह सुनकर रावण क्रोधित होकर कहता है कि वह विश्वासघातिनी है, क्योंकि जिससे वह प्रणय निवेदन कर रहा है, वह उसे बेटी कह कर सम्बोधित कर रही है। तब सीता कहती हैं--"कभी नहीं । वासना से पति को बचा लेना भी पतिव्रत है। अपना शरीर, हृदय, मन की सारी कामनाओं को जिसमें सौंप दिया, विश्वासघात वह क्या जानेगी लंकापति[1]।" रावण के कहने पर कि उसमें राम से अधिक बल और गुण है, सीता कहती है --" होगा भी तो नहीं दिखाई देगा । पति के रूप से बढ़कर कोई भी दूसरा रूपनारी की आंखों में आता ही नहीं[2]।"

इसी प्रकार "अन्धकार" में प्रजापति, विद्याधर की जीवात्मा को स्त्री बनाकर पृथ्वी पर भेजते हैं और कहते हैं कि वह चाहते हैं कि वह पतिव्रता स्त्री बने । जीवात्मा के पूछने पर कि पतिव्रता स्त्री बनने के लिए क्या करना होगा ? प्रजापति कहते हैं --" प्रवाह में मिले हुए पति की छाया में समा जाना होगा । उसके कांटों को गूंथ कर कहो कि कमल की माला है। उसके चरणों का नाम हो तुम्हारा मस्तक ।उसकी अंधी आंख तुम्हारी दृष्टि हो लंगड़ा पैर तुम्हारी गति हो । उसके बधिर कान तुम्हारी श्रवण शक्ति हो । उसकी दीनता तुम्हारी सम्पत्ति हो और वत्स, उसकी विरह-रात्रि में मिलन का प्रभात मनाकिता हो[3]।"

इसी प्रकार "भरत का भाग्य" में पतिव्रता मांडवी पति के साथ ही मृत्यु का वरण करने को तत्पर है। भरत कहते हैं कि यदि वनवास की अवधि समाप्त होने पर भी राम न आये तो वह जीवित नहीं रहेंगे । यह सुनकर उनकी पत्नी माण्डवी कहती है --"मेरे प्राण भी आपके साथ चलेंगे प्रभु[4]।"

---

१ "वशीकरण" : लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ०२७

२ वही, पृ०२६

३ "अंधकार" (चारुमित्रा) : रामकुमार वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०१७४

४ "भरत का भाग्य" (ऋतुराज पूर्वार्द्ध) : रामकुमार वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ०६१

'राजरानी सीता' में अत्याचारी रावण भी सीता के पतिव्रत से प्रभावित है। वह मन्दोदरी से कहता है कि वह सीता को प्रणाम करे। उसके प्रणाम करने पर सीता कहती हैं कि 'प्रभु राम अनाथों पर कृपा करें'। सीता की यह पतिनिष्ठा देखकर रावण मन्दोदरी से कहता है कि --" यह निष्ठा देखी ? महादेवी मन्दोदरी ! एक तपस्वी के प्रति यह निष्ठा ! संसार में किसी नारी के पास ऐसी निष्ठा नहीं। मैं इस निष्ठा से प्रभावित हूं महारानी सीता[1]।"

एक अन्य स्थल पर जब रावण सीता को चन्द्रहास का भय दिखाता है तब सीता कहती है--" चन्द्रहास ! श्याम कमलों के समान प्रभु की भुजा ! मेरे कण्ठ की यही शोभा है। या तो प्रभु की भुजा हो या यह चन्द्रहास हो। चन्द्रहास ! चन्द्र का शीतल हास ! प्रभु के विरह में उठी हुई ज्वाला को तू क्यों नहीं शान्त कर देता[2]।"

आदर्श तथा नीति

भारतीय नीति के अनुसार न्याय का पक्ष लेना और वचन की सत्यता के लिए सर्वस्व समर्पण करना भी धर्म माना गया है। प्रसाद जी के गीतिनाट्य 'करुणालय' में राजा हरिश्चन्द्र अपनी प्रतिज्ञापूर्ति के लिए अपने पुत्र की बलि देने के लिए तत्पर हो जाते हैं। वे कहते हैं --

"मैं जन्मदाता हूं फिर भी अब नहीं
देर करूंगा, बलि देने में पुत्र को।
जो कर चुका प्रतिज्ञा उसको भूल के
क्रोधित होने का अवसर दूंगा नहीं[3]।"

---

१ 'राजरानी सीता'(सप्त किरण) : रामकुमार वर्मा, प्रथम संस्करण,पृ०७
२ वही, पृ०१२
३ 'करुणालय' : जयशंकर प्रसाद,द्वितीय संस्करण,पृ०५

भारतीय आदर्श के अनुसार सगोत्र तथा सपिंड विवाह वर्जित है । 'प्रथम विवाह' में इस बात का उल्लेख करते हुए विश्वपंचजन्य कहते हैं --'वरुण पंचजन्य कहते हैं कि एक परिवार की कन्या उसी परिवार में नहीं रहनी चाहिए । वे तो एक गोत्र की कन्या का उस गोत्र के ही युवक से विवाह करने के पक्षपाती भी नहीं हैं।[१]'

'मनु और मानव' में बताया गया है कि सदैव न्याय का समर्थन करना चाहिए । विश्वामित्र के यजमान सुदास ने विश्वामित्र के स्थान पर वशिष्ठ मुनि के पुत्र शक्ति को पुरोहित के स्थान पर अपने घर आमंत्रित किया । शक्ति की माँ अरुंधति का विचार है कि दूसरे के यजमान के घर जाना न्यायसंगत नहीं है । अत: जब विश्वामित्र के आदमी शक्ति को मारते हैं और वह घायल हो जाता है तब अरुंधति कहती है--' जो भी हो मैंने उस कार्य का उस समय भी विरोध किया था और अब भी करती हूं । जो बात सत्य है अन्याय है उसका विरोध करना ही चाहिए[२]।' जो मनुष्य शक्ति के घायल होने की सूचना लेकर आता है वह अरुंधति से पूछता है कि क्या उसे शक्ति के घायल होने का दु:ख नहीं है ? तब अरुंधति कहती है --'मनुष्य को सदा न्याय का पक्ष पालन करना चाहिए[३]।' उस व्यक्ति के कहने पर कि वह विश्वामित्र के गोत्र वालों से इसका प्रतिशोध लेगा, अरुंधति पुन: कहती है --' आर्यों का गौरव इसी में है कि न्याय का पालन करें[४]।'

इसी नाटक के एक अन्य स्थल पर बताया गया है कि भारतीय आदर्श के अनुसार निरपराध पत्नी का त्याग अनुचित है । शाश्वती अरुंधति से बताती है कि अपाला को चर्म रोग हो गया है,अत: वह

---

१ 'प्रथम विवाह' (आदिम युग) : उदयशंकर भट्ट, पृ०९६
२ 'मनु और मानव' (आदिम युग) : उदयशंकर भट्ट, पृ०९७
३ वही, पृ०९७
४ वही, पृ०९७

अपने पिता के घर रहने लगी है। अरुंधति के पूछने पर कि क्या उसके पति ने उसका त्याग कर दिया है, शाश्वती कहती है --" नहीं, तुम तो जानती हो निरपराध स्त्री का त्याग आर्यों का नियम नहीं है।.... मनु ने कहा था तुम दोनों पृथक रहो। कहीं ऐसा न हो कि यह रोग फैल कर संतति को दु:ख दे[1]।"

वर्ण व्यवस्था

भारतीय संस्कृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की रचना गुण व कर्म के अनुसार हुई है। अत: प्रत्येक को अपने धर्म का पालन करना चाहिए वर्ण व्यवस्था का वर्णन उदयशंकर भट्ट के नाटक "मनु और मानव" में भी उपलब्ध होता है। मनु सम्पूर्ण समाज को व्यवस्थित करने के लिए चार वर्णों-- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त करते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं--"ब्राह्मण यज्ञ करायेंगे, वैदिक पद्धति के का प्रचार करेंगे। क्षत्रिय देश की रक्षा करेंगे। ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित यज्ञ का प्रचार करेंगे[2]।" विश्वामित्र के पूछने पर कि और वैश्य क्या करेंगे, मनु कहते हैं -- " वे व्यवसाय की उन्नति करेंगे। गायों की रक्षा, गृह-निर्माण, क्षेत्र-वृद्धि करेंगे[3]।" एक अन्य स्थान पर इन चारों वर्णों की आवश्यकता बताते हुए मनु विश्वामित्र से कहते हैं --"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों राज्य के सूत्रधार हैं। ऋषिवर! ब्राह्मण मस्तक से, क्षत्रिय बाहुबल से, वैश्य धन से तथा शूद्र सेवा द्वारा यदि राज्य की सहायता करें तभी राज्य रूपी शरीर स्थिर रह सकेगा[4]।" इस विषय में वे पुन: कहते हैं --" ब्राह्मण का सम्मान करो, क्षत्रियों में बल वृद्धि करो, वैश्यों को सुविधाएं दो। शूद्रों को अपना अंग मानो[5]।" शाश्वती पूछती है कि

---

१ "मनु और मानव"(आदिम युग) : उदयशंकर भट्ट, पृ०९६

२ वही, पृ०१०५-१०६

३ वही, पृ०१५८

४ वही, पृ०१६०

ब्राह्मण कौन है ? क्षत्रिय कौन है, वैश्य कौन है और शूद्र कौन है ? इसका उत्तर देते हुए वे पुन: कहते हैं कि ब्राह्मण वह है --' जो वेदपाठी हो। धर्मात्मा हो, यज्ञ करे करावे। सबका शुभ चिन्तन करता हुआ मोक्षप्राप्ति करे[1]।' क्षत्रिय वह है --' जो दु:खी दोनों की रक्षा करे। यज्ञ का प्रचार करे। दान दे। पृथ्वी पर सुख का विस्तार करे[2]।' वैश्य वह है --' जो धर्म से देश को, राज्य को और अपने को समृद्ध करे[3]।' और शूद्र वह है --"जो सेवा करे। सबको सेवा द्वारा देश को उन्नत करे[4]।'

इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि पहले वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार होती थी, परन्तु कालान्तर में यह जातिगत हो गई।

निष्कर्ष

आधुनिक युग में एकांकियों का विशेष प्रचलन हुआ। अल्प समय में अधिक मनोरंजन प्रदान करने के कारण नाटक की यह विधा अधिक लोकप्रिय हुई। नाटक के समान हिन्दी एकांकियों ने भी तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभाव से प्रभावित हो, स्वसंस्कृति के प्रति आसक्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। इस युग के एकांकीकारों ने सामाजिक सुधार के लिए तत्कालीन रूढ़ियों, कुप्रथाओं तथा नैतिक पतन आदि को एकांकी का विषय बनाया और इनका कुपरिणाम दिखाकर इनसे उद्धार की प्रेरणा प्रदान की। भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा तथा प्रेमभाव उत्पन्न करने के लिए प्राचीन भारतीय गौरव का सहारा लिया गया। इस कार्य के सम्पादन हेतु पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनैतिक एकांकियों का प्रणयन हुआ। इन सभी एकांकियों का उद्देश्य भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन तथा समाज की उन्नति था।

यद्यपि आधुनिक एकांकी का कलेवर पूर्णतः पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है तथापि इसकी अन्तरात्मा पूर्णत: भारतीय है। पौराणिक एकांकियों में डा० रामकुमार वर्मा का 'भरत का भाग्य', उदयशंकर भट्ट का

१ 'मनु और मानव' (आदिम युग) : उदयशंकर भट्ट, पृ०१६०
२ वही, पृ०१६०
३ वही, पृ०१६०
४ वही, पृ०१६०

`कुमारसम्भव`, `आदिमयुग`, `मनु और मानव`, `प्रथम विवाह`, लक्ष्मीनारायण मिश्र का `अशोक वन` ऐतिहासिक एकांकियों में डा० रामकुमार वर्मा का `ध्रुवतारिका`, `समुद्रगुप्त पराक्रमांक`, `पृथ्वीराज की आँखें`, `चारुमित्रा`, लक्ष्मीनारायण मिश्र का `कौशाम्बी` तथा भानुप्रताप सिंह सेंगर का `शकारि विक्रमादित्य` और सामाजिक एकांकियों में उपेन्द्रनाथ अश्क का `देवताओं की छाया में`, `लक्ष्मी का स्वागत`, उदयशंकर भट्ट का `समस्या का अन्त`, `गिरती-दीवारें`, डा० रामकुमार वर्मा का `उत्सर्ग`, `रेशमी टाई`, `रूप की बीमारी` तथा `गणेश प्रसाद द्विवेदी का `सर्वस्व समर्पण` आदि प्रमुख हैं।

इसके अतिरिक्त गीतिनाट्य, भावनाट्य, नाटकीय संवाद तथा मोनोड्रामा आदि की भी रचना हुई। जिनमें जयशंकर प्रसाद का गीति-नाट्य `करुणालय`, उदयशंकर भट्ट का भावनाट्य `राधा`, `विश्वामित्र`, सेठ गोविन्ददास का नाटकीय संवाद `विकास` और मोनोड्रामा `चतुष्पथ` विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकार आधुनिक युग में नाटकों की अपेक्षा एकांकी का प्रचलन अधिक हुआ तथा इन एकांकियों ने भारतीय संस्कृति की स्थापना तथा प्रगति में विशेष सहयोग प्रदान किया।

-0-

परिशिष्ट--१

नाट्य-कृतियों की सूची

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(१) अछूत	आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव	प्रथम संस्करण, विश्व ग्रन्थावली, इलाहाबाद ।
(२) अजातशत्रु	जयशंकर प्रसाद	दशम संस्करण, भारती भण्डार, इलाहाबाद ।
(३) अजितसिंह	आचार्य चतुरसेन शास्त्री	तृतीय संस्करण, गौतम बुक डिपो, दिल्ली
(४) अंत:पुर का छिद्र	गोविन्दवल्लभ पन्त	प्रथम संस्करण, गंगापुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ ।
(५) अपराधी	पृथ्वीनाथ शर्मा	१६३६ई०, हिन्दी भवन, लाहौर
(६) अम्बपाली	रामवृक्ष बेनीपुरी	प्रथम संस्करण, पुस्तक भंडार, पटना
(७) अम्बा	उदयशंकर भट्ट	प्रथम संस्करण, संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर
(८) अमरसिंह राठौर	आचार्य चतुरसेन शास्त्री	प्रथम संस्करण, साहित्य मंडल, दिल्ली
(९) अलग अलग रास्ते	उपेन्द्रनाथ अश्क	प्रथम संस्करण, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद ।
(१०) अशोक	सेठ गोविन्ददास	भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली
(११) अशोक	लक्ष्मीनारायण मिश्र	संवत्१९८४, हिन्दी पुस्तक भंडार, बिहार
(१२) अशोक	चन्द्रगुप्त विद्यालंकार	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
(१३) अशोक वन	लक्ष्मीनारायण मिश्र	प्रथम संस्करण, चेतना प्रकाशन लिमिटेड, हैदराबाद ।
(१४) अज्ञातवास	द्वारकाप्रसाद गुप्त	प्रथम संस्करण, रसिकेन्द्रनाटक माला, कालपी ।
(१५) आदिमयुग	उदयशंकर भट्ट	आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली ।
(१६) आदि मार्ग	उपेन्द्रनाथ अश्क	प्रथम संस्करण, साहित्यकार संसद्प्रयाग
(१७) आधीरात	जनार्दनराय	सरस्वती प्रेस, बनारस ।
(१८) आधीरात	लक्ष्मीनारायण मिश्र	--
(१९) आवारा	पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र	प्रथम संस्करण सत्साहित्यिक सेवक समाज, भारती भवन, उज्जैन ।

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(२०)आहुति	हरिकृष्ण प्रेमी	१९४०ई०,हिन्दी भवन,अनारकली,लाहौर
(२१)इन्द्रधनुष	डा० रामकुमार वर्मा	द्वितीय संस्करण,राजकिशोर प्रकाशन, इलाहाबाद ।
(२२)इंसान और अन्य एकांकी	विष्णु प्रभाकर	१९४७ई०, थापर एंड कंपनी,बम्बई
(२३)ईशान वर्मन नाटक	मिश्रबन्धु	प्रथम संस्करण,रामनारायणलाल, इलाहाबाद ।
(२४)उद्धार	हरिकृष्णप्रेमी	द्वितीय संस्करण,आत्माराम एंड संस, दिल्ली ।
(२५)उलटफेर	जी०पी० श्रीवास्तव	--
(२६)ऊषा अनिरुद्ध	राधेश्याम कथावाचक	तृतीय संस्करण,राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली ।
(२७)ऊषांगिनी	ब्रजनन्दनसहाय	प्रथम संस्करण,खड्गविलास प्रेस
(२८)एक घूंट	जयशंकर प्रसाद	प्रथम संस्करण,पुस्तक मन्दिर ,काशी
(२९)एकादशी	सेठ गोविन्ददास	द्वितीय संस्करण,साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग ।
(३०)एकांकिका	श्री चन्द्रकिशोर जैन	प्रथम संस्करण,जीवन कला मंदिर, सहारनपुर ।
(३१)औरंगज़ेब (?)	डा०रामकुमार वर्मा	सेण्ट्रल बुक डिपो
(३२)अंगूर की बेटी	गोविन्द वल्लभ पन्त	तृतीय संस्करण,गंगा पुस्तकमालाकार्यालय लखनऊ ।
(३३)अंजनासुन्दरी	पं० उमाशंकर मेहता	संवत्१९८६,शिवशंकर मेहता एंड ब्रदर्स, काशी ।
(३४)अंजो दीदी	उपेन्द्रनाथ अश्क	नीलाभ प्रकाशन,इलाहाबाद
(३५)अंधा कुआं	लक्ष्मीनारायणलाल	प्रथम संस्करण,भारती भंडार,लीडरप्रेस, प्रयाग ।
(३६)कन्या विक्रय	जमनादास मेहरा	प्रथम संस्करण,रिखबदास बाहिती
(३७) कनेर	वृन्दावनलाल वर्मा	द्वितीय संस्करण,मयूर प्रकाशन,झांसी

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(३८) कबीर	~~रामसेप्रसाद द्विवेदी~~	~~द्वितीय संस्करण~~
(३९) करुणालय	जयशंकर प्रसाद	द्वितीय संस्करण, भारतीयभण्डार, बनारस
(४०) कर्ण	सेठ गोविन्ददास	प्रथम संस्करण, विद्यामंदिर प्रकाशन, ग्वालियर ।
(४१) कर्तव्य	सेठ गोविन्ददास	द्वितीय संस्करण, महाकौशल साहित्य-मन्दिर, जबलपुर ।
(४२) कर्बला	प्रेमचन्द	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
(४३) कर्मवीर नाटक	पं० रेवतीनन्दन भूषण	प्रथम संस्करण, श्री व्यास साहित्य - मंदिर, कलकत्ता ।
(४४) कश्मीर का कांटा	वृन्दावनलाल वर्मा	तृतीय सं०, मयूर प्रकाशन, झांसी
(४५) कामना	जयशंकर प्रसाद	भारती भण्डार, लीडरप्रेस, प्रयाग
(४६) कालिदास	उदयशंकर भट्ट	राजकमल पब्लिकेशन लि०, दिल्ली
(४७) कुलीनता	सेठ गोविन्ददास	प्रथम सं०, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकरकार्यालय बम्बई ।
(४८) केवट	वृन्दावनलाल वर्मा	द्वितीय सं०, मयूर प्रकाशन, झांसी
(४९) कैद और उड़ान	उपेन्द्रनाथ अश्क	प्रथम सं०, नीलाम प्रकाशनगृह, इलाहाबाद
(५०) कौमुदी महोत्सव	डा० रामकुमार वर्मा	प्रथम सं०, साहित्य भवन लि०, प्रयाग
(५१) कौंसिल की मेम्बरी	पं० राधेश्याम मिश्र	प्रथम सं०, रामप्रसाद एंड ब्रदर्स
(५२) खा जहां	रूपनारायण पाण्डे	तृतीय सं०, गंगापुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ ।
(५३) खिलौने की खोज	वृन्दावनलाल वर्मा	द्वितीय सं०, मयूर प्रकाशन, झांसी
(५४) गरीबी या अमीरी	सेठ गोविन्ददास	प्रथम सं०, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबा
(५५) गरुड़ध्वज	लक्ष्मीनारायण मिश्र	१९६४ई०, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।
(५६) गुलामी का नशा	डा० लक्ष्मण सिंह	प्रथम सं०, प्रतापप्रेस, कानपुर ।
(५७) गोरखधंधा	नारायणप्रसाद 'बेताब'	प्रथम सं०, बेताब पुस्तकालय, दिल्ली ।

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(५८) गोविंददास ग्रंथावली	सेठ गोविन्ददास	भारतीय विश्व प्रकाशन, दिल्ली
(५९) गोस्वामी तुलसीदास नाटक	बदरीनाथ भट्ट	प्रथम सं०, रामभूषण पुस्तकालय, आगरा
(६०) गौतमबुद्ध	बाबू आनंदप्रसाद कपूर	प्रथम सं०, उपन्यास बहार आफिस काशी।
(६१) गंगावतरण	श्रीकृष्ण हसरत	प्रथम सं०, उपन्यास बहार आफिस, काशी।
(६२) चतुष्पथ	गोविन्ददास	प्रथम सं०, साहित्यरत्न भंडार, आगरा
(६३) चन्द्रगुप्त	जयशंकर प्रसाद	अठारहवां सं०, भारतीय भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(६४) चन्द्रहास	मैथिलीशरण गुप्त	द्वितीय सं०, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी।
(६५) छरवाहे	उपेन्द्रनाथ अश्क	भारतीय भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(६६) चारुमित्रा	डा० रामकुमार वर्मा	प्रथम सं०, साधना सदन, इलाहाबाद
(६७) चुंगी की उम्मीदवारी या मेम्बरी की धूम।	बदरीनाथ भट्ट	तृतीय सं०, रामभूषण पुस्तक भंडार, आगरा।
(६८) चुम्बन	बेचनशर्मा उग्र	प्रथम संस्करण।
(६९) छः एकांकी	--	प्रथम सं०, सरस्वती प्रेस, बनारस
(७०) छटा बेटा	उपेन्द्रनाथ अश्क	द्वितीय सं०, नीलाभ प्रकाशनगृह, इलाहाबाद।
(७१) छलना	भगवतीप्रसाद बाजपेयी	तृतीय सं०, राजकमल पब्लिकेशन, दिल्ली
(७२) छत्रपति शिवाजी	रूपनारायण पांडे	--
(७३) छाया	हरिकृष्ण प्रेमी	द्वितीय सं०, आत्माराम एंड संस, दिल्ली
(७४) ज्योत्सना	सुमित्रानन्दन पंत	प्रथम सं०, गंगापुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ।
(७५) जनकनन्दिनी	तुलसीदत्त शैदा	प्रथम सं०, श्री व्यास साहित्य मन्दिर
(७६) जनमेजय का नाग यज्ञ	जयशंकर प्रसाद	आठवां सं०, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
(७७) जयन्त	रामनरेश त्रिपाठी	प्रथम सं०, हिन्दी मंदिर, प्रयाग

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(७८) जय पराजय	उपेन्द्रनाथ अश्क	चतुर्थ सं०, नीलाभप्रकाशनगृह, इलाहाबाद
(७९) जहाँदारशाह	वृन्दावनलाल वर्मा	द्वितीय सं०, स्वाधीन प्रेस, झाँसी
(८०) जीवन संगिनी	जयनारायण राय	सन् १९४१ई०, हिन्दी नागरी प्रचारिणी सभा।
(८१) झाँसी की रानी	वृन्दावनलाल वर्मा	द्वितीय सं०, मयूर प्रकाशन, झाँसी
(८२) डिक्टेटर	बेचनशर्मा 'उग्र'	प्रथम संस्करण
(८३) त्याग या ग्रहण	गोविन्ददास	१९४३ई०, रामसहाय रामदयाल अग्रवाल, इलाहाबाद।
(८४) तथागत	रामवृक्ष बेनीपुरी	प्रथम सं०, पुस्तक जगत, पटना
(८५) तार के खम्भे	सत्येन्द्र शरत	प्रथम सं०, सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद
(८६) ताजमहल के आँसू	लक्ष्मीनारायणलाल	प्रथम सं०, अमरप्रकाशन मंदिर, प्रयाग
(८७) तिलोत्तमा	मैथिलीशरण गुप्त	तृतीय सं०, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी।
(८८) तीन नाटक	राहुलसांकृत्यायन	द्वितीय सं०, किताबमहल, इलाहाबाद
(८९) तुलसीदास नाटक	जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी	प्रथम सं०, गंगापुस्तक कार्यालय, लखनऊ
(९०) तूफान से पहले	उपेन्द्रनाथ अश्क	प्रथम सं० कुसुम नैयर
(९१) दमयन्ती स्वयंवर	बालकृष्ण भट्ट	प्रथम सं०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(९२) दलजीत सिंह	कृष्णलाल वर्मा	प्रथम सं०, प्रेममाला कार्यालय, रोहतक
(९३) दशाश्वमेध	लक्ष्मीनारायण मिश्र	प्रथम सं०, हिन्दी भवन, इलाहाबाद
(९४) दाहर अथवा सिंध पतन	उदयशंकर भट्ट	द्वितीय सं०, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर।
(९५) दिल की प्यास	आगा हश्र कश्मीरी	प्रथम सं०, के०पी० शर्मा विज्ञान मंदिर, कलकत्ता।
(९६) देवताओं की छाया में	उपेन्द्रनाथ अश्क	द्वितीय सं०, नीलाभ प्रकाशनगृह, इलाहाबाद।
(९७) देवदर्शन	शिवकुमार ओझा सुकुमार	प्रथम सं०, विद्यामंदिर लिमिटेड, नईदिल्ली
(९८) देश दशा	कन्हैयालाल	प्रथम सं०, उपन्यास बहार आफिस, बनारस।
(९९) देश दशा नाटक	गोपाल राम गुप्त गहमर	प्रथम संस्करण।

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(१००) देशोद्धार	दुर्गाप्रसाद गुप्त	उपन्यास बहार आफिस बनारस
(१०१) दो एकांकी नाटक	सद्गुरुशरण अवस्थी	प्रथम सं०, भारतीय भंडार, इलाहाबाद
(१०२) द्रौपदी स्वयंवर	राधेश्याम कथावाचक	तृतीय सं०, राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली
(१०३) धर्मविजय	कुंजीलाल जैन	प्रथम सं०, उपन्यास बहार आफिस, काशी।
(१०४) धीरे-धीरे	वृन्दावनलाल वर्मा	द्वितीय सं०, गंगापुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ।
(१०५) धूम शिखा	उदयशंकर भट्ट	प्रथम सं०, गौतम बुक डिपो, दिल्ली
(१०६) ध्रुवतारिका	डा० रामकुमार वर्मा	सन १६५०, राजकमल पब्लिकेशंस लिमिटेड, दिल्ली।
(१०७) ध्रुवस्वामिनी	जयशंकर प्रसाद	बारहवाँ सं०, भारती भंडार, लीडरप्रेस, इलाहाबाद।
(१०८) ध्रुवस्वामिनी देवी	कन्हैयालाल मुंशी	प्रथम सं०, किताब महल, इलाहाबाद
(१०९) नये एकांकी		मोतीलाल बनारसी दास, बनारस
(११०) नलदमयन्ती	दुर्गाप्रसाद गुप्त	तृतीय सं०, उपन्यास बहार आफिस, बनारस।
(१११) नाक में दम और जवानी बनाम बुढ़ापा।	जी०पी० श्रीवास्तव	द्वितीय सं०, हिन्दी पुस्तक एजेंसी कलकत्ता।
(११२) नारद की वीणा	लक्ष्मीनारायण मिश्र	प्रथम सं० भगनकृष्ण दीक्षित, इलाहाबाद
(११३) नीलकंठ	वृन्दावनलाल वर्मा	द्वितीय सं०, मयूर प्रकाशन, झाँसी
(११४) नेत्रदान	रामवृक्ष बेनीपुरी	जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता
(११५) नेत्रोन्मीलन	श्यामविहारी मिश्र एवं शुकदेव मिश्र	प्रथम सं०, साहित्य संवर्धिनी समिति
(११६) पक्का गाना	उपेन्द्रनाथ अश्क	प्रथम सं०, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
(११७) पत्नी प्रताप	किशनचन्द्र जैन	प्रथम संस्करण
(११८) पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ	उपेन्द्रनाथ अश्क	नीलाभ प्रकाशन गृह, इलाहाबाद
(११९) परमभक्त प्रह्लाद	राधेश्याम कथावाचक	चतुर्थ सं०, राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली
(१२०) परिवर्तन	राधेश्याम कथावाचक	सन् १६२६, राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(१२१) पाकिस्तान	गोविन्ददास	प्रथम सं०, किताब महल, इलाहाबाद
(१२२) पाप परिणाम	जमुनादास मेहरा	तृतीय सं०, आर०डी० बाजिली एंड कंपनी कलकत्ता।
(१२३) पांडव प्रताप नाटक	हरिदास माणिक	प्रथम सं०, माणिक कार्यालय, काशी
(१२४) पीले हाथ	वृन्दावनलाल वर्मा	प्रथम सं०, मयूर प्रकाशन, झांसी
(१२५) पुण्य पर्व	सियाराम शरण गुप्त	प्रथम सं०, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी।
(१२६) पैंतरे	उपेन्द्रनाथ अश्क	नीलाभ प्रकाशन गृह, इलाहाबाद
(१२७) प्रकाश	सेठ गोविन्ददास	द्वितीय सं०, महाकौशल साहित्य मंदिर, जबलपुर।
(१२८) प्रताप प्रतिज्ञा	जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'	प्रथम सं०, हिन्दी भवन अनारकली, लाहौर।
(१२९) प्रबुद्ध यामुन	श्री वियोगी हरि	प्रथम सं०, गंगापुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।
(१३०) प्रभास मिलन नाटक	बलदेवप्रसाद मिश्र	सन् १९०३ श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस
(१३१) प्रेम की वेदी	प्रेमचन्द	चतुर्थ सं०, सरस्वती प्रेस, बनारस
(१३२) प्रेम या पाप	सेठ गोविन्ददास	सन् १९४६, रायसाहब रामदयाल अगरवाला
(१३३) पृथ्वीराज की आँखें	डा० रामकुमार वर्मा	गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ
(१३४) पंजाब केसरी	जमनादास मेहरा	प्रथम सं०, नारायणदत्त सहगल एंड संस लाहौर।
(१३५) पूर्व की ओर	वृन्दावनलाल वर्मा	अष्टम सं०, मयूर प्रकाशन, झांसी
(१३६) पूर्व भारत	रायबहादुर श्यामविहारी मिश्र और शुकदेवविहारी मिश्र।	चतुर्थ सं०, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।
(१३७) प्रायश्चित्त	जयशंकर प्रसाद	--
(१३८) फूलों की बोली	वृन्दावनलाल वर्मा	द्वितीय सं०, मयूर प्रकाशन, झांसी
(१३९) बड़ा पापी कौन	सेठ गोविन्ददास	प्रथम सं०, राजकमल प्रकाशन लि०

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(१४०) बड़े मियां म्यां	इन्द्र बसावड़ा	--
(१४१) बारह एकांकी	विष्णु प्रभाकर	प्रथम सं०, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
(१४२) बांस की फांस	वृन्दावनलाल वर्मा	प्रथम संस्करण, मयूर प्रकाशन, झांसी
(१४३) बीरबल	वृन्दावनलाल वर्मा	तृतीय सं०, मयूर प्रकाशन, झांसी
(१४४) बुझता दीपक	भगवतीचरण वर्मा	प्रथम सं०, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग
(१४५) बुद्धदेव	विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल'	प्रथम सं०, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग
(१४६) बन्धन	हरिकृष्ण प्रेमी	तृतीय सं०, हरिकृष्ण प्रेमी, १० हस्पताल रोड लाहौर ।
(१४७) भक्त प्रह्लाद	दुर्गाप्रसाद शुक्ल गुप्त	द्वितीय सं०, उपन्यास बहार आफिस, बनारस ।
(१४८) भक्त चन्द्रहास	बाबू जमनादास मेहरा	तृतीय सं०, नारायण बाबू लेन, कलकत्ता
(१४९) भारत पुत्र	जमनादास मेहरा	प्रथम सं०, सरदार कृपाल सिंह, बनबीरसिंह
(१५०) भारत रमणी	दुर्गाप्रसाद गुप्त	द्वितीय सं०, नारायणप्रसाद बाबूलेन कलकत्ता ।
(१५१) भारत दर्पण या कौमी तलवार ।	लाला कृष्णचन्द्र 'जेबा'	प्रथम सं०, लाजपतराय पृथ्वीराज साहनी, लाहौर ।
(१५२) भारतवर्ष	हरिहरशरण मिश्र	प्रथम सं०, सूर्यकमल ग्रंथमाला कार्यालय, लखनऊ ।
(१५३) भारतवर्ष	दुर्गाप्रसाद गुप्त	प्रथम सं०, उपन्यास बहार आफिस, काशी ।
(१५४) भीष्म	विश्वम्भरनाथ कौशिक	प्रथम सं० प्रताप कार्यालय, कानपुर
(१५५) भीष्म प्रतिज्ञा	विश्व	प्रथम सं०, उपन्यास बहार आफिस बनारस ।
(१५६) महत्व किसे	सेठ गोविन्ददास	प्रथम सं०, साहित्य भवन लि० प्रयाग
(१५७) महात्मा ईसा	पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र	प्रथम सं०, मनमोहन पुस्तकालय, काशी
(१५८) महात्मा कबीर	बाबू श्रीकृष्ण 'हसरत'	प्रथम सं० उपन्यास बहार आफिस, काशी
(१५९) महात्मा राम	स्वामी भक्त	प्रथम सं०, सत्याश्रम वर्धा
(१६०) महात्मा विदुर	नन्दकिशोर लाल वर्मा	प्रथम सं०, ओंकार पुस्तकालय, दरभंगा
(१६१) महाराणा प्रताप सिंह	राधाकृष्णदास	इण्डियन प्रेस, लि० प्रयाग ।

नाट्यकृति	नाटककार	विवरण
(१६२) महारानी पद्मावती	राधाकृष्णदास	द्वितीय संस्करण
(१६३) मशरिकी हूर	राधेश्याम कथावाचक	तृतीय सं०,श्री राधेश्याम पुस्तकालय बरेली ।
(१६४) मायावी	ज्ञानदत्त सिद्ध	प्रथम सं०,हिन्दी प्रचारक कार्यालय
(१६५) मित्र	हरिकृष्ण प्रेमी	द्वितीय सं०,वाणी मंदिर,दिल्ली
(१६६) मीराबाई	बलदेवप्रसाद मिश्र	संवत् १६६८,खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई ।
(१६७) मुक्ति का रहस्य	लक्ष्मीनारायण मिश्र	साहित्य भवन लि०प्रयाग ।
(१६८) मुक्तिदूत	उदयशंकर भट्ट	द्वितीय सं०,आत्माराम एंड संस, दिल्ली ।
(१६६) मुक्तियज्ञ	प्रो० सत्येन्द्र,एम०ए०	प्रथम सं०,साहित्य रत्न भंडार,आगरा
(१७०) मूर्ख मण्डली	रूपनारायण पाण्डेय	चतुर्थ सं०,गंगापुस्तकमाला,कार्यालय, लखनऊ ।
(१७१) मंगलसूत्र	वृन्दावनलाल वर्मा	तृतीय सं०,मयूर प्रकाशन,झांसी
(१७२) युग छाया	सम्पा०शिवनाथ सिंह चौहान	राजकमल पब्लिकेशंस लि०बम्बई
(१७३) रण बांकुरा चौहान	मनसुखलाल सजोतिया	प्रथम सं०,बड़ा सराफा,इन्दौर
(१७४) रणधीर और प्रेममोहिनी ।	लाला श्रीनिवासदास	हिन्दी पुस्तक एजेंसी
(१७५) रक्षा बन्धन	हरिकृष्ण प्रेमी	प्रथम सं०,हिन्दी भवन लाहौर
(१७६) राज्यश्री	जयशंकर प्रसाद	सातवां सं०,भारती भण्डार,लीडरप्रेस, इलाहाबाद ।
(१७७) राजयोग	लक्ष्मीनारायण मिश्र	प्रथम सं०,भारती भंडार,बनारस
(१७८) राजमुकुट	पं०गोविन्दवल्लभ पंत	प्रथम सं०,गंगापुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ ।
(१७९) राजा शिवि	बलदेवप्रसाद खरे	प्रथम सं०,आर०डी०बाजिली एण्ड कम्पनी,कलकत्ता ।
(१८०) राजसिंह	आचार्य चतुरसेन शास्त्री	द्वितीय सं०,गौतम बुक डिपो,दिल्ली
(१८१) राजा विक्रीय नाटक	गोपाल दामोदर तामस्कर	प्रथम सं०,इण्डियनप्रेस,लि०
(१८२) राखी की लाज	वृन्दावनलाल वर्मा	ग्यारहवां सं०,मयूर प्रकाशन,झांसी

नाट्यकृति	नाटककार	विवरण
(१८३) राजस्थान का भीष्म	देवीलाल सामर	प्रथम सं०, एन०एम०भटनागर एंड ब्रदर्स, उदयपुर
(१८४) रानी सुन्दरी	पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा	प्रथम सं०, अनन्तकुमार जैन
(१८५) राक्षस का मंदिर	लक्ष्मीनारायण मिश्र	प्रथम सं०, साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद प्रयाग
(१८६) रिमझिम	डा० रामकुमार वर्मा	किताब महल, इलाहाबाद
(१८७) रुक्मिणी कृष्ण	राधेश्याम कथावाचक	तृतीय सं०, राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली
(१८८) रुक्मिणी मंगल	राधेश्याम कथावाचक	प्रथम सं०, राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली
(१८९) रेवा	चन्द्रगुप्त विद्यालंकार	द्वितीय सं०, राजपाल एंड संस, दिल्ली
(१९०) रेशमी टाई	डा० रामकुमार वर्मा	चतुर्थ सं०, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग ।
(१९१) रंगीन पर्दा	हीरा देवी चतुर्वेदी	इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद प्रयाग
(१९२) लता	बाबूरामचन्द्र सक्सैना	प्रथम सं०, बी० रामदयाल सिंह
(१९३) लाल बुझक्कड़	जी०पी० श्रीवास्तव	प्रथम सं०, चांदकार्यालय, चन्द्रलोक, इलाहाबाद ।
(१९४) लौट आई पंछी लौ	वृन्दावनलाल वर्मा	तृतीय सं०, मयूर प्रकाशन, झांसी
(१९५) वकील साहब	डा० नारायण मिश्र जोशी	प्रथम सं०, थापर एंड कंपनी, बम्बई
(१९६) वत्सराज	पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र	तृतीय सं०, हिन्दी भवन, इलाहाबाद
(१९७) वफाती चाचा	रामनरेश त्रिपाठी	प्रथम सं०, हिन्दी मंदिर, प्रयाग
(१९८) वरमाला	गोविन्द वल्लभ पंत	अष्टम सं०, गंगापुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ ।
(१९९) विकास	सेठ गोविन्ददास	प्रथम सं०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।
(२००) विक्रमार्क	--	प्रथम सं०, विद्यामंदिर प्रकाशन, ग्वालियर
(२०१) विक्रमादित्य	उदयशंकर भट्ट	प्रथम सं०, हिन्दी भवन, अनारकली, लाहौर ।
(२०२) विजयी प्रताप	बलदेवप्रसाद शास्त्री	--
(२०३) विवाह विज्ञान	बदरीनाथ भट्ट	प्रथम सं०, गंगापुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ
(२०४) विभूति	डा० रामकुमार वर्मा	द्वितीय सं०, विद्यामंदिरप्रकाशन, ग्वालियर
(२०५) विश्वामित्र	जमनादास मेहरा	प्रथम सं०, आर०डी०बाहिती एंड कंपनी कलकत्ता ।

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(२०६) विश्वामित्र	दुर्गाप्रसाद गुप्त	प्रथम सं०, उपन्यास बहार आफिस काशी
(२०७) विश्वामित्र और दो भाव नाट्य।	उदयशंकर भट्ट	प्रतिभा प्रकाशन
(२०८) विशाख	जयशंकर प्रसाद	द्वितीय सं०, भारती भंडार, बनारस
(२०९) विषपान	हरिकृष्ण प्रेमी	चतुर्थ सं०, आत्माराम एंड संस, दिल्ली
(२१०) वीर अभिमन्यु	राधेश्याम कथावाचक	११वां सं०, राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली
(२११) वेन चरित्र	पं० बदरीनाथ भट्ट	प्रथम सं० रामप्रसाद एंड ब्रदर्स, आगरा
(२१२) वेणु संहार नाटक	पं० बालकृष्ण भट्ट	प्रथम सं०, पं० धनञ्जयभट्ट, 'सरल'
(२१३) श्री कृष्णावतार	राधेश्याम कथावाचक	प्रथम सं०, राधेश्याम कथावाचक
(२१४) श्री गंगावतरण	श्री कृष्ण 'हसरत'	प्रथम सं०, उपन्यासबहार आफिस, बनारस।
(२१५) श्री छद्मयोगिनी नाटिका	श्री वियोगीहरि	प्रथम सं०, साहित्य भवन, प्रयाग
(२१६) श्रवणकुमार	राधेश्याम कथावाचक	अष्टम सं०, कीर्तन कला निधि
(२१७) श्रीमती मंजरी	दुर्गाप्रसाद गुप्त	तृतीय सं०, उपन्यास दर्पण, बनारस
(२१८) शंकर कन्या	कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी	प्रथम सं०, साहित्य भवन लि०प्रयाग
(२१९) शशि गुप्त	गोविन्ददास	प्रथम सं०, रामनारायणलाल, इलाहाबाद
(२२०) शहीद सन्यासी	किशनचन्द 'जेबा'	प्रथम सं०, लाजपतराय एण्ड संस, लाहौर
(२२१) शिवा जी	डा० रामकुमार वर्मा	साहित्य भवन लि०प्रयाग
(२२२) शिवा जी	मिश्रबंधु	प्रथम सं०, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ
(२२३) शिक्षादान	बालकृष्ण भट्ट	द्वितीय सं०, एल०के०भट्ट, अहियापुर
(२२४) शंकर दिग्विजय	बलदेवप्रसादमिश्र	--
(२२५) सटदहीन	गोविन्ददास	प्रगति प्रकाशन
(२२६) स्कन्दगुप्त	जयशंकर प्रसाद	नवां सं०, भारती भंडार, लीडरप्रेस इलाहाबाद।
(२२७) स्वप्नभंग	हरिकृष्ण प्रेमी	द्वितीय सं०, आत्माराम एंड संस, दिल्ली
(२२८) स्नेह बन्धन	श्री व्यथित हृदय	ग्रन्थमाला कार्यालय, बांकीपुर, पटना

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(२२९)स्वर्ग की झलक	उपेन्द्रनाथ अश्क	प्रथम सं०, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर
(२३०)सगर विजय	उदयशंकर भट्ट	मसिजीवी प्रकाशन, दिल्ली
(२३१)सगुन	वृन्दावनलाल वर्मा	द्वितीय सं०, मयूर प्रकाशन, झाँसी
(२३२)सत्यनारायण	बलदेवप्रसाद खरे	प्रथम सं०, निहालचन्द्र वर्मा, कलकत्ता
(२३३)सत्य का सैनिक	श्री नारायण प्रसाद 'बिन्दु'	प्रथम सं०, श्री अरविन्द सर्किल, बम्बई
(२३४)सत्याग्रही प्रह्लाद	बाबू बलदेवप्रसाद खरे	द्वितीय सं०, निहालचन्द्र एण्ड कंपनी, कलकत्ता।
(२३५)सती चिन्ता	जमुनादास मेहरा	द्वितीय सं०, रिखबदास वाहिती, कलकत्ता
(२३६)सती पार्वती	राधेश्याम कथावाचक	प्रथम सं०, राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली
(२३७)स्त्री का हृदय	पं०उदयशंकर भट्ट	चतुर्थ सं०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(२३८)सप्त किरण	डा० रामकुमार वर्मा	प्रथम सं०, नैशनल इन्फारमैशन एंड पब्लिकेशंस लिमिटेड
(२३९)सप्त रश्मि	सेठ गोविन्ददास	प्रथम सं०, किताबिस्तान
(२४०)सम्राट परीक्षित	बलदेवप्रसाद खरे	प्रथम सं०, निहालचन्द एण्ड कंपनी, कलकत्ता
(२४१)समस्या का अन्त	उदयशंकर भट्ट	प्रथम सं०, राजकमलपब्लिकेशन्स लिमिटेड, दिल्ली।
(२४२)सम्राट अशोक	चन्द्रराज भण्डारी	प्रथम सं०, गांधी हिन्दी मन्दिर, अजमेर
(२४३)समाज सेवक	बलदेवप्रसाद मिश्र	प्रथम सं०, साहित्य समिति, रायगढ़
(२४४)सावित्री सत्यवान	श्रीकृष्ण 'हसरत'	द्वितीय सं०, उपन्यासबहार आफिस, काशी
(२४५)सिकन्दर	सुदर्शन	प्रथम सं०, हिन्द किताब लिमिटेड, बम्बई
(२४६)सिद्धार्थ कुमार	चन्द्रराज भण्डारी	प्रथम सं०, गांधी हिन्दी मंदिर, अजमेर
(२४७) सिन्दूर की होली	श्री लक्ष्मीनारायणलाल	प्रथम सं०, भारती भंडार, रामघाट, बनारस
(२४८)सीताराम	आचार्य चतुरसेन शास्त्री	द्वितीय सं०, मेहरचन्द लक्ष्मणदास संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता, लाहौर।
(२४९)सुहागबिन्दी	गोविन्दवल्लभ पन्त	तृतीय सं०, गंगापुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ
(२५०)सुदामा	किशोरीदास बाजपेयी	सं० १९९५, पटना पब्लिशर्स, पटना।

नाट्य कृति	नाटककार	विवरण
(२५१) सुभद्राहरण नाटक	गोविन्दशास्त्री दुगवेकर	संवत् १९१०
(२५२) सेवापथ	सेठ गोविन्ददास	सन् १९४३, हिन्दी भवन, लाहौर
(२५३) सौहागबिन्दी	गणेशप्रसाद द्विवेदी	सन् १९३५, इंडियनप्रेस लिमिटेड, प्रयाग
(२५४) संग्राम	प्रेमचन्द	प्रथम सं०, सरस्वती प्रेस, बनारस
(२५५) संतोष कहाँ ?	गोविन्ददास	प्रथम सं०, कल्याण साहित्य मंदिर प्रयाग।
(२५६) सन्यासी	लक्ष्मीनारायण मिश्र	--
(२५७) संयोगिता	मायादत्त नैथानी	प्रथम सं०, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई।
(२५८) संयोगिताहरण	हरिदास माणिक	प्रथम सं०, माणिक कार्यालय
(२५९) हर्ष	सेठ गोविन्ददास	सन् १९५०, प्रोग्रेसिव पब्लिशर, नयी दिल्ली
(२६०) हिन्दू कन्या	जमनादास मेहरा	प्रथम सं०, बैजनाथ केडिया
(२६१) हंस मयूर	वृन्दावनलाल वर्मा	तृतीय सं०, सत्यदेव वर्मा
(२६२) हिंसा या अहिंसा	सेठ गोविन्ददास	सन् १९४२, राय साहब रामदयाल अग्रवाल

परिशिष्ट --२

आलोचनात्मक पुस्तकों की सूची

पुस्तक	लेखक	विवरण
(१)अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्व	डा० रामचन्द्र मिश्र	प्रथम सं०,पंचनद पब्लिकेशंस,इलाहाबाद
(२)अभिनव नाट्यशास्त्र	पं० सीताराम चतुर्वेदी	प्रथम सं०,अखिलभारतीय विक्रम परिषद् काशी ।
(३)अशोक के फूल	हजारीप्रसाद द्विवेदी	प्रथम सं०,सस्ता साहित्य मण्डल,नयी दिल्ली ।
(४)आधुनिक हिन्दी नाटक	डा० नगेन्द्र	चतुर्थ सं०,साहित्य रत्न भंडार,आगरा
(५)आधुनिक हिन्दी नाटक	डा० गिरीश रस्तोगी	प्रथम,रामबाग,कानपुर ।
(६)आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच ।	डा० लक्ष्मीनारायणलाल	प्रथम सं०,साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड ।
(७)आधुनिक हिन्दी नाटकों पर आंग्ल नाटकों का प्रभाव ।	डा० उपेन्द्रनारायण सिंह	प्रथम सं०,हिन्दी साहित्य संसार,दिल्ली
(८)आधुनिक हिन्दी साहित्य	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	तृतीय सं०,हिन्दी परिषद्,वि०वि०
(९) आर्य संस्कृति	आचार्य बलदेव उपाध्याय	द्वितीय सं०,शारदा मंदिर,बनारस
(१०)उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति ।	डा० विजयबहादुर राव	प्रथम सं०,भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी ।
(११)एकांकी	डा० नगेन्द्र	एस०चन्द्र एण्ड कंपनी
(१२)एकांकी एकावली	प्रो० रामचन्द्र शर्मा	हिन्दी भवन,इलाहाबाद
(१३)एकांकी कला	रामकुमार वर्मा और त्रिलोकीनारायण दीक्षित ।	प्रथम सं०,रामनारायणलाल,इलाहाबाद
(१४)कर्मयोग	स्वामी विवेकानन्द	तृतीय संस्करण ।
(१५)कांग्रेस का इतिहास	पट्टाभिसीतारमैय्या	प्रथम सं०,सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन नई दिल्ली
(१६)कांग्रेस का सरल इतिहास	डा० राजबहादुर सिंह	--

पुस्तक	लेखक	विवरण
(१७) कवि कालिदास के ग्रंथों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति।	डा० गायत्री वर्मा	प्रथम सं०, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।
(१८) काव्य कला और अन्य निबन्ध।	जयशंकर 'प्रसाद'	प्रथम सं०, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(१९) गुप्त कालीन भारतीय संस्कृति।	पं० मोहनलाल महतो वियोगी।	प्रथम सं०, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना।
(२०) नये एकांकी	अज्ञेय	प्रथम सं०, राजपाल एंड संस, दिल्ली
(२१) नाट्य कला मीमांसा	सेठ गोविन्ददास	सूचना तथा प्रकाशन संचालय, मध्यप्रदेश
(२२) नाट्य समीक्षा	डा० दशरथ ओझा	प्रथम सं०, नैशनल पब्लिशिंगहाउस, दिल्ली
(२३) नाटक और नाटक	सद्गुरुशरण अवस्थी	१९५०, इंडियनप्रेस लिमिटेड, प्रयाग
(२४) नाटक की परख	सुरेशप्रसाद खत्री	तृतीय सं०, साहित्य भवन, इलाहाबाद
(२५) २५ श्रेष्ठ एकांकी	उपेन्द्रनाथ अश्क	प्रथम सं०, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
(२६) पारसी हिन्दी रंगमंच	डा० लक्ष्मीनारायणलाल	प्रथम सं० राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
(२७) पौराणिक धर्म एवं समाज।	सिद्धेश्वरीनारायणराय	प्रथम सं०, पंचनद पब्लिकेशंस, इलाहाबाद
(२८) प्रसाद के नाटकों में नियतिवाद।	पद्माकर शर्मा	प्रथम सं०, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद
(२९) प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन।	डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा	सरस्वती मंदिर, वाराणसी
(३०) प्रतिनिधि एकांकी	उपेन्द्रनाथ अश्क	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
(३१) प्रतिनिधि एकांकीकार	डा० रामचरण महेन्द्र	प्रथम सं०, साहित्य सदन, देहरादून
(३२) प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास।	राधाकृष्ण चौधरी	प्रथम सं०, भारती भवन, पटना।
(३३) बौद्ध संस्कृति	राहुल सांकृत्यायन	आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता।
(३४) भारत सन् ५७ के बाद	पं० शंकरलाल तिवारी 'बेढब'	

पुस्तक	लेखक	विवरण
(३५)भारत का बृहत् इतिहास	अनु०यौगेन्द्र मिश्र	तृतीय भाग(आधुनिक भारत), १९६१, मैकमिलन एण्ड कम्पनी लि०, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लन्दन।
(३६)भारत का सांस्कृतिक इतिहास।	हरिदत्त वेदालंकार	तृतीयावृत्ति
(३७)भारत की संस्कृति एवं कला।	राधाकमल मुकर्जी	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
(३८)भारत की प्राचीन संस्कृति।	डा० रामजी उपाध्याय	प्रथम सं०, किताब महल, इलाहाबाद
(३९)भारत में अंग्रेजी राज्य के दो सौ वर्ष।	केशव कुमार ठाकुर	प्रथम सं०, १९५२, आदर्श पुस्तकालय, ४१९ अहियापुर, इलाहाबाद।
(४०)भारत और भारतीय नाट्य कला।	सुरेन्द्रनाथ दीक्षित	प्रथम सं०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
(४१)भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच।	पं० सीताराम चतुर्वेदी	प्रथम सं०, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ।
(४२)भारतीय धर्म एवं संस्कृति	बुद्ध प्रकाश	द्वितीय सं०, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ
(४३)भारतीय नाट्य साहित्य (सेठ गोविन्ददास अभिनंदन ग्रंथ)।	डा० नगेन्द्र	एस०चन्द एण्ड कंपनी, दिल्ली
(४४)भारतीय नाट्य परंपरा और अभिनय दर्पण।	वाचस्पति गैरोला	प्रथम सं०, संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद
(४५)भारतीय विचारधारा	हरिहरनाथ त्रिपाठी	प्रथम सं०, नन्दकिशोर एंड संस, वाराणसी
(४६)भारतीय संस्कृति	डा०लल्लन जी गोपाल जी तथा डा०व्रजनाथ सिंह उपाध्याय।	द्वितीय सं०, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।
(४७)भारतीय संस्कृति	डा० बलदेवप्रसाद मिश्र	द्वितीय सं०, रामनारायणलाल, इलाहाबाद
(४८)भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता।	म०म० डा० प्रसन्नकुमार आचार्य	द्वितीय सं०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
(४९)भारतीय संस्कृति का उत्थान।	डा० रामजी उपाध्याय	द्वितीय सं०, रामनारायणलाल, इलाहाबाद।

पुस्तक	लेखक	विवरण
(५०) भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिकधारा)	मंगलदेव शास्त्री	प्रथम सं०, समाज विज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ, बनारस ।
(५१) भारतीय संस्कृति की रूपरेखा ।	गुलाबराय	प्रथम सं०, साहित्य प्रकाशन मंदिर, ग्वालियर ।
(५२) भारतीय संस्कृति के मूल तत्व ।	डा० सत्यनारायण पाठे और डा० आर०बी०जोशी	प्रथम सं०, साहित्य निकेतन, कानपुर
(५३) भारतीय संस्कृति के आधार ।	श्री अरविन्द	प्रथम सं०, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडेचेरी ।
(५४) भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ।	डा० सत्यकेतु विद्यालंकार	प्रथम सं०, सरस्वती सदन, मसूरी
(५५) भारतीय कृष्टि का क ह	जयचन्द विद्यालंकार	१९५५, हिन्दी भवन, इलाहाबाद
(५६) भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं ।	परशुराम चतुर्वेदी	प्रथम सं०, साहित्य भवन, इलाहाबाद
(५७) भारतेन्दु नाटकावली	श्यामसुंदरदास	प्रथम सं०, इंडियनप्रेस, प्रयाग ।
(५८) भारतेन्दु नाटकावली	ब्रजरत्नदास	प्रथम सं०, रामनारायणलाल, इलाहाबाद
(५९) भारतेन्दु का नाट्य साहित्य ।	डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल	प्रथम सं०, रामनारायणलाल, इलाहाबाद
(६०) मध्यकालीन भारतीय-संस्कृति ।	रायबहादुर महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	तृतीय सं०, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ०प्र०, इलाहाबाद ।
(६१) मध्यकालीन हिंदी काव्यों में भारतीय संस्कृति ।	मदनगोपाल गुप्त	प्रथम सं०, नेशनल पब्लिशिंगहाउस, दिल्ली
(६२) मध्यकालीन हिन्दी-नाट्य परम्परा और भारतेन्दु ।	कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह	ग्रंथ कुटीर, कानपुर ।
(६३) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय-संस्कृति के आख्याता	डा० उमाकान्त	द्वितीय सं०, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली ।

पुस्तक	लेखक	विवरण
(६४) राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास ।	मन्मथनाथ गुप्त	प्रथम सं०, १९४८, शिवलाल अग्रवाल, एंड कम्पनी लिमिटेड, आगरा ।
(६५) रूपक रहस्य	डा० श्यामसुंदरदास	सं०२००६वि० इंडियनप्रेस
(६६) रेडियो नाटक	हरिश्चन्द्र खन्ना	१९५५, कश्मीरी गेट, दिल्ली
(६७) रेडियो नाट्य शिल्प	सिद्धनाथ कुमार	प्रथम सं० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
(६८) रंगमंच	बलवन्त गार्गी अनु०- अतुल भारद्वाज	प्रथम सं०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
(६९) रंगमंच	शैलडन चीनी अनु०- श्रीकृष्णदास ।	प्रथम सं०, मायाप्रेस, इलाहाबाद ।
(७०) रंगमंच और नाटक की भूमिका	लक्ष्मीनारायणलाल	प्रथम सं०, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
(७१) विनय पिटक	अनु० राहुल सांकृत्यायन	प्रथम सं०, महाबोधिसभा, सारनाथ, बनारस ।
(७२) विचार और वितर्क	हजारीप्रसाद द्विवेदी	प्रथम सं०, सुनाथ मंदिर प्रकाशन, जबलपुर
(७३) वेदों में भारतीय संस्कृति ।	पं०आधाधव ठाकुर	प्रथम सं०, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ ।
(७४) वैदिक धर्म एवं दर्शन	ए०बी० कीथ अनु०- सूर्यकान्त ।	श्री सुन्दरलाल जैन, दिल्ली ।
(७५) श्रेष्ठ हिन्दी एकांकी	स०डा०मोहन अवस्थी	प्रथम सं०, प्रगति प्रेस, इलाहाबाद
(७६) संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर	प्रथम सं०, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
(७७) संस्कृत नाटक	शान्तिकिशोर भरतिया	प्रथम सं०, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश
(७८) संस्कृत का इतिहास	कन्हैयालाल पोद्दार	प्रथम सं०, श्रीरामविलास पोद्दार स्मारक ग्रन्थ माला ।
(७९) सांस्कृतिक भारत	भगवतशरण उपाध्याय	प्रथम सं०, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
(८०) हमारी नाट्य परंपरा	श्रीकृष्णदास	प्रथम सं०, साहित्यकार संसद, प्रयाग ।

पुस्तक	लेखक	विवरण
(८१)हमारी नाट्य साधना	राजेन्द्र सिंह गौड	प्रथम सं०,श्रीराम मेहरा एंड कंपनी, माईथान,आगरा ।
(८२)हिन्दी नाटक	डा० बच्चनसिंह	द्वितीय सं०,साहित्य भवन
(८३)हिन्दी नाट्य साहित्य	ब्रजरत्नदास	चतुर्थ सं०,हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस ।
(८४)हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा ।	कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह	१९६४ई०,भारती ग्रंथ भण्डार
(८५)हिन्दी गद्य के युग निर्माता	डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा	द्वितीय सं०,सरस्वती मंदिर,काशी
(८६)हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास ।	डा० सोमनाथ गुप्त	चतुर्थ सं०,हिन्दी भवन,इलाहाबाद, जालंधर ।
(८७)हिन्दी नाटककार	जयनाथ नलिन	द्वितीय सं०,आत्माराम एंड संस, दिल्ली ।
(८८)हिन्दी पौराणिक नाटक ।	डा० देवर्षि सनाढ्य	प्रथम सं०,चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।
(८९)हिन्दी नाटक की रूपरेखा ।	प्रो०दशरथ ओझा और प्रो०गुलाबप्रसाद कपूर ।	हिन्दी साहित्य संसार,दिल्ली ।
(९०)हिन्दी नाटकों की शिल्प विधि ।	डा० श्रीमती गिरजा सिंह	प्रथम सं०,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।
(९१)हिन्दी नाटक उद्भव और विकास ।	डा० दशरथ ओझा	संशोधित संस्करण,प्रथम सं०,राजपाल एण्ड संस,दिल्ली ।
(९२)हिन्दी एकांकी	प्रो० सत्येन्द्र	प्रथम सं०,साहित्य रत्न भण्डार, आगरा ।
(९३)हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास ।	डा० रामचरण महेन्द्र	प्रथम सं०,प्रदीप साहित्य
(९४)हिन्दी एकांकी तत्व : विकास ।	रामचरण महेन्द्र	१९६६ई०,सरस्वती प्रकाशन मंदिर, आगरा ।
(९५)हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास ।	डा० सिद्धनाथ कुमार	१९६६ई०,ग्रंथम,रामबाग,कानपुर ।

पुस्तक	लेखक	विवरण
(९६) हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव	विश्वनाथ मिश्र	प्रथम सं०, १९६०, महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद।
(९७) हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव।	श्रीपति शर्मा	प्रथम सं०, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
(९८) हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन।	डा० शान्तिगोपाल पुरोहित।	प्रथम सं०, साहित्य सदन, देहरादून
(९९) हिन्दी साहित्य का इतिहास।	पं० रामचन्द्र शुक्ल	अष्टम सं०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
(१००) हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण मिश्र	डा० बच्चन त्रिपाठी	प्रथम सं०, १८२बी०, बड़ी पियरी, वाराणसी
(१०१) हिन्दी नाट्य विमर्श	बाबू गुलाबराय	--
(१०२) हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास।	राजबली पाण्डेय	प्रथम सं०, नागरी प्रचारिणी, सभा, काशी
(१०३) हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षोडश भाग।	महापंडित राहुल सांकृत्यायन।	प्रथम सं०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

परिशिष्ट --३

संस्कृत ग्रन्थों की सूची

पुस्तक	लेखक	विवरण
(१) अर्थशास्त्र	कौटिल्य	प्रथम सं०,चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी ।
(२) अग्निपुराण	सम्पा० वेदमूर्ति तपोनिष्ठ	प्रथम खंड,संस्कृत संस्थान,बरेली, प्रथम सं०
(३) अभिनय दर्पण	नन्दिकेश्वर	द्वितीय संस्करण
(४) एकोपनिषद्		प्रथम भाग,विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी ।
(५) ऋग्वेद कठोपनिषद्		प्रथम सं०,गायत्री प्रकाशन,मथुरा
(६) कामसूत्र	वात्स्यायन	प्रथम भाग
(७) नाट्य शास्त्र	भरतमुनि	प्रथम भाग,१९७१ई०,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,संस्कृति समिति ।
(८) पद्मपुराण(सृष्टिखंड)		महादेव चिमन जी आप्टे
(९) पाणिनि अष्टाध्यायी [illegible] भाषा वृत्ति	पाणिनी	तारा पब्लिकेशन,काशी
(१०) बाल्मीकि रामायण		
(११) भागवत पुराण		प्रथम खण्ड,गीताप्रेस,गोरखपुर
(१२) महाभारत(विराटपर्व,वनपर्व)		
(१३) मनुस्मृति		द्वितीय संस्करण
(१४) मालविकाग्नि मित्र	कालिदास	नवम संस्करण
(१५) यजुर्वेद संहिता		द्वितीय खण्ड,प्रथम सं०,वैदिक संस्थान, लखनऊ ।
(१६) रघुवंश	कालिदास	सूचना तथा प्रकाशन मध्यप्रदेश द्वारा प्रकाशित ।
(१७) बृहदारण्यक उपनिषद्		तृतीय सं०,नवलकिशोर प्रेस,लखनऊ

पुस्तक	लेखक	विवरण
(१८) विष्णु पुराण		सृष्टि खण्ड, प्रथम सं०, संस्कृति संस्थान
(१९) श्रीमद्भगवद्गीता		द्वितीय सं०, पांडुरंग जावाजी
(२०) श्रीमद्भागवत माहात्म्य		
(२१) श्रौत कोष		(द्वितीय ग्रंथ), प्रथम सं०, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।
(२२) हरिवंश पुराण		द्वितीय खण्ड, प्रथम सं०, संस्कृति संस्था[illegible] बरेली।

परिशिष्ट--४

अंग्रेजी पुस्तकें

BOOKS	WRITER	REMARKS
1- A History of Sanskrit Liter-ature	A Macdonell.	Published by Sunder Lal Jain, Banarsidas Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi-6.
2- ancient Indian Culture and Civilization	K.C.Chakraverti	First Edition 1952, 41 Great Russel Street London W.C.I.
3- British Drama	Allardyce Nicoll	Edition Fourth George G.Harrap & Co. Ltd.
4- Culture and History	Philip Bagby	Longmans Green & Co. London New York, Toronto. First Published 1958.
5- Indian's Past	A.A.MacDonell	Oxford of the Clarendon Press, 1927.
6- The Sanskrit Drama is its origin, Development theory and practic.	A.Berriedale Keith D.C.L.D.Litt.	Oxford University Press.
7- Vedic culture	Swami Mahadevananda Giri.	Printed and published by Nishitchandra Sen Superintendent (Offgeee) Calcutta University Press, 48, Hazra Road, Bally Gunge, Calcutta.